संस्कृत प्रचार पुस्तक माला सं० ५६

संस्कृत सूक्ति रत्नाकर

[संस्कृतसाहित्य के विभिन्न ग्रन्थों से संकलित
गद्यपद्यमय सूक्ति-सुभाषितों का विषयानुसार
सानुवाद संग्रह]

2-20
29/4-4
242

सार्वभौम संस्कृत प्रचार संस्थानम्
वा रा ण सी

❀ मुमुक्षु भवन वेद वेदाङ्ग पुस्तकालय ❀
वा रा ण सी ।
आगत क्रमांक... २८२०
दिनांक... 29/८/८६

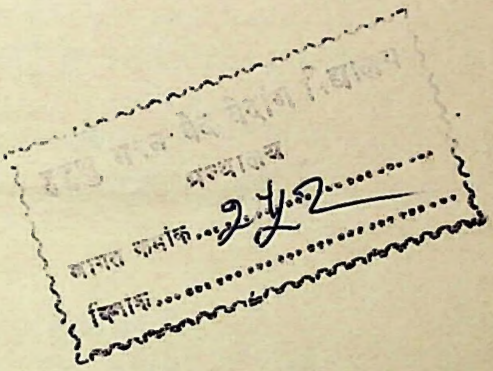

संस्कृत प्रचार पुस्तक माला सं० ५६

संस्कृत सूक्ति रत्नाकर

[संस्कृत साहित्य के विभिन्न ग्रन्थों से संकलित सूक्तियों का
विषयानुसार सानुवाद संग्रह]

मुमुक्षु भवन वेद वेदाङ्ग पुस्तकालय
वा रा ण सी।
आगत क्रमांक 2220
दिनांक 29/4/69

सङ्कलनकर्ता—
वासुदेव द्विवेदी शास्त्री
(सम्पादक - संस्कृत प्रचार पुस्तक माला)

सार्वभौम संस्कृत प्रचार संस्थानम्
वा रा ण सी

प्रकाशक—
सार्वभौम संस्कृत प्रचार संस्थानम्,
डी० ३८/११० होजकटोरा,
वाराणसी–१

आवृत्ति : प्रथम
संख्या : एक हजार
मूल्य : २८–००

मुद्रक—
बैजनाथ प्रसाद
कल्पना प्रेस,
रामकटोरा रोड, वाराणसी

पुस्तक के सम्बन्ध में

दो शब्द

संस्कृत के सूक्ति, एवं सुभाषित ये दो शब्द काव्यरचना की उस विधा को सूचित करते हैं जिसमें किसी श्लोक या कविता की रचना मुक्तक के रूप में होती है और किसी भी सन्दर्भविशेष से मुक्त रहकर स्वतन्त्र रूप से ही और अति संक्षिप्त रूप में ही कोई अच्छी बात (सु-उक्ति, सु-भाषित) कह दी जाती है। परन्तु इन दोनों शब्दों का जिस व्यापक अर्थ में प्रयोग होता है उसका केवल "अच्छी बात" इस शब्दानुवाद मात्र से बोध नहीं हो सकता। वास्तव में सूक्ति या सुभाषित के श्लोक, कभी-कभी बहुत छोटे होने पर भी, इतने गंभीर, इतने चमत्कारपूर्ण, इतने शाश्वत सत्य के प्रतिपादक तथा दूरदर्शी मनीषियों के दीर्घकालीन अनुभवों से परिपूर्ण होते हैं कि उनके लिए दूसरा कोई पर्याय शब्द हो ही नहीं सकता। अतएव विशाल संस्कृत वाङ्मय की एक विधा के रूप में ये दोनों शब्द व्यापक रूप से प्रचलित हैं और इनके उच्चारण मात्र से ही इनका विषयगत वैशिष्ट्य एवं वैपुल्य दृष्टि के समक्ष उपस्थित हो जाता है।

संस्कृत साहित्य में ऐसी सूक्तियों एवं सुभाषितों का महान् भण्डार है और इस समय भी इस विषय की पचासों पुस्तकें उपलब्ध हैं जिनमें बहुत सी तो मौलिक हैं और बहुत सी संग्रह के रूप में हैं। इनमें भी कुछ अभी तक केवल संस्कृत में ही हैं पर बहुतों का अनुवाद प्रकाशित हो गया है। बहुत से सुभाषित-ग्रन्थ इस समय नई रचना के रूप में भी सामने आ रहे हैं जो संस्कृत साहित्य की श्रीवृद्धि कर रहे हैं।

जैसे एक छोटा-सा भी दीप पूरे घर को उद्भासित कर देता है उसी प्रकार यह सूक्तियाँ भी, जिनमें बहुत सी तो एक श्लोक के एक चरण या दो चरण के रूप में ही सीमित रहती है फिर भी पाठक तथा श्रोता के सामने जड़ एवं चेतन जगत् का एक बहुत बड़ा रहस्य प्रकाशित कर देती है और मानवमात्र के जीवन के लिए मार्गदर्शन का काम करती हैं। यह सूक्तियाँ साधारण शिक्षितसमाज के लिए तो उपयोगी होती ही हैं उपदेशक, वक्ता, व्याख्याता, लेखक, पत्रकार, कवि

तथा लोकनेताओं के लिए और अधिक उपयोगी होती हैं जो इनकी सहायता से अपने कथ्य और लेख्य विषय को विशेष रोचक, आकर्षक तथा प्रभावकारी बना सकते हैं। जो बात बहुत वाग्जाल से भी किसी के हृदय में प्रवेश नहीं कर सकती वह एक छोटी सी सूक्ति कह देने पर आसानी से ही मान्य एव ग्राह्य बन जाती हैं। इस प्रकार सूक्तियों का महत्त्व अगणनीय है और प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति के पास कम से कम एक कोई सुभाषित की पुस्तक अवश्य रहनी ही चाहिए और वह घर की एक अनिवार्य वस्तु मानी जानी चाहिये।

सूक्तियों एवं सुभाषितों के इन्हीं व्यावहारिक लाभों को देखते हुए संस्थानम् की ओर से संस्कृतप्रचार के साथ ही जन-जन के जीवन के लिए उपयोगी पुस्तकों के प्रकाशन की जो वृहत् योजना बनाई गयी है उसके अन्तर्गत संस्कृत की सूक्तियों का भी, विविध रूपों में, प्रकाशन का निश्चय किया गया है। तदनुसार ही "संस्कृत की सूक्तियाँ" नाम की एक छोटी पुस्तक बहुत पहले ही प्रकाशित की जा चुकी है जिसके अनेक संस्करण निकल चुके हैं। इस पुस्तक में अकारादि क्रम से सूक्तियों का संकलन किया गया है।

परन्तु प्रस्तुत पुस्तक में सूक्तियों का संकलन विषयानुसार किया गया है जिससे कि जिज्ञासुओं को अपने-अपने अभीष्ट विषयों से सम्बन्धित सूक्तियों का एक साथ ज्ञान हो सके तथा उस विषय के अर्थगत स्वरूप का व्यापक अध्ययन हो सके।

उपर्युक्त दोनों पुस्तकों में जितनी सूक्तियाँ संकलित हैं वे सभी एक पंक्ति में ही समाप्त हो जाने वाली हैं और इसीलिए इन्हें मुखस्थ करने में विशेष कठिनाई नहीं होती। यह देखा गया है कि जिन लोगों को संस्कृत का अल्प ज्ञान है अथवा जिन लोगों ने संस्कृत का बिलकुल ही अध्ययन नहीं किया है वे लोग बड़े-बड़े श्लोकों को देखकर डर जाते हैं और उन्हें पढ़ने तथा उनका अर्थ समझने का साहस नहीं करते। परन्तु जब उनके सामने कोई एक पंक्ति की छोटी सी सूक्ति रख दी जाती है तो उसे वे बड़े उत्साह के साथ पढ़ते हैं और उसे मुखस्थ कर लेने में भी उन्हें कठिनाई का अनुभव नहीं होता। इसीलिए पहले एक पंक्ति की सूक्तियों का ही अक्षरक्रम से तथा विषयक्रम से भी प्रकाशन किया गया है। इसके पश्चात् पूरे श्लोकों की सूक्तियों का भी प्रकाशन किया जायगा जिससे कि विशेष लिखित जन पूरे श्लोकों के पढ़ने तथा उनका अर्थ समझने का लाभ उठा सके।

इस पुस्तक में जिन विषयों से सम्बन्धित सूक्तियों का संग्रह किया गया है उन विषयों की संख्या ५४५ है तथा सूक्तियों की संख्या २७१० है। इन सूक्तियों में २६४ सूक्तियाँ ऐसी हैं जिनके सन्दर्भग्रन्थों का उल्लेख नहीं किया जा सका है। शेष समस्त सूक्तियों के सन्दर्भग्रन्थों का उनके भाग, खण्ड, अध्याय, श्लोकसंख्या तथा कहीं-कहीं पृष्ठसंख्या के साथ अंकन कर दिया गया है। पुस्तक के अन्त में सन्दर्भग्रन्थों की सूची भी दे दी गयी है। जिन सूक्तियों के सन्दर्भग्रन्थों का उल्लेख नहीं हुआ है उनकी भी सूची, परिशिष्ट के रूप में, शीघ्र ही प्रकाशित करने का विचार है।

मूल श्लोक, हिन्दी अनुवाद तथा टिप्पणियों में जो प्रूफ देखने तथा मुद्रण में प्रमाद होने के कारण अशुद्धियाँ रह गई हैं उनकी जानकारी के लिए पुस्तक के अन्त में एक शुद्धिपत्र दे दिया गया है। पाठकों से विनम्र अनुरोध है कि वे शुद्धिपत्र के अनुसार अपनी-अपनी पुस्तक को आरम्भ में ही सुधार लेंगे जिससे कि उन्हें तथा दूसरे पढ़ने वालों को भी कहीं भ्रम न हो तथा उन्हें शुद्धि-अशुद्धि का सही ज्ञान हो सके।

सूक्तियों के प्रस्तुत संकलन के सम्बन्ध में प्रबुद्ध पाठकों से एक और बात निवेदनीय है जिस पर ध्यान देना आवश्यक है। इस पुस्तक की विषय सूची में अनेक ऐसे विषय हैं जिनकी सूक्तियों के अर्थों में परस्पर विरोध है। विरोधों में भी कहीं कुछ सामञ्जस्य होने की भी संभावना है तो कहीं इतना अधिक विरोध है कि उनमें कभी सामञ्जस्य स्थापित होने की सम्भावना ही नहीं की जा सकती। ऐसे स्थलों पर किसी भी पाठक को भ्रम और सन्देह हो सकता है तथा शास्त्रीय वचनों पर अनास्था भी हो सकती है। परन्तु ऐसे विरोधी वचन वास्तव में विरोधी नहीं होते प्रत्युत उस विषय के विभिन्न पक्षों के प्रतिपादक तथा उसके समग्र रूप के द्योतक होते हैं। अतः जिन सूक्तियों में परस्पर विरोध प्रतीत होता हो वहाँ देश, काल, परिस्थिति एवं पात्र के अनुसार उन वचनों की संगति बैठानी चाहिए। हाँ, यह तो मानना ही पड़ेगा कि इस प्रकार की संगति बैठाने के लिये विशेष अध्ययन एवं दूरदर्शिता की आवश्यकता होगी। इस प्रकार की परस्पर विरुद्धार्थक प्रतीत होने वाली सूक्तियाँ इस पुस्तक में जिन विषयों से सम्बन्धित हैं वे विषय मुख्यरूप से निम्नलिखित हैं—

धर्म, अर्थ, काम, दैव, भाग्य, पुरुषार्थ, नारी, जीवन, काल, धनी, दरिद्र, यौवन, आशा, आकांक्षा, संग्रह, सन्तोष इत्यादि।

मेरे विचार से तो एक ऐसे महान् ग्रन्थ के सम्पादन की आवश्यकता है जिसमें परस्परविरोधी, वर्तमान देश-काल और आधुनिक विचारधाराओं के विरुद्ध प्रतीत होने वाली, शास्त्रप्रेमियों में भी अश्रद्धा एवं सन्देह पैदा करने वाली तथा धर्मविरोधियों के द्वारा बराबर आलोचित तथा खण्डित की जानी वाली सूक्तियों एवं उक्तियों का सम्यग् अध्ययन कर उनका सामञ्जस्यपूर्ण अर्थ बतलाया जाय तथा देश, काल एवं पात्र के अनुसार उनकी उपयोगिता सिद्ध की जाय। यदि इस प्रकार का कोई ग्रंथ तैयार हो सके तो यह संस्कृत साहित्य, भारतीय संस्कृति, भारतीय जनता एवं मानवमात्र की बहुत बड़ी उल्लेखनीय सेवा होगी। क्योंकि विचारों में जितनी ही समीपता और समता होगी उतना ही मानवसमाज वैचारिक तनाव से मुक्त होकर एक दूसरे के निकट आयेगा, विरोध तथा संघर्ष समाप्त होगा और "संगच्छध्वं संवदध्वं" का वैदिक उद्घोष चरितार्थ होगा। आशा है, समय की इस आवश्यक मांग की ओर संस्कृत के प्रबुद्ध विद्वान् ध्यान देने की कृपा करेंगे। अस्तु।

मुझे आशा है कि प्रस्तुत संकलन सुभाषित ज्ञान के सामान्य लाभ के साथ ही पाठकों के समक्ष ऐसे विचारों को भी प्रस्तुत करेगा जो व्यक्ति और समाज के नवनिर्माण में तथा प्राचीन एवं आधुनिक विचारधारा के समन्वय में सहायक होंगें। जो सुबुद्ध पाठक इस पुस्तक से सम्बन्धित किसी भूल-चूक की सूचना देने की कृपा करेंगे, हम उनके बहुत ही आभारी होंगे।

दीपावली — विनीत

२०४२ वि० सं० (१२-११-८५) — सङ्कलनकर्ता

❀ मुमुक्षु भवन वेद वेदाङ्ग पुस्तकालय ❀
वाराणसी।
आगत क्रमांक... 2220
दिनांक... 29/8/84

विषय-सूची

शब्द	पृष्ठ	शब्द	पृष्ठ
अकर्मा, अकर्मण्य	३	अयोग्य	,,
अज्ञान	,,	अराजकता	१९
अज्ञानी	४	अर्थ	,,
अति	५	अर्थवान्	२६
अतिथि	६	अर्थार्थी	२७
अधम	७	अलस	,,
अधिकार	,,	अल्पविद्य	२८
अव्यवसायी	८	अल्पसत्त्व	२९
अध्यात्मविद्या	,,	अवस्था	,,
अनर्थ	९	अविनय	,,
अनवस्थित	,,	अविवेक	,,
अनुकरण	,,	अव्यवस्था	३०
अनुराग	१०	अव्यवस्थित	,,
अनृण	,,	अशन	,,
अन्न	११	अशान्त	,,
अन्याय	१४	असत्य	,,
अपत्य	१५	असन्तोष	,,
अपराध	,,	असाध्य	३१
अपमान	,,	असूया	,,
अपयश	१६	अहंकार	,,
अभिमान	,,	अहिंसा	३२
अभिमानी	,,	आग्रह	३३
अभ्यास	१७	आचार	३३
अभ्युदय	,,	आचार्य	३४
अमरता	१८	आडम्बर	,,
अमर्ष	,,	आतिथ्य	,,

शब्द	पृष्ठ	शब्द	पृष्ठ
आत्मज्ञान	३५	उद्यम	३४
आत्मज्ञानी	,,	उद्यमी	५६
आत्मप्रशंसा	३६	उद्योग	,,
आत्मबल	,,	उपकार	५७
आत्मा	,,	उपदेश	५८
आनन्द	३९	उपवास	,,
आपत्-आपत्ति	४०	उपाय	५९
आय-व्यय	४१	ऋजु	,,
आयु-व्यय	४१	ऋद्धि	६०
आयु	४२	ऋषि	,,
आरोग्य	,,	एषणा	,,
आर्जव	४३	ऐश्वर्य	,,
आर्त	,,	कथा-वार्ता	,,
आर्य	४४	कन्या	६१
आलस्य	,,	कर्म	६२
आशा	४५	कर्म-फल	६७
आशिष, आशीर्वाद	४७	कलत्र (स्त्री, पत्नी)	,,
आश्रम	,,	कलह	,,
आहार	,,	कल्याण	६८
इङ्गितज्ञ	४८	कल्याणकारी	,,
इच्छा	,,	कवि	,,
इन्द्रिय	४९	कविता-कवित्व	,,
इन्द्रियनिग्रह	५१	कापुरुष-कातर	६९
ईर्ष्या	५२	काम	७०
ईश्वर	,,	क्राम-क्रोध	७६
उत्तमजन	५३	कामी	७७
उत्तम विचार	५४	कार्य	,,
उत्सव	,,	कार्यार्थी	७९
उत्साह-उत्साही	,,	काल	८०
उदार	५५	काव्य	८२

शब्द	पृष्ठ
कीर्ति	८३
कुमार्ग	,,
कुदेश	,,
कुल	८४
कुपुत्र	,,
कुलीन	८५
कुशल	,,
कृतघ्न	,,
कृतज्ञ	८६
कृतज्ञता	,,
कृपण	,,
कृश	८७
कृषि	,,
क्रिया	८८
क्रोध	,,
क्रोधी	,,
क्लीव	८९
क्लेश	,,
क्षमा	९०
क्षुद्रजन	९१
क्षुधा	९२
क्षोभ	,,
खल	,,
गतिशीलता	९३
गर्व	९४
गान	,,
गार्हस्थ्य	,,
गुण	,,
गुणी, गुणवान्	९७
गुरु	९९

शब्द	पृष्ठ
गृहस्थ	१००
गृहस्थाश्रम	,,
गृहिणी	,,
गो	१०२
चञ्चल	१०३
चतुर	,,
चतुरता	,,
चरित्र	१०४
चित्त	,,
चित्र	१०६
चिन्ता	,,
चिन्तन	१०७
छलकपट	१०८
जगत्	,,
जनरव	,,
जन्म	,,
जन्मभूमि	११०
जागरूक	,,
जाति	,,
जामाता	१११
जाया (स्त्री)	,,
जितेन्द्रिय	११२
जिह्वा	११३
जीव	११४
जीवन	,,
जीवित	,,
जीविका	११६
ज्ञाति	,,
ज्ञान	११७
ज्ञानी	१२०

शब्द	पृष्ठ	शब्द	पृष्ठ
तप	१२१	दोषदर्शी	१४७
तपोवन	१२२	द्वैत	१४८
तितिक्षा	१२३	धर्म	,,
तीर्थ	,,	धर्मज्ञ	१५८
तृष्णा	,,	धर्मध्वजी	,,
तेजस्	१२४	धर्मार्थ	१५९
त्याग	१२५	धान्य	,,
त्रिवर्ग	,	धीर	१६०
दक्ष	१२६	धृति	,,
दण्ड	,,	नपुंसक	१६१
दरिद्र-निर्धन	१२८	नम्र—नम्रता	,,
दरिद्रता	१३०	नर्म	,,
दाक्ष्य	१३१	नाट्य	,,
दान	,,	नारी	१६२
दाता	१३३	नायक	,,
दाम्पत्य	१३४	नास्तिक	,,
दीक्षा	,,	निद्रा	१६३
दीर्घसूत्री	,,	निन्दक	,,
दुःख	१३५	नियति	,,
दुःख-सुख	१३६	नियोग	,,
दुर्जन	१३७	निरक्षर	१६४
नीच	१४०	निर्बल	,,
दुर्बल	,,	निर्गुण	,,
दूत	,,	निर्वेद	,,
दृष्टि	,,	निस्सार	,,
देवता	१४१	नि.स्पृह	१६५
देश	,,	नीच	,,
देश-काल	,,	नीति	१६६
दैन्य	१४२	न्याय	१६७
दोष	१४६	न्यास (धरोहर)	,,

शब्द	पृष्ठ	शब्द	पृष्ठ
पक्षपात	१६७	प्रकृति	१९०
पठन	१६८	प्रजनन	१९१
पण्डित	,,	प्रज्ञा	,,
पत्नी	१७५	प्रतिज्ञा	१९३
पथ्य	१७५	प्रत्युपकार	,,
पदस्थ	,,	प्रमाद	,,
परतन्त्र	,,	प्रमत्त	११४
परधन–परस्त्री	,,	प्रयत्न	,,
पराक्रम	,,	प्रयोग	१९५
पराभव	१७६	प्रलाप	१९६
परिग्रह	,,	प्रयोजन	,,
परोपकार	,,	प्रवास	,,
परोपदेश	१७७	प्रशंसा	१९७
पलायन	,,	प्रसन्न	,,
पश्चात्ताप	,,	प्रसन्नता	,,
परगृह	१७८	प्राचीन	१९८
पाण्डित्य	,,	प्राज्ञ	,,
पात्र	१७९	प्राण	,,
पाप	,,	प्रार्थना	१९९
पापी	१८०	प्रिय	,,
पारस्परिक सहयोग	१८१	प्रियवादी	२००
पिता	,,	प्रेम	,,
पुण्य	१८२	बल	२०३
पुण्य-पाप	१८३	बलवान	,,
पुण्यकृत्	,,	बन्धु	२०४
पुत्र	,,	बहुभाषी	२०५
पुरुष	१८७	बहुसन्तति	,,
पुरुषार्थ	१८८	बालक	,,
पूर्णता	१८९	बुद्धि	२०६
पृथिवी	,,	बुद्धिमान	२०९

शब्द	पृष्ठ	शब्द	पृष्ठ
बुभुक्षित	२११	मनन	२३१
ब्रह्म	,,	मनस्वी	,,
ब्रह्मज्ञानी	२१२	मनुष्य	२३२
ब्राह्मण	२१३	मनोरथ	,,
भक्त	२१४	मन्त्र	२३२
भय	,,	ममता	,,
भवितव्य	२१५	मरण	,,
भविष्णु (होनहार)	२१६	महात्मा	२३६
भविष्य	,,	महान	,,
भाग्य	,,	महिमा	२४०
भाग्यवान	२१८	माता	,,
भाग्यहीन	,,	मान	२४१
भार	,,	मानो	२४२
भार्या	२१९	मार्ग	,,
भाव	२२०	मित्र	२४३
भावी	,,	मित्रता	२४६
भावन	,,	मुखरता	२४७
भाषण	२२१	मूढ़-मूर्ख	,,
भिन्न	,,	मूर्खता	२५०
भृत्य	२२२	मृजा	,,
भीरु	,,	मृदु	,,
भोग	२२३	मैत्री	२५१
भोगवान	,,	मोक्ष	,,
भोजन	,,	मौन	,,
भ्राता	२२६	यज्ञ	२५२
मद्यपान	,,	यथार्थता	२५३
मधुर	,,	यश	२५४
मति	,,	याचक	,,
मध्यवर्ती	२२७	याचना	२५५
मन	,,	युवा	,,

शब्द	पृष्ठ
युद्ध	२५६
योग	,,
योगी	२५७
योग्य	,,
योग्यता	,,
यौवन	२५८
रजोगुण	२५९
रत्न	,,
रमणीय	,,
रस	,,
राग	,,
रागी	२६०
राजधर्म	,,
राजविद्या	,,
राजा	२६१
राज्य	२६४
राष्ट्र	२६५
रक्त	,,
रुचि	,,
रूप	,,
रोग	२६६
रोगी	,,
लज्जा	,,
लाभ	२६७
लालन	,,
लिपि	,,
लोक-लोकस्वभाव	२६४
लोकतन्त्र	२७१
लोकयात्रा	,,
लोकविरुद्ध	,,

शब्द	पृष्ठ
लोकव्यवहार	२७१
लोकाचार	२७२
लोकापवाद	,,
लोभ	२७३
लोभी	२७४
वक्ता	२७५
वक्तव्य	२७६
वस्त्र	,,
वाक्	२७७
वाग्मिता	२७९
वाणिज्य	२८०
वाद	,,
वार्ता	,,
वासना	२८१
विकार	,,
विचार	,,
विजय	२८२
विज्ञान	,,
विदेश	,,
विद्या	२३३
विद्या एवं विनय	२८६
विद्यार्थी	२८७
विधि-विधाता	,,
विनय	२८८
विनाश	२८९
विपद	,,
विरक्त	२९०
विवेक	,,
विषय	२९१
विवेकी	२९२

शब्द	पृष्ठ
विश्वास	२९२
विस्तार	२९३
विस्मय	,,
वीर	,,
वृत्त (अच्छा आचरण)	२९४
वृत्ति	२९५
वृद्धि	,,
वैर	२९६
वैतृष्ण्य	२९७
व्यवसाय	,,
व्यवहार	,,
व्यसन	,,
व्यायाम	३००
व्रत	,,
शंका	,,
शक्ति	,,
शब्द	३०१
शरण	३०२
शरीर	,,
शान्त	३०३
शान्ति	,,
शास्त्र	३०४
शिल्प	३०७
शिष्य	,,
शिक्षक	,,
शिक्षित	,,
शिक्षा, दीक्षा	३०८
शील	,,
शृंगार	३१०
शैशव	,,

शब्द	पृष्ठ
शूर	३१०
शोक	३११
शौच	३१३
शौर्य	,,
श्रद्धा	,,
श्रम	३१५
श्री	,,
श्रीमान	३१८
श्रीमदान्ध	,,
श्रुत	,,
श्रेय	,,
श्रेय-प्रेय	३१९
श्रेष्ठ	३२०
श्रोता	,,
श्वः (आगामी कल)	,,
संकल्प	३२१
सङ्ग, सङ्गति	,,
संग्रह	३२२
संघ	,,
संपुटिका	३२३
सम्बन्ध	,,
संयोग	,,
संरम्भ	,,
संशय	,,
संसर्ग	३२४
संसार	,,
संस्कार	३२५
संस्कृत	,,
सज्जन	,,
सत्य	३३०

शब्द	पृष्ठ
सत्त्व (आत्मबल)	३३२
सत्सङ्गति	३३३
सदाचार	३३४
सद्विचार	,,
सन्तति	,,
सन्ताप	३३५
सन्तुष्ट	,,
सन्तोष	३३६
सन्निकर्ष	,,
सन्मार्ग	,,
सभा	,,
समता	३३७
समदर्शी	,,
समय	३३९
समाधि	,,
समृद्ध	,,
सम्पद्	,,
सम्बन्ध	३४१
सम्यग् दृष्टि	,,
सरल	,,
सर्व	,,
सहवास	३४३
सहवासी	३४५
सहायक	,,
सहन-सहनशील	,,
साक्षर	,,
साधु	,,
साम	३४९
सिद्ध	,,
साहस	३५१
साहित्य	,,

शब्द	पृष्ठ
सुकृति	३५१
सुख	,,
सुख-दुःख	३५५
सुजन	३५७
सुन्दर	,,
सुन्दरता	,,
सुभाषित	,,
सेवा	,,
सेवक	३५९
सौजन्य	,,
सौहार्द	,,
स्त्री	,,
स्थान	३६५
स्नेह	,,
स्पष्टवक्ता	३६७
स्मृति	,,
स्वप्न	,,
स्वधर्म	३६९
स्वभाव	,,
स्वर्ग	,,
स्वार्थी	,,
स्वास्थ्य	,,
स्वाधीनता	,,
स्वाध्याय	,,
स्वास्थ्य	३७३
हस्त	,,
हानि	३७४
हिंसा	,,
हृदय	३७५
हेला	,,

संस्कृत-सूक्ति-रत्नाकर

(द्वितीय भाग)

सूक्तियों का महत्त्व

संसारविषवृक्षस्य द्वे फले ह्यमृतोपमे ।
सुभाषितरसास्वादः संगमः सुजनैः सह ॥

यह संसार विष का वृक्ष है फिर भी इसके दो फल अमृत के समान मधुर हैं। एक तो सुभाषितों का रसास्वादन और दूसरा, सज्जनों का समागम।

पृथिव्यां त्रीणि रत्नानि जलमन्नं सुभाषितम् ।
मूढैः पाषाण - खण्डेषु रत्नसंज्ञा विधीयते ॥

जल, अन्न और सुभाषित ये तीन ही पृथिवी के वास्तविक रत्न हैं। वे लोग मूढ हैं जो पत्थर के टुकड़ों को रत्न की संज्ञा दिया करते हैं।

नायं प्रयाति विकृतिं विरसो न यः स्यात्
न क्षीयते बहुजनैर्निंतरां निपीतः ।
जाड्यं निहन्ति रुचिमेति करोति तृप्तिं
नूनं सुभाषितरसोऽन्यरसातिशायी ॥

न इसमें कभी विकार होता है, न यह विरस होता है और न यह बहुत लोगों द्वारा पीये जाने पर भी कभी समाप्त होता है। इसके अतिरिक्त यह जड़ता को दूर करता है, रुचिकर होता है तथा मन को तृप्त कर देता है। अतः यह सुभाषितरूपी रस निश्चय ही अन्य सभी रसों से उत्कृष्ट है, उत्तम है।

खिन्नं चापि सुभाषितेन रमते स्वीयं मनः सर्वदा
श्रुत्वाऽन्यस्य सुभाषितं खलु मनः श्रोतुं पुनर्वाञ्छति ।
अज्ञान् ज्ञानवतोऽप्यनेन हि वशीकर्तुं समर्थो भवेत्
कर्तव्यो हि सुभाषितस्य मनुजैरावश्यकः संग्रहः ॥

मन खिन्न होने पर भी सुभाषितों के पढ़ने से सदा प्रसन्न रहता है, दूसरों के मुँह से सुभाषित सुन कर पुनः उसे सुनने की इच्छा होती है तथा मनुष्य सुभाषितों के द्वारा अज्ञानी एवं ज्ञानी सब लोगों को अपने वश में करने में समर्थ होता है। अतः सब लोगों को आवश्यक रूप से सुभाषितों का—सूक्तियों का संग्रह करना चाहिए।

यस्य वक्त्रकुहरे सुभाषितं नास्ति नाऽप्यवसरे प्रजल्पति ।
आगतः सदसि धीमतामसौ लेप्यनिर्मित इवाऽवभासते ॥

जिस पुरुष को कोई सुभाषित कण्ठस्थ नहीं है और जो न उसे किसी अवसर पर कह ही सकता है वह विद्वानों की सभा में आने पर मिट्टी की मूर्ति जैसा लगता है।

सुभाषितानि खलु
भाषाया विलसितानि
सरस्वत्याः सुस्मितानि
पृथिव्या अमृतानि ।

यह जो सुभाषित हैं वे भाषा के विलास हैं, सरस्वती के मुस्कान हैं और पृथिवी के अमृत हैं।

—विविध ग्रन्थों से

अकर्मा, अकर्मण्य

अकर्माणो हि जीवन्ति स्थावरा नेतरे जनाः ।[1]

बिना कर्म किये पर्वत आदि स्थावर पदार्थ ही जी सकते हैं, पर दूसरे मनुष्य आदि नहीं।

अकर्मणां वै भूतानां वृत्तिः स्यान्नहि काचन ।[2]

जो प्राणी कर्म नहीं करते उनकी कोई जीविका नहीं हो सकती, जीने का साधन नहीं हो सकता।

न पापीयोऽस्त्यकर्मणः ।[3]

कर्म न करने वाले व्यक्ति से बढ़कर कोई पापी नहीं।

निष्क्रियः सर्वेषामप्रियो भवति ।[4]

निष्क्रिय व्यक्ति सभी को अप्रिय होता है।

अज्ञान

अज्ञानात् क्लेशमाप्नोति तथापत्सु निमज्जति ।[5]

मनुष्य अज्ञान के कारण क्लेश पाता है तथा आपत्तियों में पड़ता है।

अज्ञानप्रसवं हीदं यद् दुःखमुपलभ्यते ।[6]

मनुष्य को जो दुःख होता है, वह अज्ञान से ही उत्पन्न होता है।

---

१ वन० ३२।३
२ वन० ३२।८
३ शान्ति० ७५।३९
४ दीप० ४ । ४८
५ शान्ति० १५९ । ३
६ शान्ति० १५९ । ५

एकः शत्रुर्न द्वितीयोऽस्ति कश्चिदज्ञानतुल्यः पुरुषस्य राजन् ।[१]

राजन्! अज्ञान ही एकमात्र मनुष्य का शत्रु है। अज्ञान के तुल्य दूसरा कोई शत्रु नहीं है।

सुखदुःखप्रदो नाऽन्यः पुरुषस्यात्मविभ्रमः ।[२]

मनुष्य का आत्मविभ्रम अर्थात् अज्ञान ही सुख और दुःख का दाता है। दूसरा कोई नहीं।

अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ।[३]

अज्ञान से ज्ञान ढका रहता है, इस कारण मनुष्य मोह में पड़ जाते हैं।

संवृणोति खलु दोषमज्ञता ।[४]

अज्ञान मनुष्य के दोष को छिपा देता है।

अज्ञानी

अज्ञो भवति वै बालः ।[५]

जो अज्ञानी है वही बालक है।

नाबुधास्तारयन्त्यन्यान् आत्मानं वा कथञ्चन ।[६]

अज्ञानी मनुष्य न तो दूसरों को और न तो अपने को ही तार सकते हैं, अर्थात् संकटों से बचा सकते हैं।

---

१ शान्ति० २९८ । २८
२ भाग० ११ । २३ । ६०
३ गीता० ५ । १५
४ किराता० १३ । ६३
५ मनु० २ । १५३
६ शान्ति० २३६ । २

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।[१]

ज्ञानहीन, श्रद्धाहीन. तथा संशयात्मा मनुष्य विनष्ट हो जाते हैं।

अल्पमेवारभन्तेऽज्ञाः कामं व्यग्रा भवन्ति च ।[२]

अज्ञानी पुरुष थोड़ा ही काम करते हैं, पर व्यग्र बहुत अधिक हो जाते हैं।

अज्ञः सुखमाराध्यः ।[३]

अज्ञानी मनुष्य आराम से ही मनाया जा सकता है।

अति

सर्वत्रातिकृतं भद्रे व्यसनायोपपद्यते ।[४]

भद्रे, जहाँ कहीं भी अति किया जाय वह दुःख का ही कारण होता है।

अतिभुक्तिरतीवोक्तिर्व्यसनायोपपद्यते ।[५]

अधिक भोजन तथा अधिक बोलना कष्ट का ही कारण होता है।

अतिनिर्मथनादग्निश्चन्दनादपि जायते ।[६]

अति मन्थन करने से चन्दन से भी आग प्रकट हो जाती है।

अतिपरिचयः कस्यावज्ञां न जनयति ।[७]

अत्यधिक परिचय किसका अपमान नहीं करा देता है।

सर्वमतिमात्रं दोषाय ।[८]

जो कुछ भी काम अतिमात्रा में किया जाता है वह दोषजनक होता है।

---

१ गीता० ४ । ४०
२ शि० व० २ । ७९
३ म० नी० ३
४ वा० रा० ६ । २४ । २४
५ स० प० मा०
६ चा० नी० शा० स० १५०४
७ सो० नी० ४२ । ४६
८ उ० रा० । ६

अत्यादरः शंकनीयः ।[१]

अत्यधिक आदर शंकनीय होता है।

अतिभारः पुरुषमवसादयति ।[२]

अत्यधिक भार पुरुष को खिन्न बना देता है।

अति सर्वत्र वर्जितम् ।[३]

अति सर्वत्र के लिए वर्जित है।

अतिरभसकृतानां कर्मणामाविपत्ते-
र्भवति हृदयदाही शल्यतुल्यो विपाकः ।[४]

अति जल्दीबाजी में किये हुए कामों का फल विपत्तिपर्यन्त घाव के समान हृदय को जलाता रहता है।

अतिथि

अतिथिदेवो भव ।[५]

अतिथि को देवता समझो।

न कञ्चन वसतौ प्रत्याचक्षीत ।[६]

घर में किसी भी अतिथि को ठहरने से रोकना नहीं चाहिए।

धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यञ्चातिथिपूजनम् ।[७]

अतिथि का पूजन (सत्कार) धनवर्धक, यशवर्धक, आयुवर्धक तथा स्वर्गप्रद होता है।

अतिथिः किल पूजार्हो प्राकृतोऽपि विजानता ।[८]

ज्ञानवान् के लिए साधारण अतिथि भी पूजा के योग्य होता है।

---

१ मुद्रा० १ । २०
२ चा० सू० २ । ५४
३ चा० नी० ३ । १३
४ भ० नी० १००
५ तै० उ० ३० । १० । १
६ मनु० ३ । १०६
७ वा० रा० ५ । १ । १२३
८ योवा० नि० ५ । ८५ । ८२

देवादप्यधिकं पूज्यः सतामभ्यागतो जनः ।[२]

अभ्यागत व्यक्ति सज्जन पुरुषों के लिए देवता से भी बढ़कर पूज्य होता है।

जीवितं याति साफल्यं स्वमभ्यागतपूजया ।[३]

अभ्यागतों की पूजा करने से मनुष्य का अपना जीवन सफल हो जाता है।

सर्वस्याभ्यागतो गुरुः ।[३]

अभ्यागत व्यक्ति सबके लिए श्रेष्ठ होता है।

अनित्यं हि स्थितो यस्मात्तस्मादतिथिरुच्यते ।[४]

कोई भी अतिथि कहीं नित्य नहीं रहता इस लिये उसे अतिथि कहते हैं।

अधम

प्राज्ञं प्राप्य न पृच्छन्ति ये केचित्ते नराधमाः ।[५]

ज्ञानी व्यक्ति को पाकर भी जो मनुष्य उससे कुछ ज्ञान की बात न पूछे वह अधम है।

अधिकार

अधिकारपदं नाम निर्दोषस्यापि पुरुषस्य महदाशङ्कास्थानम् ।[६]

अधिकार का पद पा जाना निर्दोष पुरुष के लिए भी बड़े सन्देह का विषय बन जाता है।

---

१ योवा० नि० ५, ८५ । ८२
२ हितो० १ । १०८
३ मनु० ३ । १०२
४ योवा० उ० ७८ । ३३
५
६ मु० ५ । १२

अध्यवसायी

विततोद्यवसायस्य जगद् भवति गोष्पदम् ।[1]

महान् अध्यवसायी व्यक्ति के लिए संसार गौ के खुर के बराबर (छोटा) हो जाता है!

नोद्विजन्ते स्वकार्येषु जना अध्यवसायिनः ।[2]

अध्यवसायी पुरुष अपने काम में उद्विग्न (आकुल) नहीं होते।

न स्वल्पमप्यध्यवसायभीरोः करोति विज्ञानविधिर्गुणं हि ।[3]

अध्यवसाय करने से डरने वाले व्यक्ति के लिए कोई भी ज्ञान-विज्ञान थोड़ा भी लाभ नहीं पहुँचाता है।

अध्यात्मविद्या

अध्यात्मविद्या विद्यानाम् ।[4]

विद्याओं में अध्यात्मविद्या (मैं हूँ)। (श्रीकृष्ण)

समस्तगुणजालानाम् अध्यात्मज्ञानमुत्तमम् ।[5]

अध्यात्मज्ञान समस्त ज्ञानों में उत्तम ज्ञान है।

त्रैलोक्यराज्याच्च गुरुतरा विद्या ।[6]

अध्यात्मविद्या तीनों लोकों के राज्य से भी बढ़कर श्रेष्ठ होती है।

अध्यात्मविद्या च नृणां सौख्यमोक्षकरी भवेत् ।[7]

अध्यात्मविद्या मनुष्यों को सुख और मोक्ष दोनों प्रदान करती है।

---

१ उप० ७१ । ५५
२ योवा० नि० ८८ । ६
३ हितो० १ । १६८
४ गीता १० । ३२
५ योवा० उप० ७८ । ४०
६ छा० उ० ८ । ७ २
७ ज्ञा० सं० त० ६

अनर्थ

सूचीमुखा ह्यनर्थाः ।[१]

अनर्थों का मुँह सूई के समान सूक्ष्म होता है। अर्थात् वे कहीं भी प्रवेश कर सकते हैं।

छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति ।[२]

संकट के समय अनर्थ बहुत बढ़ जाया करते हैं।

नानर्थः परिपाल्यते ।[३]

अनर्थकारी वस्तु नहीं पाली जाती।

अनवस्थित

सर्वं तु न स्यादनवस्थितस्य ।[४]

अस्थिर स्वभाव वाले व्यक्ति का कोई काम सिद्ध नहीं हो सकता।

अनवस्थितकार्यस्य न वने न जने सुखम् ।[५]

अव्यवस्थित कार्य वाले पुरुष को न वन में सुख मिलता है और न समाज में।

अनुकरण

कल्याणमनुकर्तव्यं पुरुषेण बुभूषता ।[६]

उन्नति चाहने वाले व्यक्ति को अच्छी बातों का अनुकरण करना चाहिए।

---

१ कौ० अ० ६ । २ । १
२ हिती० १ । २०४
३ योवा० उत्पत्ति० ७७ । २०
४ उद्योग० ३५ । ६३
५ चा. नी. १३ । १६
६ शान्ति० १५३ । २५

अनुराग

दुःखं त्यक्तुं बद्धमूलोऽनुरागः ।[१]

जब अनुराग बद्धमूल हो जाता है तो उसका छूटना बहुत कठिन हो जाता है।

अनुरागान्धमनसां विचारसहता कुतः ।[२]

जो लोग अनुराग में अन्धे हो जाते हैं उन लोगों में विचार करने की शक्ति कहाँ ?

अनृण

अनृणा अस्मिन्ननृणाः परस्मिन्

तृतीये लोके अनृणाः स्याम ।[३]

हम लोग इस लोक में अनृण रहें, पर लोक में अनृण रहें तथा तीसरे लोक में भी अनृण रहें।

सुखं स्वपित्यनृणवान् व्याधिमुक्तश्च यो नरः ।[४]

जो मनुष्य ऋण से तथा व्याधि से मुक्त होता है, वह सुख की नींद सोता है।

अनृत

अमेध्यो वै पुरुषो यदनृतं वदति, तेन पूतिरन्तरतः ।[५]

वह पुरुष अपवित्र है, यदि झूठ बोलता है। झूठ बोलने से मनुष्य के भीतर से दुर्गन्ध आती है।

समूलो वा एष परिशुष्यति यदनृतं वदति ।[६]

वह मूल के साथ सूख जाता है, यदि असत्य बोलता है।

---

१ स्वप्न० ४ । ६
२ क. स. ३ । ३ । ५१
३ अथर्व० ६ । ११७ । ३
४ शौ. नी. ६६
५ शत० १ । १ । १ । १
६ प्र० उ० ६ । १.

नहि तीव्रतरं किञ्चिदनृतादिह विद्यते ।[१]

झूठ से बढ़कर कोई तीखी चीज नहीं होती ।

पुरुषस्यानृतं मलम् ।[२]

झूठ मनुष्य का मल है ।

नानृतात् पातकं परम् ।[३]

अनृत से बढ़कर कोई पातक नहीं होता ।

वरं मौनं कार्यं न च वचनमुक्तं यदनृतम् ।[४]

मौन रहना अच्छा पर झूठ बोलना नहीं अच्छा ।

अन्न

अन्नं वै सर्वं प्रतितिष्ठति, अन्नं वै देवयोनिर्भवति,
अन्ने प्राणानुपसृजति, तस्मादन्नममृतं वदन्ति ।[५]

अन्न ही सबको प्रतिष्ठित करता है, अन्न ही देवताओं के भी जीवन का कारण है तथा अन्न के आधार पर ही प्राण भी रहते हैं अतः अन्न को अमृत कहा जाता है ।

तद्धि समृद्ध यत्रात्ता वनीयान् आद्यो भूयान् ।[६]

वही समृद्धि है जहाँ खाने वाले कम हों तथा खाद्यवस्तु अधिक हो ।

तद्धि समृद्धं यदक्षीण एव पूर्वस्मिन्नन्नेऽथाऽपरमन्नमागच्छति ।[७]

वही समृद्धि है जबकि पिछले अन्न के समाप्त होने के पहले ही घर में और अन्न आ जाय ।

---

१ आदि० ८४ । १०५
१ उद्योग० ४९ । ८९
३ चा० नी० ६ । ५२
४ म० सु० सं० ७३३
५ का० सं० ७० । ५-६
६ शत० १ । ३ । ३ । १३
७ शत० १ । ६ । ४ । ७

एतदु परममन्नं यद्दधि मधु घृतम् ।[१]

दधि, मधु और घृत ही सर्वश्रेष्ठ अन्न है।

अन्नं वै सर्वेषां भूतानामात्मा ।[२]

अन्न ही समस्त प्राणियों की आत्मा है।

अन्नजीवनं हीदं सर्वम् ।[३]

यह सारा संसार अन्न से ही जीता है।

यस्यैवेह भूयिष्ठमन्नं भवति स एव भूयिष्ठं लोके विराजति ।[४]

जिसी मनुष्य के घर अधिक अन्न होता है वही समाज में अधिक प्रभावशाली होता है।

अद्यतेऽत्ति च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यते ।[५]

अन्न मनुष्यों के द्वारा खाया जाता है और वह भी मनुष्यों को (अनुचित रूप से ग्रहण करने से) खा जाता है, इसलिए वह अन्न कहलाता है।

अन्ने वाव सर्वे प्राणा महीयन्ते ।[६]

अन्न से ही सब प्राणों की महिमा बनी रहती है।

अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते,
अन्नेन जातानि जीवन्ति ।[७]

अन्न से ही सब प्राणी उत्पन्न होते हैं तथा जीवित रहते हैं।

अन्नं बहु कुर्वीत तद् व्रतम्। अन्नं न निन्द्यात् तद् व्रतम्।
अन्नं न परिचक्षीत तद् व्रतम् ।[८]

अन्न अधिक पैदा करे यह व्रत है, अन्न की निन्दा न करे यह व्रत है, अन्न का परित्याग या तिरस्कार न करे, यह व्रत है।

---

१ शत० ६ । २ । १ । १२
२ गो० उ० प्र० ३
३ शत० ७ । ५ । १ । २०
४ ऐ० ब्रा० १ । १ । ५
५ तै० उ० २ । २
६ तै० उ० १ । ५ । ३
७ तै० उ० ३ । १
८ तै० उ० ३ । ६, ७, ८

यया कया च विधया बह्वन्नं प्राप्नुयात् ।[1]

जिस किसी प्रकार बहुत अन्न प्राप्त करना चाहिए ।

अन्नात् प्राणो मनः सत्यं लोकः कर्मसु चाऽमृतम् ।[2]

अन्न से प्राण, मन, सत्य, लोक तथा कर्मों में अमृत उत्पन्न होता है ।

स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः ।[3]

यह जो पुरुष है वह अन्नरसमय है ।

अन्नात् प्राणा भवन्ति भूतानां, प्राणैर्मनो, मनसश्च विज्ञानं, विज्ञानादानन्दो ब्रह्मयोनिः ।[4]

अन्न से प्राणियों के प्राण होते हैं, प्राणों से मन होता है, मन से विज्ञान होता है और विज्ञान से ब्रह्मयोनि आनन्द होता है ।

सर्वेषां भक्ष्यभोज्यानामन्नं परममुच्यते ।[5]

समस्त भक्ष्य एवं भोज्य पदार्थों में अन्न श्रेष्ठ माना जाता हैं ।

अन्नाद् भवन्ति भूतानि म्रियन्ते तदभावतः ।[6]

अन्न से ही मनुष्य जीते हैं और उसके अभाव से मर जाते हैं ।

जीर्णमन्नं प्रशंसन्ति ।[7]

जो अन्न पच जाय वही उत्तम अन्न है ।

मानेन रक्ष्यते धान्यम् ।[8]

नाप-तौल कर खर्च करने से अन्न की रक्षा होती है ।

---

१ तै० उ० ३ । १०
२ मु० उ० १ । ८
३ तै० उ० २ । १ । १
४ ना० उ० २३ । १
५ अनु० ४४ । १०
६ उद्योग० ३५ । ८२
७ उद्योग० ३४ । ४१
८ सु० र० भा०

सर्वारम्भास्तण्डुलप्रस्थमूलाः ।[१]

सभी कार्य एक सेर चावल होने के बाद ही होते हैं ।

अन्नचिन्ताचमत्कार-कातरे कविता कुतः ।[२]

अन्न की चिन्ता से पराभूत मनुष्य को कविता नहीं सूझती ।

कदन्नता चोष्णतया विराजते ।[३]

खराब भी अन्न यदि उष्ण (गर्म) हो तो अच्छा होता है ।

अन्नं हि प्राणिनां प्राणः ।[४]

अन्न प्राणियों का प्राण है ।

अन्याय

अन्यायवृत्तः पुरुषो न परस्य न चात्मनः ।[५]

अन्यायी पुरुष न तो दूसरे का और न तो अपना ही (हितकर) होता है ।

अपन्थानं तु गच्छन्तं सोदरोऽपि विमुञ्चति ।[६]

जो कुमार्ग पर चलता है उसे अपना सहोदर भाई भी छोड़ देता है ।

शुनः पुच्छमिवानर्थं ज्ञानमन्यायवर्तिनः ।[७]

अन्याय करने वाले व्यक्ति का ज्ञान कुत्ते की पूँछ की तरह निरर्थक है ।

अन्यायेन तृणशलाकाऽपि गृहीता दुःखायते ।[८]

अन्याय से यदि किसी का तिनका भी ले लिया जाय तो वह दुःखद होता है ।

---

१ चा० नी० ९ । ९४
२
३
४ भा० पु० ११ । ६ । १३
५ शान्ति० ८९ । १५
६ चा० नी० स० १६५
७
८ सो० नी०

अन्यायोपेक्षया सर्वे विनश्यन्ति ।[१]

अन्याय की उपेक्षा करने से सब लोग विनष्ट हो जाते हैं।

अन्यायप्रवृत्तेर्न चिरं सम्पद् ।[२]

अन्याय करने वाले व्यक्ति की सम्पत्ति चिरकाल तक नहीं रहती।

अपत्य देखिये "सन्तान"

अपराध

कृतापराधः स्वयमेव शङ्कते ।[३]

जो मनुष्य अपराधी होता है वह स्वयं ही शंकित रहता है।

न कश्चिन्नापराध्यति ।[४]

ऐसा कोई व्यक्ति नहीं जो कुछ अपराध न करता हो।

अज्ञातमपराधं यमोऽपि क्षमते ।[५]

अज्ञानवश किये हुए अपराध को यमराज भी क्षमा कर देता है।

अपमान

अवज्ञानं हि लोकेऽस्मिन् मरणादपि गर्हितम् ।[६]

इस लोक में अपमान मरण से भी अधिक गर्हित है।

अपध्वस्तो ह्यवमतो दुःखं जीवति जीवितम् ।[७]

अपध्वस्त एवं अपमानित मनुष्य बहुत कष्ट से जीवन बिताता है।

---

१ सो० नी० ८ । २०
२
३
४ वा० रा० ६ । ११६ । ४५
५ पु० ३५ वीं कथा
६ वन० २८ । १२
७ शान्ति० १५४ । १४

मा जीवन् यः परावज्ञादुःखदग्धोऽपि जीवति ।[१]

दूसरों के द्वारा अपमानित होकर जो दुःख से जीता है उसका न जीना अच्छा है।

अपयश

अकीर्तिर्जीवितं हन्ति जीवतोऽपि शरीरिणः ।[२]

अपयश जीते हुए मनुष्य के भी जीवन को विनष्ट कर देता है।

सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ।[३]

सम्मानित व्यक्ति का अपयश मरण से भी बढ़कर कष्टकर होता है।

अभिमान

पराभवस्य ह्येतन्मुखं यदतिमानः ।[४]

यह जो अभिमान है वह पराभव का मुख है अर्थात् प्रमुख कारण है।

मानं हित्वा प्रियो भवति ।[५]

अभिमान छोड़ देने से मनुष्य सबका प्रिय हो जाता है।

उत्सेको हस्तगतमपि कार्यं विनाशयति ।[६]

अभिमान हाथ में आये काम को भी बिगाड़ देता है।

अभिमानी

स्तब्धा न पश्यन्ति हि धाम भूयसाम् ।[७]

अभिमानी व्यक्ति बड़े लोगों के महत्त्व को नहीं समझते।

---

१ शि० व० २ । ४५
२ वन० ३०० । ३२
३ गीता २ । ३४
४ शत० ५ । १ । १ । १
५ वन० ३१३ । ७८
६ सो० नी० १० । १४९
७ भाग० ४ । ३ । १७

अभ्यास

यद् यदभ्यस्यते लोके तन्मयेनैव भूयते ।[1]

मनुष्य जिस-जिस वस्तु या क्रिया का अभ्यास करता है वह उसी का रूप हो जाता है।

विषाण्यमृततां यान्ति सन्ताभ्यासयोगतः ।[2]

निरन्तर अभ्यास करने से विष भी अमृत हो जाता है।

न किञ्चन फलं धत्ते स्वाभ्यासेन विना क्रिया ।[3]

उत्तम अभ्यास के विना कोई क्रिया फलवती नहीं होती।

स्वभ्यस्तं सर्वदा स्वदते ।[4]

जो कुछ मनुष्य को अच्छी तरह अभ्यस्त होता है वही अच्छा लगता है।

अभ्यासः कर्मसु कौशलमुत्पादयत्येव ।[5]

अभ्यास अवश्य ही कार्यों में कुशलता ला देता है।

न चाभ्यासस्य दुःकरं नाम किञ्चिदस्ति ।[6]

अभ्यास के लिए कुछ भी दुष्कर (कठिन) नहीं है।

अभ्युदय

भवन्त्युदयकाले हि सत्कल्याणपरम्पराः ।[7]

जब मनुष्य के अभ्युदय का समय आता है तो सभी बातें अच्छी होने लगती हैं।

---

१ योवा० २ । ६ । ३६
२ योवा० नि० उ० ६७ । ३३
३ योवा० मु० १८ । ११
४ योवा० नि० उ० ११६ । ६४
५ सो० नी० ११ । ८
६
७ क० स० ३ । ४ । ४४

अमरता

विद्ययाऽमृतमश्नुते ।[१]

अध्यात्मविद्या से मनुष्य अमरता को प्राप्त होता है।

अमर्ष (क्रोध, असहिष्णुता, ईर्ष्या)

नाऽमर्षं कुरुते यस्तु पुरुषः सोऽधमः स्मृतः ।[२]

जो मनुष्य (शत्रु पर) अमर्ष नहीं करता वह अधम है।

एतावानेव पुरुषो यदमर्षी यदक्षमी ।[३]

जिस मनुष्य को (अन्याय पर) क्रोध आता है और जो अन्याय को सहन नहीं कर सकता, वही पुरुष है।

अमर्षशून्येन जनस्य जन्तुना न जातहार्देन न विद्विषादरः ।[४]

जिस मनुष्य को अपमानित होने पर भी क्रोध नहीं आता उसकी मित्रता और द्वेष दोनों बराबर हैं।

अमर्षवशमापन्नो न किञ्चिद् बुध्यते जनः ।[५]

अमर्ष के वशीभूत हो जाने पर मनुष्य (अच्छा या बुरा) कुछ भी नहीं समझता है।

अमर्षजो हि सन्तापः पावकाद्दीप्तिमत्तरः ।[६]

अमर्ष के कारण उत्पन्न सन्ताप अग्नि से भी अधिक दाहक होता है।

अयोग्य

अयोग्यः पुरुषो नास्ति योजकस्तत्र दुर्लभः ।[७]

कोई भी पुरुष अयोग्य नहीं होता। केवल उससे काम लेने वाला व्यक्ति दुर्लभ होता है।

---

१ ईशो० ११
२ वन ५०। १७
३ आदि. १३२। ३३
४ किरात. १। ३३
५ उद्योग. १२४। ४२
६
७

अराजकता

नाऽराजके जनपदे योगक्षेमः प्रवर्तते ।[1]

देश में अराजकता फैल जाने पर किसी का योगक्षेम नहीं चल पाता है ।

नाऽराजके जनपदे स्वकं भवति कस्यचित् ।[2]

देश में अराजकता हो जाने पर किसी की कोई वस्तु अपनी नहीं रह जाती ।

राजन्यसति लोकेऽस्मिन् कुतो भार्या कुतो धनम् ।[3]

(अच्छे) राजा (शासक) के न रहने पर कैसे स्त्री बच सकती है और कैसे धन रह सकता है ।

मृतं राष्ट्रमराजकम् ।[4]

(अच्छे) राजा से विहीन राष्ट्र मृत हो जाता है - विनष्ट हो जाता है ।

शोच्यं राज्यमराजकम् ।[5]

अराजकता हो जाने पर राज्य शोचनीय हो जाता है ।

नाऽराजके जनपदे कश्चिदर्थः प्रसिद्धचति ।[6]

अराजकता से ग्रस्त जनपद में कोई काम सिद्ध नहीं होता ।

अर्थ (धन, वित्त, सम्पत्ति, श्री)

एतावान् खलु वै पुरुषो यावदस्य वित्तम् ।[7]

मनुष्य उतनी ही मात्रा में पुरुष होता है जितनी मात्रा में उसके पास धन होता है ।

---

१ वा० रा० २ । ६७ । २४
२ वा० रा० २ । ६७ । ३१
३ शान्ति० ५७ । ४१
४ वन० ३ । ३ । ८४
५ चा० नी० । ५७
६
७ तै० सं० १ । ४ । ७ ७

श्रीर्हि मनुष्यस्य सुवर्गो लोकः ।[१]

सम्पत्ति हो मनुष्य का सुवर्ग लोक है, स्वर्ग लोक है।

अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित् ।[२]

पुरुष अर्थ का दास होता है, अर्थ किसी का दास नहीं होता।

अर्थ इत्येव सर्वेषां कर्मणामव्यतिक्रमः ।[३]

सब कामों के ठीक-ठीक होने का यह अर्थ ही एकमात्र कारण है।

यस्यार्थास्तस्य मित्राणि यस्यार्थास्तस्य बान्धवाः ।[४]

जिसके पास अर्थ होता है उसी के मित्र होते हैं और उसी के भाई-बन्धु होते हैं।

प्राणयात्रापि लोकस्य विना ह्यर्थं न सिद्धचति ।[५]

विना अर्थ के लोगों की प्राणयात्रा भी नहीं चल सकती है।

सर्वं धनवता प्राप्यं सर्वं तरति कोशवान् ।[६]

धनवान् व्यक्ति सब कुछ पा सकता है और जिसके पास कोश है वह सब आपत्तियों को पार कर जाता है।

धनाद् धर्मः प्रवर्तते ।[७]

धन से धर्म होता है।

नाऽधनो धर्मकृत्यानि यथावदनुतिष्ठति ।[८]

धनहीन व्यक्ति धार्मिक कृत्यों को विधिपूर्वक नहीं कर सकता।

धनाद्धि धर्मः स्रवति शैलादधि नदी यथा ।[९]

धन से धर्म निकलता है जैसे पर्वत से नदी निकलती है।

---

१ तै० सं० ७ । ४ । ४ । २
२ भीष्म ४३ । ४१
३ शान्ति० १६७ । १२
४ शान्ति० ८ । १६
५ शान्ति० ८ । १७
६ शान्ति० १३८ । ११
७ शान्ति० ८ । २२
८ शान्ति० ८ । २३
९ शान्ति० ८२३

धर्मं संहरते तस्य धनं हरति यस्य सः ।[1]

जो मनुष्य किसी के धन का हरण कर लेता है, वह उसके धर्म का हरण कर लेता है।

योऽर्थैर्हीनो धर्मकामौ जहाति ।[2]

जो व्यक्ति अर्थ से हीन होता है वह धर्म एवं काम से भी हीन होता है।

निवृत्तेऽर्थे न वर्तेते धर्मकामाविति श्रुतिः ।[3]

अर्थ के चले जाने पर धर्म और काम ये दोनों भी नहीं रह जाते, यह वेदवाक्य है।

अर्थस्यावयवावेतौ धर्मकामाविति श्रुतिः ।[4]

धर्म और काम ये दोनों अर्थ के अवयव हैं, ऐसा वेद कहता है।

नाऽधनस्यास्त्ययं लोको न परस्य कथञ्चन ।[5]

धनहीन व्यक्ति के लिए न यह लोक किसी प्रकार सुखद होता है और न परलोक ही।

संसृतौ व्यवहाराय सारभूतं धनं स्मृतम् ।[6]

संसार में व्यवहार के लिए सारभूत धन कहा गया है।

अर्थ एव प्रधान इति कौटिल्यः । अर्थमूलौ हि धर्मकामाविति ।[7]

चारो पुरुषार्थों में अर्थ ही प्रधान है ऐसा कौटिल्य का मत है। क्योंकि धर्म और काम का भी अर्थ ही मूल साधन है।

अर्थैरर्थाः प्रबध्यन्ते गजाः प्रतिगजैरिव ।[8]

अर्थ से ही अर्थ उसी प्रकार प्राप्त किया जाता है जिस प्रकार हाथी से ही हाथी प्राप्त किये जाते हैं।

---

१ शान्ति० ८ । १३
२ शान्ति० १२० । ४७
३ शान्ति० १६७ । १४
४ शान्ति० १६७ । १४
५ स्कन्द० भा० कौ० २ । २०६
६ शुक्र० ३ । १७६
७ कौ० अ० १ । ७ १०-११
८ कौ० अ० ९ । ४ । २

अर्थो ह्यर्थस्य नक्षत्रं किं करिष्यन्ति तारकाः ।[१]

अर्थप्राप्ति के लिए शुभ नक्षत्र अर्थ ही है, ताराएँ क्या करेंगी ?

सुखस्य मूलं धर्मः । धर्मस्य मूलमर्थः ।[२]

सुख का मूल धर्म है। धर्म का मूल अर्थ है।

अर्थो हि लोके पुरुषस्य बन्धुः ।[३]

अर्थ ही संसार में मनुष्य का बन्धु है।

सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति ।[४]

सभी गुण काञ्चन (सुवर्ण-धन) का ही सहारा लेते हैं।

मित्राण्यमित्रतां यान्ति यस्य न स्युः कपर्दकाः ।[५]

जिसके पास पैसे-कौड़ी न हों, उसके मित्र भी अमित्र बन जाते हैं।

अर्थेन तु ये हीना वृद्धास्ते यौवनेऽपि स्युः ।[६]

जिनके पास धन नहीं होता, वे जवानी में भी बूढ़े हो जाते हैं।

गौरवं लाघवं चापि धनाधननिबन्धनम् ।[७]

मनुष्य का गौरव अथवा लाघव उसकी सम्पत्ति अथवा निर्धनता के ऊपर अवलम्बित है।

धनेन बलवान् लोके धनाद् भवति पण्डितः ।[८]

संसार में मनुष्य धन से ही बलवान् होता है और धन से ही पण्डित होता है।

अर्थैर्विहीनः पुरुषो जीवन्नपि मृतोपमः ।[९]

अर्थहीन मनुष्य जीता हुआ भी मृतक के समान है।

---

१ कौ० अ० ९ । ४ । १
२ चा० सू० १ । १-२
३ चा० नी० १५ । ५
४ भ० नी० ४
५ पं० त० २ । १०२
६ प० त० १ । १०
७ हि० ३ । ८५
८ हि० १ । १२३
९ प० क्रि० ४ । २८

धनं यस्य कुलं तस्य बुद्धिस्तस्य स पण्डितः ।[1]

जिसके पास धन है, उसी का उत्तम कुल है, उसी को बुद्धि है तथा वही पण्डित है ।

अर्थतः पुरुषो नारी या नारी साऽर्थतः पुमान् ।[2]

पुरुष अर्थ के कारण नारी हो जाता है और नारी अर्थ के कारण पुरुष हो जाती है ।

यावद् वित्तोपार्जनसक्तस्तावत् निजपरिवारो रक्तः ।[3]

मनुष्य जब तक धन के उपार्जन में समर्थ होता है तभी तक उसका परिवार उससे प्रसन्न रहता है ।

धनेन जयते लोकमिमं चामुञ्च भारत ।[4]

भारत, धन से मनुष्य इस लोक और परलोक दोनों को भी जीत लेता है ।

धनमाहुः परं धर्मं धने सर्वं प्रतिष्ठितम् ।[5]

धन को ही सबसे बड़ा धर्म कहते हैं, धन के ऊपर ही सब कुछ प्रतिष्ठित है ।

मूलमर्थस्य संरक्ष्यमेव कार्यविदां नयः ।

अर्थ के मूल (पूँजी) को सुरक्षित रखना चाहिए, यह कार्यकुशल लोगों की नीति है ।

येऽर्था धर्मेण ते सत्या येऽधर्मेण धिगस्तु तान् ।[6]

जो धन धर्म के मार्ग से मिलता है वही वास्तविक है । जो धन अधर्म से मिलता है, उसे धिक्कार है ।

---

१ प० क्रि० ४ । २७

२ मृच्छ० ३ । २७

३ भ० गी० ५

४

५

६ वा० रा० ४ । ६५ । १६

७ शान्ति० २९८ । १९

दत्तभुक्तफलं धनम् ।[1]

दान देना और भोग करना यही दो धन के उपभोग हैं।

उपार्जितानां वित्तानां त्याग एव हि रक्षणम् ।[2]

कमाये हुए धन का त्याग ही उसकी रक्षा है।

धनेन किं यन्न ददाति नाश्नुते ।[3]

उस धन से क्या लाभ, जिसका न मनुष्य दान करता है और न उपभोग करता है।

अभोगस्य हतं धनम् ।[4]

जो व्यक्ति धन का उपभोग नहीं करता उसका धन बेकार है।

यो न ददाति न भुंक्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति ।[5]

जो व्यक्ति धन का न दान करता है और न भोग करता है उसके धन की तीसरी गति (नाश . होती है।

धनानामेष वै पन्थास्तीर्थेषु प्रतिपादनम् ।[6]

सत्पात्रों को दान देना यही धन का उपयोग है।

भोगो भूषयते धनम् ।[7]

भोग ही धन का भूषण है-शोभा है।

सहायबन्धना ह्यर्थाः सहायाश्चार्थबन्धनाः ।[8]

अर्थ सहायकों के अधीन होता है और सहायक अर्थ के अधीन होते हैं।

---

१ उद्योग० ३९ । ५५
२ चा० नी० ७ । १४, ३ । ५९
३ शान्ति० ३२१ । ९३
४ चा० नी० शा० स० ६१०
५ पञ्च० २ । १५४
६
७ चा० नी० ८ । १५
८ उद्योग० ३७ । ३८

अर्थस्य मूलमुत्थानमनर्थस्य विपर्ययः ।[1]

अर्थ का मूल कारण उद्योग-परायणता है और अनर्थ का मूल कारण इसके विपरीत विना काम के बैठे रहना है।

परीक्ष्यकारिणि श्रीश्चिरं तिष्ठति ।[2]

जो व्यक्ति सोच-विचार कर काम करता है, उसके पास बहुत दिनों तक सम्पत्ति रहती है।

निरुत्सुकानामभियोगभाजां समुत्सुकेवाङ्कमुपैति लक्ष्मीः ।[3]

जो लोग फल के प्रति उत्सुक न रहकर निरन्तर काम में डटे रहते हैं उनकी गोदी में बड़ी उत्सुकता के साथ लक्ष्मी स्वयं हो चली आती है।

पात्रत्वाद् धनमाप्नोति ।[4]

पात्र अर्थात् सुयोग्य बनने से मनुष्य धन प्राप्त करता है।

प्रयत्नात् प्राप्यते ह्यर्थः ।[5]

पुरुषार्थ करने से अर्थ प्राप्त होता है।

कणनाशे कुतो धनम् ।[6]

यदि एक कण का भी नाश होता है तो धन कैसे बढ़ सकता है?

अर्थत्यागोऽपि कार्यः स्यादर्थं श्रेयांसमिच्छता ।[7]

किसी बड़े अर्थ के लाभ में छोटे अर्थ का त्याग भी करना होता है।

वित्तं यावत्प्रयोजनम् ।[8]

मनुष्य के पास धन उतना ही होना चाहिए जितने से उसका आवश्यक काम चल सके।

---

१ कौ० अ० १ । १९ । ४०
२ चा० सू० २ । २१
३ किरात० ३ । ४०
४ हितो० प्र० ६
५ शान्त० १५५ । ५१
६ चा० नी०
७ वन० ३३ । ६५
८ मा० पु० ८ । १० । २७

यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम् ।[1]

जितने धन से मनुष्य का पेट भर सके अर्थात् उसकी अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके उतने ही धन पर उसका अधिकार होता है।

इच्छानुरूपो विभवः कदा कस्य भविष्यति ।[2]

इच्छानुरूप सम्पत्ति किसको कब हो सकती है ?

अर्थवान्

एष वै मनुष्यस्य स्वर्गो लोको यदस्मिन् लोके वसीयान् भवति ।[3]

उस मनुष्य के लिए यही स्वर्गलोक है जो इस लोक में अधिक धनवान् है, सम्पत्तिशाली है।

ककुदं सर्वभूतानां धनस्थो नात्र संशयः ।[4]

धनवान् सब प्राणियों में श्रेष्ठ होता है, इसमें सन्देह नहीं।

धनवन्तं हि मित्राणि भजन्ते चाश्रयन्ति च ।[5]

मित्र धनवान् के ही साथ रहते हैं और उन्हीं का आश्रय लेते हैं।

अकुलीनोऽपि धनवान् कुलीनाद् विशिष्टः ।[6]

धनवान् अकुलीन होने पर भी कुलीन पुरुष से विशिष्ट होता है।

विरूपोऽप्यर्थवान् सुरूपः ।[7]

धनवान् विरूप होने पर भी सुरूप होता है।

अर्थवान् सर्वलोकस्य बहुमतः ।[8]

धनवान् पुरुष सब लोगों के लिए माननीय होता है।

---

१ भा० पु० ७ । १४ । ८
२ प० त० २ । २१
३ काठक० ८ । १
४ शान्ति० ८८ । ३०
५ उद्योग० १३५ । ३८
६ चा० सू० ४ । २७
७ चा० सू० ४ । २५
८ चा० सू० ४ । २२

भयमर्थवतां नित्यं मृत्योः प्राणभृतामिव ।[1]

अर्थवान् लोगों को उसी प्रकार बराबर भय बना रहता है जिस प्रकार मृत्यु का भय शरीरधारियों को बना रहता है।

अर्थार्थी

अर्थार्थी जीवलोकोऽयं श्मशानमपि सेवते ।[2]

संसार के लोग अर्थार्थी होते हैं और अर्थ के लिए वे श्मशान का भी सेवन करते हैं।

अर्थातुराणां न गुरुर्न बन्धुः ।[3]

जो लोग अर्थ के लिए आतुर होते हैं उनके लिए न कोई गुरु होता है और न कोई बन्धु होता है।

अलस (आलसी)

निरीहो नाऽश्नुते महत् ।[4]

निश्चेष्ट एवं आलसी व्यक्ति किसी महान् वस्तु को नहीं प्राप्त कर पाता।

अलक्ष्मीराविशत्येनं शयानमलसं नरम् ।[5]

हमेशा सोते रहने वाले आलसी मनुष्य को अलक्ष्मी (दरिद्रता) अपना निवास बना लेती है।

अलसस्य कुतो विद्या कुतो वित्तं कुतो यशः ।[6]

आलसी व्यक्ति को विद्या, धन या यश कैसे प्राप्त हो सकता है?

---

१ हि० १ । १८३
२ पं० त० १ । ६
३ उद्योग० १३३ । ३४
४ वन० ३२ । ४२
५
६ शान्ति० १४० । २३

नाऽलसाः प्राप्नुवन्त्यर्थान्न क्लीवा नाभिमानिनः ।[1]

आलसी, नपुंसक तथा अभिमानी व्यक्तियों के काम सिद्ध नहीं होते।

नाऽस्त्यलसस्य ऐहिकमामुष्मिकं वा ।[2]

आलसी व्यक्ति का न कोई ऐहिक काम सिद्ध होता है, न पारलौकिक।

अलब्धलाभो नाऽलसस्य ।[3]

आलसी व्यक्ति प्राप्त वस्तु की भी रक्षा नहीं कर सकता।

न चाऽलसस्य रक्षितं विवर्धते ।[4]

आलसी व्यक्ति के पास जो धन रहता है, उसकी वृद्धि नहीं होती।

अल्पविद्य

कर्मभोगेन बध्यन्ते क्लिश्यन्ते चाऽल्पबुद्धयः ।[5]

अल्पबुद्धि लोग कर्मभोग के बन्धन में पड़ते हैं और क्लेश पाया करते हैं।

अल्पविद्यो महागर्वी ।[6]

थोड़ी विद्या वाले लोग बहुत गर्वीले होते हैं।

ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्माऽपि नरं न रञ्जयति ।[7]

जो थोड़े ही ज्ञान पर अपने को बड़ा विज्ञानी समझता है, उसे ब्रह्मा भी नहीं प्रसन्न कर सकते।

---

१ चा० सू० १ । १८
२ चा० सू० १ । ३८
३ चा० सू० १ । १९
४ चा० सू० १ । ४०
५ स्त्री० ३ । १९
६
७ म० नी० ३

यत्र विद्वज्जनो नास्ति श्लाघ्यस्तत्राल्पधीरपि ।[1]

जहाँ कोई विद्वान् न हो वहाँ अल्पज्ञ जन भी श्लाघनीय होता है।

अल्पसत्त्व

तुच्छोऽप्यर्थोऽल्पसत्त्वानां गच्छति प्रार्थनीयताम् ।[2]

जो मनुष्य अल्पसत्त्व होते हैं, उनके लिए छोटा भी काम बड़ा काम हो जाता है।

अवस्था

अवस्था वस्तूनि प्रथयति च संकोचयति च ।[3]

अवस्था अर्थात् परिस्थिति वस्तुओं का महत्त्व बढ़ाती है और घटाती है।

अवस्था खलु नाम शत्रुमपि सुहृत्त्वे कल्पयति ।[4]

अवस्था शत्रु को भी मित्र के रूप में बदल देती है।

अविनय

श्रियं त्यविनयो हन्ति ।[5]

मनुष्य का अविनय (धृष्टता, ढिठाई) उसकी श्री को तथा शोभा और सम्पत्ति को नष्ट कर देती है।

अविवेक

अविवेकः परमापदां पदम् ।[6]

अविवेक आपत्तियों का प्रधान स्थान है, कारण है।

---

१ हि० १।६९
२ योवा० उत्पत्ति० ७०।३१
३ म० नी० ४५
४ प्र० यौ० १।६
५ उद्योग० ३४।१२
६ किरात० २।३०

विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः ।[1]

जो लोग विवेकभ्रष्ट हो जाते हैं उन लोगों का सैकड़ों प्रकार से पतन हो जाता है।

अव्यवस्था

अव्यवस्था च सर्वत्र एतन्नाशनमात्मनः ।[2]

सब कामों में अव्यवस्था होना यह अपने विनाश का कारण होता है।

अव्यवस्थित

अव्यवस्थितचित्तस्य प्रसादोऽपि भयंकरः ।[3]

अव्यवस्थित चित्तवाले का प्रसन्न होना भी भयंकर होता है।

अशन– देखिये "भोजन"

अशान्त

अशान्तस्य कुतः सुखम् ।[4]

जिसे शान्ति नहीं उसे सुख कहाँ ?

असत्य—देखिये "अनृत"

असन्तोष

असन्तोषस्य नास्त्यन्तस्तुष्टिस्तु परमं सुखम् ।[5]

असन्तोष का अन्त नहीं है और सन्तोष ही परम सुख है।

---

१ भ० नी० १०
२ अनु० ३७ । १९
३ व्या० सु० सं० ७०
४ गीता २ । ६६
५ वन० २१५ । २२

पुंसोऽयं संसृतेर्हेतुरसन्तोषोऽर्थकामयोः ।[1]

अर्थ एवं काम के विषय में असन्तोष ही मनुष्य के जीवन-मरण का कारण है।

असाध्य

तस्य किमसाध्यं नाम यो महामुनिरिव सर्वान्नीनः सर्वक्लेशसहः सुखशायी ।[2]

उस व्यक्ति के लिए क्या असाध्य है जो महामुनि की तरह सब प्रकार का अन्न खा सकता है, सब क्लेश सह सकता है तथा सब जगह सुखपूर्वक सो सकता है।

असूया

असूया वर्तते यस्मिन् तस्य विष्णुः पराङ्मुखः ।[3]

जिस व्यक्ति में असूया होती है उससे भगवान् पराङ्मुख रहते हैं।

अहंकार

अहंकारजयं कृत्वा सर्वथा सुखभाग् भवेत् ।[4]

अहंकार को जीत कर मनुष्य सब प्रकार से सुखी हो जाता है।

दुरुच्छेदा हि भूतानामहङ्कारचमत्कृतिः ।[5]

प्राणियों में जो अहंकार का उद्दाम भाव है उसको मिटाना बहुत कठिन है।

अज्ञानप्रभवाऽहंधीः स्वपरेति भिदा यतः ।[6]

मनुष्य में अज्ञान के कारण अहङ्कारबुद्धि होती है जिसके कारण "अपना और पराया" का भेदभाव उत्पन्न होता है।

---

१ ६ भा० पु० ८ । २० । २५

२ सो० नी० प्र० ५५

३ ३ बृ० ना० ७ । ३६

४ दे० भा० ६ । १३ । ५०

५ यो० वा० उ० ७० । ७७

६ भाग० १० । ४ । २६

अहिंसा

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ।[1]

जिस व्यक्ति में पूर्णरूप से अहिंसा प्रतिष्ठित हो जाती है, उस व्यक्ति के पास सब लोग बैरभाव का परित्याग कर देते हैं।

अहिंसा सर्वधर्माणामिति वृद्धानुशासनम् ।[2]

सब धर्मों में अहिंसा श्रेष्ठ धर्म है ऐसा वृद्धजनों का कहना है।

अहिंसया च दीर्घायुरिति प्राहुर्मनीषिणः ।[3]

अहिंसा के पालन से मनुष्य दीर्घायु होता है, ऐसा विद्वान कहते हैं।

यदहिंस्रं भवेत् कर्म तत् कार्यमिति विद्महे ।[4]

जो काम हिंसारहित हो उसे ही करना चाहिए, ऐसा हम समझते हैं।

अहिंसा सर्वभूतानामेतत् कृत्यतमं मतम् ।[5]

समस्त प्राणियों के साथ अहिंसा का व्यवहार रखना, यह सबसे श्रेष्ठ काम है।

न भूतानामहिंसाया ज्यायान् धर्मोऽस्ति कश्चन ।[6]

प्राणियों की अहिंसा से बढ़ कर कोई भी धर्म श्रेष्ठ नहीं है।

अन्यत्र राजन् हिंसाया वृत्तिर्नेहास्ति कस्यचित् ।[7]

राजन्, हिंसा (सूक्ष्म हिंसा) को छोड़ देने से किसी भी मनुष्य की जीविका नहीं चल सकती। (भीष्म का वक्तव्य)

नहि पश्यामि जीवन्तं लोके कञ्चिदहिंसया ।[8]

किसी भी व्यक्ति को मैं संसार में विना हिंसा (सूक्ष्म हिंसा) के जीता हुआ नहीं देखता हूँ। (अर्जुन का वक्तव्य)

---

१ अनु० १४६ । ८
२ आश्व० २८ । १६
३ अनु० १६३ । १२
४ आश्व० २८ । १६
५ आश्व० ५० । ३
६ शान्ति० १३० । २८
७ शान्ति० ११० । २८
८ शान्ति० १५ । २०

नास्ति कश्चिदहिंसकः ।[१]

कोई भी व्यक्ति सम्पूर्ण रूप से अहिंसक नहीं है।

आग्रह

ग्रह एकाकिनं हन्ति आग्रहः सर्वनाशकः ।[२]

ग्रह अकेले एक ही व्यक्ति का नाश करता है पर आग्रह सबका नाश कर देता है।

बुद्धेः फलमनाग्रहः ।[३]

आग्रह न होना ही बुद्धि का फल है—लाभ है।

आचार

आचारः प्रथमो धर्मः ।[४]

आचार (अच्छा आचरण) मनुष्य का पहला धर्म है।

आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः ।[५]

आचारहीन मनुष्य को वेदों का अध्ययन पवित्र नहीं करता।

सर्वागमानामाचारः प्रथमं परिकल्प्यते ।[६]

समस्त आगमों में आचार की प्रथम गणना होती है—प्रथम महत्त्व दिया जाता है।

नहि सर्वहितः कश्चिदाचारः सम्प्रवर्तते ।[७]

कोई भी ऐसा आचार नहीं है जो सबके लिए हितकारी हो।

आचारः कुलमाख्याति ।[८]

—मनुष्य का आचरण ही उसके कुल को बतलाता है।

---

१ वन० ३०७
२
३
४ मनु० १ । १०८
५ व० स्मृ० ६ । ३
६ शान्ति० १३५ । १३७
७ शान्ति० २६० । १७
८ चा० नी० ३ । २

आचार्य

आचार्यः कस्माद्, आचारं ग्राहयति ।[1]

आचार्य को आचार्य क्यों कहा जाता है ? इसलिये कि वह आचार की शिक्षा देता है ।

आचार्यवान् पुरुषो वेद ।[2]

जिसके श्रेष्ठ आचार्य होते हैं, वही ज्ञान प्राप्त करता है ।

आचार्याद्धचैव खलु विदिता विद्या साधिष्ठं ग्राहयति ।[3]

आचार्य से ही पढ़ी हुई विद्या शिष्य को अधिक लाभ पहुँचाती है ।

आचार्यदेवो भव ।[4]

आचार्य को देवतुल्य मानो ।

आडम्बर

निस्सारस्य पदार्थस्य प्रायेणाडम्बरो महान् ।[5]

सारहीन पदार्थ का ऊपरी आडम्बर प्रायः बहुत अधिक हुआ करता है ।

गुणेषु क्रियतां यत्नः किमाटोपैः प्रयोजनम् ।[6]

गुणों को सीखने का प्रयत्न करना चाहिए, बाहरी आडम्बरों से कुछ नहीं होगा ।

आतिथ्य

शिरो वा एतद् यज्ञस्य यदातिथ्यम् ।[7]

यह जो आतिथ्य है वह यज्ञ का शिर है, अर्थात् सर्वश्रेष्ठ कर्तव्य है।

---

१ नि० १ । ४
२ छा० उ० ६ । १० । २
३ छा० उ० ४ । ९ । ३
४ तै० उ० १ । ११ । १
५ सु० र० भा०
६ सु० र० भा०
७ ऐ० ब्रा० १ । १७ । १ । २५

यावद्भिर्वै राजाऽनुचरैरागच्छति सर्वेभ्यो वै तेभ्य आतिथ्यं क्रियते ।[१]

राजा जितने अनुचरों के साथ आता है, उन सब लोगों का आतिथ्य किया जाता है ।

अरावप्युचितं कार्यमातिथ्यं गृहमागते ।[२]

घर में आ जाने पर शत्रु का भी उचित आतिथ्य करना चाहिए।

आत्मज्ञान

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः ।[३]

यदि इसी जीवन में आत्मा का ज्ञान हो गया तो, यही सच्चा लाभ है। यदि ऐसा नहीं हुआ तो यह बहुत बड़ी हानि होगी।

यो वा एतदक्षरमविदित्वा अस्माल्लोकात् प्रैति स कृपणः ।[४]

जो इस अविनाशी आत्मतत्त्व का ज्ञान किये विना इस लोक से प्रयाण करता है वही कृपण है-अकिञ्चन है।

अयं तु परमो लाभो यद् योगेनात्मदर्शनम् ।[५]

यही तो सबसे बड़ा लाभ है कि मनुष्य को योग-साधना द्वारा आत्मा का दर्शन हो जाय।

आत्मज्ञानी

तरति शोकमात्मवित् ।[६]

आत्मज्ञानी मनुष्य सभी सांसारिक शोक को पार कर जाता है।

---

१ तै० स० ६।२।१।२
२ हि० १।५९
३ के० उ० २।५
४ बृ० उ० ३।४।१०
५ याज्ञ० १।८
६ छा० उ० ७।१।३

य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति अथेतरे दुःखमेवापि यन्ति ।[१]

जो इस आत्मा को जान लेते हैं वे अमर हो जाते हैं और जो नहीं जानते हैं वे दुःख भोगते रहते हैं।

आत्मप्रशंसा

इन्द्रोऽपि लघुतां याति स्वयं प्रख्यापितैर्गुणैः ।[२]

अपने गुणों का अपने-आप प्रख्यापन करने से इन्द्र भी लघुता को प्राप्त हो जाता है।

आत्मबल

सत्त्वाधीना हि सिद्धयः ।[३]

सिद्धियाँ सत्त्व (आत्मबल) के अधीन होती हैं।

क्रियासिद्धिः सत्त्वे भवति महतां नोपकरणे ।[४]

महान् पुरुषों की क्रियासिद्धि सत्व (आत्मबल) के कारण होती है, उपकरणों के कारण नहीं।

आत्मा (जीव, परमात्मा, ब्रह्म, मन, बुद्धि, शरीर)

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ।[५]

यह आत्मा अजन्मा है, नित्य है और शाश्वत है। वह शरीर के नष्ट होने पर नष्ट नहीं होता।

अणोरणीयान् महतो महीयानात्माऽस्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् ।[६]

यह आत्मा छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा है और यह सभी प्राणियों की हृदय रूपी गुहा में निवास करता है।

---

१ बृ० उ० ४ । ४ । १६

२ चा० नी० १३ । ८

३

४ भो० प्र० १६ । ७

५ कठ० १ । २ । १८

६ कठ० २ । २०

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा
सम्यग् ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् ।[१]

यह आत्मा सत्य, तप, सम्यग् ज्ञान और नित्य ब्रह्मचर्य के पालन से प्राप्त होता है।

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्तपसो वाऽप्यलिङ्गात् ।[२]

यह आत्मा बलहीन मनुष्य को नहीं प्राप्त होता और न तो प्रमाद तथा विधिहीन तप से ही प्राप्त होता है।

तमेवैकं जानथ, अन्या वाचो विमुञ्चथ, अमृतस्यैष सेतुः ।[३]

एकमात्र आत्मा को—अपने आप को—पहचानो। अन्य सब बातें करना छोड़ दो। संसारसागर से पार होकर अमृतत्व तक पहुँचाने का यही एक सेतु है।

आत्मैव ह्यात्मनः साक्षी गतिरात्मा तथाऽत्मनः ।[४]

आत्मा ही आत्मा का साक्षी है और आत्मा ही आत्मा की गति है।

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मन ।[५]

मनुष्य स्वयं ही अपना बन्धु है और स्वयं ही अपना शत्रु है।

आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम् ।[६]

आत्मा सर्वदेवस्वरूप है अर्थात् दिव्य शक्तियों का केन्द्र है तथा आत्मा में ही सब कुछ अवस्थित है।

आत्मा संयमितो येन तं यम किं करिष्यति ।[७]

जिसने आत्मा को संयमित अर्थात् अपने अधीन कर लिया, उसका यमराज क्या कर सकता है।

---

१ मुण्डक० ३ । १ । ५
२ मुण्डक० ३ । २ । ४
३ मुण्डक० २ । ३ । ५
४ मनु० ८ । ८४
५ गीता० ६ । ५
६ मनु० १२ । ११९
७ आ० स्मृ० १० । ३

न ह्यात्मनः प्रियतरं किञ्चिद् भूतेषु निश्चितम् ।[१]

प्राणियों में आत्मा से बढ़कर कोई वस्तु अधिक प्रिय नहीं होती, यह निश्चित है।

न त्वेवात्माऽवमन्तव्यः पुरुषेण कदाचन ।[२]

मनुष्य को कभी भी आत्मा का (अपना) अपमान नहीं करना चाहिए।

न ह्यात्मपरिभूतस्य भूतिर्भवति शोभना ।[३]

जिस व्यक्ति की आत्मा परिभूत हो जाती है—दब जाती है, उसकी अच्छी उन्नति नहीं होती।

आत्मा सर्वस्य भाजनम् ।[४]

आत्मा ही समस्त शुभाशुभ परिणामों का भाजन-पात्र है।

आत्मायत्तौ वृद्धिविनाशौ ।[५]

वृद्धि और विनाश अपने ही अधीन हैं।

आत्मना बध्यते जन्तुरात्मनैव प्रमुच्यते ।[६]

मनुष्य अपने से ही बन्धन में पड़ता है और अपने से ही मुक्त होता है।

आत्मना विहितं दुःखमात्मना विहितं सुखम् ।[७]

अपने ही द्वारा पैदा किया हुआ दुःख है और अपने ही द्वारा पैदा किया हुआ सुख है।

---

१ स्त्री० ७ । २७
२ वन० ३२ । ५८
३ वन० ३२ । ५५
४ शल्य० ४ । ४२
५ चा० सू० १ । ८३
६
७

आत्मनैकेन योद्धव्यम् ।[१]

एकमात्र आत्मा से—अपने से ही युद्ध करना चाहिए और उसी को वश में करना चाहिए।

आत्मानमेव प्रथमं द्वेष्यरूपेण योजयेत् ।[२]

पहले अपने को ही अपना शत्रु मानना चाहिए (और उसका सुधार करना चाहिए)।

आनन्द

आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति ।[३]

आनन्दस्वरूप ब्रह्म से ही ये सब प्राणी उत्पन्न होते हैं. उत्पन्न होकर आनन्द से ही जीते हैं, अन्त में आनन्द को ही प्राप्त होते हैं तथा उसी में विलीन हो जाते हैं।

को ह्येवान्यात् क प्राण्यात् यदेष आनन्दो न स्यात् ।[४]

यदि यह आनन्द न होता तो कौन जीता और कौन श्वास लेता ?

एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति ।[५]

अन्य समस्त प्राणी इसी महान् आनन्द की थोड़ी मात्रा लेकर जीवित रहते हैं।

स यो मनुष्याणां राद्धः समृद्धो भवत्यन्येषामधिपतिः सर्वैर्मानुषकैर्भोगैः सम्पन्नतमः स मनुष्याणां परम आनन्दः ।[६]

वह जो मनुष्यों में स्वस्थ होता है, समृद्ध होता है, अन्य लोगों का अधिपति होता है तथा मनुष्यों के समस्त भोगों सुख साधनों से अतिशय सम्पन्न होता है तो वह मनुष्यों का सबसे बड़ा आनन्द कहा जाता है।

---

१ आश्व० १२ । १४
२ उद्योग० ३४ । ८१
३ तै० उ० ३ । ६
४ तै० उ० २ । ७
५ बृ० उ० ४ । ३ । ३२
६ बृ० उ० ४ । ३ । ३३

आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कदाचन ।[1]

ब्रह्म के आनन्द को जानने वाला व्यक्ति कभी भी भयभीत नहीं होता ।

सर्वेषामानन्दानामुपस्थ एव एकायनम् ।[2]

सभी आनन्दों का एकमात्र प्रातिस्थान उपस्थ ही है ।

एति जीवन्तमानन्दो नरं वर्षशतादपि ।[3]

मनुष्य जीता रहता है तो सौ वर्ष के बाद भी उसे आनन्द प्राप्त होता है ।

आपत्-आपत्ति

कानापदो नोपनमन्ति लोके परावरज्ञास्तु न संभ्रमन्ति ।[4]

आपत्तियाँ किनपर नहीं आतीं ? पर जो तत्त्वज्ञानी होते हैं, वे उनसे विचलित नहीं होते ।

जनस्य स्थिरतां यान्ति नापदो न च सम्पदः ।[5]

मनुष्यों की न तो आपत्तियाँ ही स्थिर होती हैं और न सम्पत्तियाँ ही ।

केनापदि विचार्यन्ते वर्ण-धर्म-कुलक्रमाः ।[6]

आपत्ति के समय कौन व्यक्ति वर्ण, धर्म एवं कुल आदि का विचार करता है ।

आपत्सम्पदिवाभाति विद्वज्जनसमागमे ।[7]

आपत्ति भी विद्वानों के समागम से सम्पत्ति की तरह प्रतीत होती है ।

---

१ तै० उ० २ । ४
२ बृ० उ० ४ । ५ । १३
३ वा० रा० ५ । ३८ । ६
४ शान्ति० २२६ । १४
५ योवा० वै० २८ । ४१
६ योवा० उप० १०६ । ५२
७ योवा० मु० १६ । ३

आपदामापतन्तीनां हितोऽप्यायाति विक्रियाम् ।[१]

आपत्तियाँ आने वाली होती हैं तो हितकारी लोगों में भी विकार उत्पन्न हो जाता है।

प्रायो गच्छति यत्र भाग्यरहितस्तत्रैव यान्त्यापदः ।[२]

भाग्यरहित व्यक्ति जहाँ पर भी जाता है वहीं आपत्तियाँ पहुँच जाती हैं।

आपत्सु वैराणि समुद्भवन्ति ।[३]

आपत्तियों के समय वैर-विरोध उमड़ते हैं।

आपत्स्वपि न मुह्यन्ति नराः पण्डितबुद्धयः ।[४]

परिपक्व बुद्धिवाले लोग आपत्तियों में भी मोहित नहीं होते।

आपदि मित्रपरीक्षा ।[५]

आपत्ति में मित्रों की परीक्षा होती है।

आपदापदमनुधावति ।[६]

आपत्ति के पीछे आपत्ति आती है।

आपत्काले मर्यादा नास्ति ।[७]

आपत्ति के समय मर्यादा नहीं रह जाती।

आय-व्यय

आयानुरूपो व्ययः ।[८]

आय के अनुरूप व्यय होना चाहिए।

---

१ हितो० १ । ३०
२ भ० नी० ९१
३ पञ्च० २ । १:२
४ हितो० १ । १६६
५
६
७
८ सो० नी० २६ । ४४

एतदेव हि पाण्डित्यं यदायादल्पको व्ययः ।[1]

यही बुद्धिमानी है कि आय से अधिक व्यय न किया जाय ।

कौ व्ययागमौ—इति चिन्त्यं मुहुर्मुहुः ।[2]

अपना व्यय और आय कितना है, इसे बराबर सोचते रहना चाहिए ।

अयमेव परो धर्म आयादल्पतरो व्ययः ।[3]

आय की अपेक्षा अल्पतर व्यय करना यही सबसे बड़ा धर्म है ।

आयु

आयुर्वै परमः कामः ।[4]

आयु निश्चित रूप से सब से बड़ी कामना की वस्तु है ।

भद्रं न आयुः शरदो असच्छतम् ।[5]

हम लोगों की आयु सौ वर्ष तक सुखद रहे ।

शतं वर्षाणि पुरुषायुषो भवन्ति ।[6]

मनुष्य की आयु सौ वर्षों की होती है ।

आरोग्य

लाभानां श्रेष्ठमारोग्यम् ।[7]

लाभों में आरोग्य-लाभ सबसे श्रेष्ठ होता है ।

धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम् ।[8]

आरोग्य ही धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष का मूल कारण है ।

---

१ चा० नी० शा० सं० १४६
२ चा० नी० ४ । १८
३ चा. नी. शा. सं० १२५१
४ काठ० ३७ । १६
५ काठ० सं० ६१ । २
६ ऐ० आ० २ । २ । १
७ वन० २६७ । ५३
८ च० सं० १ । १ । १५

नास्त्यारोग्यसमं सौख्यम् ।[१]

आरोग्य के समान कुछ भी सुख नहीं है।

आर्जव

सर्वं जिह्मं मृत्युपदमार्जवं ब्रह्मणः पदम् ।[२]

कपट के सब रूप मृत्यु के स्थान हैं और आर्जव (निष्कपटता) ब्रह्म का स्थान है।

आर्जवं धर्ममित्याहुरधर्मो जिह्म उच्यते ।[३]

ऋजुता (सरलता) ही धर्म कहा जाता है और कपट ही अधर्म कहा जाता है।

आर्जवे वर्तमानस्य ब्राह्मण्यमभिजायते ।[४]

जो व्यक्ति निष्कपट व्यवहार रखता है, उसी में ब्राह्मणत्व रहता है।

आर्जवं हि कुटिलेषु न नीतिः ।[५]

कुटिल (कपटी) लोगों के साथ सरलता रखना नीति नहीं है।

आर्त

सर्वमार्तस्य दुःसहम् ।[६]

आर्त (पीडित) व्यक्ति के लिए सब कुछ दुःसह हो जाता है।

आर्तः सर्वोऽपि भवति धर्मबुद्धिः ।[७]

आर्त होने पर सबको धर्म सूझता है।

आर्तानां वार्ता न रोचते ।[८]

पीड़ितों को बात अच्छी नहीं लगती।

१
२ शान्ति० १८६।२१
३ अनु० १४२।३०
४ वन० २१२।१२
५ नै० च० ५।१०३
६
७ सो० नी० २६।६
८ दी० मा० १।१०

आर्य

वृत्तेन हि भवत्यार्यो न धनेन न विद्यया ।[1]

मनुष्य आचरण से ही आर्य (श्रेष्ठ) होता है धन और विद्या से नहीं ।

नार्या म्लेच्छन्ति भाषाभिर्मायया न चरन्त्युत ।[2]

आर्य पुरुष म्लेच्छ (अशुद्ध, अश्लील) भाषा नहीं बोलते तथा छल-कपट का भी व्यवहार नहीं करते ।

आर्येण हि वक्तव्या कदाचित् स्तुतिरात्मनः ।[3]

आर्यजन को कभी भी अपनी स्तुति (प्रशंसा) नहीं करनी चाहिये ।

आलस्य

आलस्यं हि मनुष्याणां शरीरस्थो महान् रिपुः ।[4]

आलस्य मनुष्यों के शरीर में रहने वाला उनका सबसे बड़ा शत्रु है ।

आलस्यं यदि न भवेदनर्थहेतुः
को न स्याद् बहुधनिको बहुश्रुतो वा ।[5]

यदि अनर्थ का कारण आलस्य मनुष्यों में न होता तो कौन आदमी बहुत बड़ा धनाढ्य और बहुत विद्वान् न हो जाता ?

आलस्यादियमवनिः ससागरान्ता
संकीर्णा नरपशुभिश्च निर्धनैश्च ।[6]

आलस्य के ही कारण सागर तक फैली हुई यह पृथिवी नरपशुओं तथा निर्धनों से भरी हुई है ।

---

१ उद्योग० ८८ ५२
२ सभा० ५६ । ११
३ द्रोण० १९५
४ भ० सु० सं० २१६
५ योवा० मु० ५।३०
६ यो० वा० ,,

आलस्यं मित्रवद् रिपुः ।[1]

आलस्य मित्र जैसा सुखद लगता है, पर वह शत्रु ही है।

आलस्योपहता विद्या ।[2]

आलस्य से विद्या नष्ट हो जाती है।

सुखं दुःखान्तमालस्यम् ।[3]

आलस्य वह सुख है, जो अन्त में दुःखदायी होता है।

आशा

आशा वा इदमग्र आसीद् भवि'यदेव ।[4]

यह जो आशा है वह पहले भी थी और आगे भी रहेगी।

स य आशां ब्रह्मेत्युपास्त आशयाऽस्य सर्वे कामाः समृद्धचन्त्य-मोघा हास्याशिषो भवन्ति। यावदाशाया गतं तत्रास्य यथा-कामचारो भवति ।[5]

वह व्यक्ति, जो आशा को ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करता है, उसकी सब कामनाएँ आशावादी होने के कारण पूरी होती हैं। उसकी सब आशाएँ अमोघ—सफल होती हैं तथा जहाँ तक आशा की गति होती है, वहाँ तक उसकी इच्छानुसार गति होती है।

आशां संश्रुत्य यो हन्ति स लोके पुरुषाधमः ।[6]

जो किसी को आशा देकर भी उसे पूरा नहीं करता भंग कर देता है वह समाज में अधम-पुरुष माना जाता है।

आशा हि पुरुषं बालं लालापयति तस्थुषी ।[7]

आशा बैठी-बैठी अज्ञानी पुरुष को तरह-तरह की बातें बोलवाती रहती है।

---

१ व्या० सु० सं० ८५
२
३
४ जै० उ० ब्रा० ४।११।१।१
५ छान्दो० ७।१४।२
६ वा० रा० ४।३०।७१
७ शान्ति० १२६।३२

आशा बलवती ह्येषा न जहाति नरं क्वचित् ।[1]

यह आशा बड़ी बलवती होती है और मनुष्य को कभी नहीं छोड़ती ।

पराशा परमं दुःखं मरणं च दिने दिने ।[2]

दूसरों की आशा करना परम मरण है तथा दैनिन्दन मरण है ।

आशया ये कृता दासास्ते दासाः सर्वदेहिनाम् ।[3]

आशाओं ने जिन्हें दास बना लिए वे लोग सब लोगों के दास हो जाते हैं ।

धनाशा जीविताशा च गुर्वी प्राणभृतां सदा ।[4]

प्राणियों को धन की और जीने की बहुत बड़ी आशा रहती है ।

वृद्धो याति गृहीत्वा दण्डं तदपि न मुञ्चत्याशापिण्डम् ।[5]

वृद्ध पुरुष लाठी के सहारे चलता है फिर भी उसे आशाएँ नहीं छोड़तीं ।

आशावधि को गतः ।[6]

आशाओं का पार किसने पाया है ?

जीविताशा धनाशा च जीर्यतोऽपि न जीर्यति ।[7]

बूढ़े आदमी की भी जीवन और धन की आशा बूढ़ी नहीं होती ।

गुर्वपि विरहदुःखमाशाबन्धः साहयति ।[8]

पुनः मिलने की आशा भारी विरह दुःख को भी सहने की शक्ति प्रदान करती है ।

---

१ दे० भा० ५।३ ८
२ दे० भा० १।१५।१२
३ नी० शा० ४०४
४ हि० १।१११
५ भ० गो० १५
६
७
८ अ० शा० ४।१६

आशिष्, आशीर्वाद

एषा वा आशीः। जीवेयं, प्रजा मे स्यात्, श्रियं गच्छेयम्।[1]

यह आशिष् है कि हम दीर्घजीवी हों, हमें सन्तान हो तथा हम धन-सम्पत्ति प्राप्त करें।

आशिषो हि गुरुजनवितीर्णा वरतामापद्यन्ते।[2]

गुरुजन जो आशीर्वाद देते हैं, वे वरदान हो जाते हैं।

सत्या नः सन्त्वाशिषः।[3]

हमारे सभी आशीर्वाद-शुभकामनाएँ सत्य हों।

आश्रम

आत्मा फलति कर्माणि नाश्रमो धर्मकारणम्।[4]

आत्मा ही शुभ कर्मों के लिए प्रेरक होता है, कोई आश्रम ही धर्म का कारण नहीं होता।

चतुष्पदी हि निश्रेणी ब्रह्मण्येषा प्रकीर्तिता।[5]

ये चारों आश्रम ब्रह्म तक पहुँचने के लिए चार पैर वाली सीढ़ी है।

अहिंसा सत्यमस्तेयं सर्वाश्रमगतं तपः।[6]

अहिंसा, सत्य और अस्तेय ये तीनों सभी आश्रमों के लिए तप अर्थात् श्रेष्ठ कर्म कहे गये हैं।

आहार

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः।[7]

आहार शुद्ध होने पर सत्त्व (अन्तःकरण) शुद्ध रहता है।

---

१ शत० ब्रा० १।८।१।३६
२ कादं०
३
४ शान्ति० १११।१३
५ शान्ति० २४२।१५
६ शान्ति० १८४।१५
७ छा० उ० ७।२६।२

बलायुषी हि आहारायत्ते ।[1]

मनुष्य का बल एवं आयु आहार के ऊपर ही निर्भर है।

न च हारसमं किञ्चिद् भैषज्यमुपलभ्यते ।[2]

आहार के समान दूसरी कोई ओषधि नहीं। अर्थात् केवल उचित आहार के ग्रहण करने मात्र से ही मनुष्य नीरोग रह सकता है।

आहारे व्यवहारे च त्यक्तलज्जः सदा सुखी ।[3]

आहार तथा व्यवहार में जो लज्जा-संकोच नहीं करता, वह सुखी रहता है।

इङ्गितज्ञ (इशारा समझने वाला)

नहीङ्गितज्ञोऽवसरेऽवसीदति ।[4]

इङ्गितज्ञ-इशारा समझने वाला व्यक्ति समय पर नहीं चूकता।

इच्छा

यादृगिच्छेच्च भवितुं तादृग् भवति पूरुषः ।[5]

मनुष्य जैसा बनने का संकल्प करता है वैसा ही हो जाता है।

इह खलु पुरुषेण अनुपहतसत्त्वबुद्धिपौरुषपराक्रमेण हितमिह चामुस्मिंश्च लोके समनुपश्यता तिस्र एषणाः पर्येषणाः पर्येष्टव्या भवन्ति। तद् यथा–प्राणैषणा, धनैषणा, परलोकैषणा च ।[6]

इह लोक तथा परलोक में अपना हित चाहने वाले लोगों की, जिनका मन बुद्धि, पौरुष एवं पराक्रम बिगड़ा न हो, तीन एषणायें (इच्छायें) होनी चाहिए। यथा–प्राण की एषणा, धन की एषणा तथा परलोक की एषणा।

---

८ च० सं० २.८।१२९
९ का० सं
१ चा० नी० ७।२
४ किरात० ४।२०
५ उद्योग० ३६।१३
६ च० सं० १।११।३

सर्वस्य विद्यते प्रान्तो न वाञ्छायाः कदाचन ।[1]

सब का अन्त है पर इच्छा का कभी अन्त नहीं ।

इच्छति शती सहस्रम् ।[2]

जिसके पास एक सौ है वह एक सहस्र चाहता है ।

इन्द्रिय—

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति ।[3]
नान्तरात्मन् ।

विधाता ने इन्द्रियों को बहिर्मुख बनाया है । इसलिए मनुष्य बाहर ही देखता है, अन्तरात्मा की ओर नहीं देखता ।

एतावानात्मविजयः पञ्चवर्गविनिग्रहः ।[4]

'पाँचों इन्द्रियों को वश में रखना' इतना ही आत्मविजय है ।

प्रसृतैरिन्द्रियैर्दुःखी तैरेव नियतैः सुखी ।[5]

इन्द्रियों के अनियन्त्रित रहने से ही मनुष्य दुःखी होता है और उन्हीं के नियन्त्रित हो जाने पर मनुष्य सुखी हो जाता है ।

अत्यर्थं पुनरुत्सर्गः सादयेद् दैवतानपि ।[6]

इन्द्रियों को अत्यन्त दबाये रहना देवताओं को भी कष्ट में डालदेता है ।

इन्द्रियाणामनुत्सर्गो मृत्युनाऽपि विशिष्यते ।[7]

इन्द्रियों को वश में न रखकर उन्हें छूट दे देना मृत्यु से भी भयंकर होता है ।

इन्द्रियाण्येव तत्सर्वं यत् स्वर्गनरकावुभौ ।[8]

जो दो स्वर्ग एवं नरक हैं, वे सब इन्द्रियाँ ही हैं । अर्थात् इन्द्रियों के ही परिणाम हैं ।

---

१ हि० ना० १८४ । ४१
२ पं० त० ५ । ७८
३ कठ उ० २ । १ । १
४ शान्ति० ६९ । ५
५ शान्ति० २०४ । ९
६ उद्योग. ३९ । ५१
७ उद्योग ३९ । ५२
८ वन० २११ । १९

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम् ।[1]

इन्द्रियों में अधिक आसक्ति होने से मनुष्य निश्चित रूप से दोष-भागी होता है।

बन्ध इन्द्रियविक्षेपो मोक्ष एषां च संयमः ।[2]

इन्द्रियों का विक्षेप (छूट) ही बन्धन है और उनका संयम ही मोक्ष है।

सर्वोऽपीन्द्रियलोभेन संकटान्यवगाहते ।[3]

सब लोग इन्द्रियों के लोभ के कारण ही संकटों में पड़ते हैं।

इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ।[4]

इन्द्रियाँ बड़ी प्रबल होती हैं। वह बलात् मन को हर लेती हैं।

वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।[5]

जिसके वश में इन्द्रियाँ रहती हैं, उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित (स्थिर होती है।

इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्त्यपि यतेर्मनः ।[6]

इन्द्रियाँ बड़ी बलवती होती हैं। वह यतियों का भी मन हर लेती हैं।

बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ।[7]

इन्द्रियों का समूह बलवान् होता है और वह विद्वानों को भी अपनी ओर खींच लेता है।

तपस्सार इन्द्रियनिग्रहः ।[8]

इन्द्रियों का निग्रह ही तपस्या का सार है।

एष योगविधिः कृत्स्नो यावदिन्द्रियधारणम् ।[9]

इन्द्रियों को वश में रखना ही यह सारा योगविधान है।

---

१ वन० २१८ । २१
२ भाग० ११ । १८ । २२
३ स्क० पु० २५५ । ३१
४ भ० गी० २ । ६०
५ भ० गी० २ । ६१
६ भाग० ७ । १२ । ७
७ मनु० २ । २१५
८ चा० सू ७ । १
९ वन० २११ । २०

आपदां कथितः पन्था इन्द्रियाणामसंयमः ।[१]

इन्द्रियों का असंयम आपत्तियों के आने का मार्ग कहा गया है।

इन्द्रियाण्येव संयम्य तपो भवति नान्यथा ।[२]

इन्द्रियों का संयम करके ही तप होता है, विना इन्द्रियसंयम के नहीं होता।

आत्मना चात्मनः पञ्च पीडयन् नाऽनुपीड्यते ।[३]

अपनी पाँचों इन्द्रियों को जो अपने से ही दवा कर रखता है, वह उनके दबाव में नहीं आता।

स्वादुभिस्तु विषयैर्हृतस्ततो दुःखमिन्द्रियगणो निवार्यते ।[४]

जब इन्द्रियाँ अपने-अपने मधुर विषयों में आसक्त हो जाती हैं, तो उन्हें हटाना बहुत कठिन हो जाता है।

इन्द्रियनिग्रह—

दमो दानं तथा यज्ञानधीतं चाऽतिवर्तते ।[५]

दम (इन्द्रियनिग्रह) दान, यज्ञ तथा अध्ययन इन सबसे श्रेष्ठ होता है।

स स्नातो यो दमस्नातः स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः ।[६]

जो इन्द्रियनिग्रहरूपी जल में स्नान किया हुआ है उसी का स्नान यथार्थ है और वही बाहर से तथा भीतर से भी पवित्र है।

तीव्रे तपसि लीनानामिन्द्रियाणां न विश्वसेत् ।[७]

कठोर तपस्वी लोगों की भी इन्द्रियों पर विश्वास नहीं करना चाहिये।

---

१ चा० नी० शा० सं० १४३
२
३
४ रघु० १९ । ४९
५ शान्ति० १६० । १३
६ अनु० १०८ । १३
७ चा० च० । ३६

ईर्ष्या—

इर्ष्या हि विवेकपरिपन्थिनी ।[1]

ईर्ष्या विवेक के विपरीत चलती है।

ईर्ष्या कलहमूलं स्यात् ।[2]

ईर्ष्या कलह का मूल कारण होती है।

ईश्वर—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत् ।[3]

इस संसार में जो कुछ भी पदार्थ है, वह ईश्वर से व्याप्त है।

एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति ।[4]

एक ही सत् तत्त्व ईश्वर का ज्ञानी पुरुष विविध नामों से वर्णन करते हैं।

तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ।[5]

उसी ईश्वर के प्रकाशित होने पर सब कुछ प्रकाशित होता है। उसी के प्रकाश से यह जगत् प्रकाशित हो रहा है।

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।[6]

एक ही देवता ईश्वर समस्त प्राणियों में गूढ़ है, सर्वव्यापी है और समस्त प्राणियों का अन्तरात्मा है।

समः सर्वेषु भूतेषु ईश्वरः सुखदुःखयोः[7] ।

ईश्वर समस्त प्राणियों में, सुख और दुःख में भी समान रहता है।

ईशस्य हि वशे लोको योषा दारुमयी यथा ।[8]

मनुष्य उसी प्रकार ईश्वर के वश में है, जैसे कठपुतली उसके खेलाड़ी के वश में होती है।

१
२ चा० च० । १२
३ ईश० १
४ ऋ० १ । १६४ । ६
५ मु० उ० २ । २ । १०
६ श्वे० उ० ६ । ११
७ शान्ति ३४५।२८
८ भाग० १।६।७

क ईश्वरस्येहितमूहितुं विभुः ।[1]

ईश्वर की इच्छा जानने में कौन समर्थ हो सकता है ?

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।[2]

अर्जुन. ईश्वर सब प्राणियों के हृदय में विराजमान रहता है।

विषमप्यमृतं क्वचिद् भवेदमृतं वा विपमीश्वरेच्छया ।[3]

ईश्वर की इच्छा से कभी विष भी अमृत हो जाता है और कभी अमृत भी विष हो जाता है।

ईश्वरेच्छा बलीयसी ।[4]

ईश्वर की इच्छा सबसे प्रबल होती है।

उत्तम जन—

उत्तमानां स्वभावोऽयं परदुःखासहिष्णुता ।[5]

दूसरों के दुःख को न सह सकना यह उत्तम पुरुषों का स्वभाव है।

विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः
प्रारब्धमुत्तमजना न परित्यजन्ति ।[6]

उत्तम मनुष्य विघ्नों से बार-बार प्रतिहत होते हुए भी प्रारम्भ किये हुए काम को नहीं छोड़ते।

आपन्नार्तिप्रशमनफलाः सम्पदो ह्युत्तमानाम् ।[7]

दुःखी लोगों के दुःख को दूर करना ही उत्तम पुरुषों की सम्पत्ति का फल होता है।

---

१ भाग० ५ १८।२।
२ भ० गी० १८।६१
३ रघु० ८ ४६
४
५ रक० महे० ९।१
६ म० नी० १७
७ मेघ० ५३

उत्तम विचार—

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः ।[1]

सब ओर से हम उत्तम विचारों का ग्रहण करें ।

उत्सव—

उत्सवप्रियाः खलु मनुष्याः ।[2]

मनुष्य बहुधा उत्सव-प्रेमी हुआ करते हैं ।

उत्साह, उत्साही—

उत्साहवन्तो हि नरा न लोके सीदन्ति कर्मस्वतिदुष्करेषु ।[3]

उत्साहसम्पन्न पुरुष अत्यन्त दुष्कर कामों में भी कष्ट का अनुभव नहीं करते ।

सोत्साहस्य हि लोकेषु न किञ्चिदपि दुर्लभम् ।[4]

दुनिया में उत्साहसम्पन्न पुरुष के लिए कुछ भी दुर्लभ नहीं है ।

उत्साहवन्तः पुरुषा नावसीदन्ति कर्मसु ।[5]

उत्साही मनुष्य काम करने में पीछे नहीं रहते ।

अनिर्वेदः श्रियो मूलम् ।[6]

उत्साह श्री का मूल है ।

अनिर्वेदो हि सततं सर्वार्थेषु प्रवर्तकः ।[7]

उत्साह ही मनुष्य को सब काम करने में प्रवृत्त करता है ।

---

१ ऋग्० १।८९।१
२ अ० शा० ६।४
३ वा० रा० ३।६३।१९
४ वा० रा० ४ । १ । १२२
५ वा० रा० ४ । १ । १२३
६ वा० रा० ४ । १२ । १०
७ वा० रा० ४ । १२ । १०

अनिर्वेदः श्रियो मूलं लाभस्य च शुभस्य च ।[1]

उत्साह ही श्री, लाभ तथा कल्याण का मूल है।

महान् भवत्यनिर्विण्णः सुखं चाऽत्यन्तमश्नुते ।[2]

उत्साही व्यक्ति महापुरुष हो जाता है और अपरिमित सुख का भोग करता है।

उत्साहवतां शत्रवोऽपि वशीभवन्ति ।[3]

उत्साही लोगों के शत्रु भी उनके वशीभूत हो जाते हैं।

सोत्साहानां नास्त्यसाध्यं नराणाम् ।[4]

उत्साही लोगों के लिए कुछ भी असाध्य नहीं होता।

आत्मशक्तिमविज्ञायोत्साहः शिरसा पर्वतभेदनमिव ।[5]

अपनी शक्ति को न समझ कर उत्साह करना शिर से पर्वत फोड़ने के समान होता है।

उदार—

उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ।[6]

उदारचरित पुरुषों के लिए वसुधा ही कुटुम्ब है।

उदारचरितानां तु विगतावरणैव धीः ।[7]

उदार पुरुषों की बुद्धि अपने-पराये के भेदमय आवरण से रहित हो जाता है।

उद्यम—

इन्द्र इच्चरतः सखा ।[8]

इन्द्र उद्यमी लोगों का मित्र बनता है—सहायक होता है।

---

१ उद्योग० ३६ । ५६
२ उद्योग० ३९ । ५७
३ चा. नी. ३ । १६
४ प्र. यौ. १ । १८
५ सी. नी. ६० ; ८६
६ हि० १ । ७०
७ यो. वा. उपशम. १८ । ६१
८ ऐ. ब्रा. ७ । १५

नास्त्युद्यमसमो बन्धुः ।[1]

उद्यम के समान दूसरा कोई बन्धु नहीं ।

उद्यमेन हि सिध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः ।[2]

कार्य उद्यम करने से सिद्ध होते हैं, केवल इच्छा करने से नहीं ।

उद्यमे नास्ति दारिद्र्यम् ।

उद्यम करने पर दरिद्रता की आशंका नहीं रहती ।

उद्यमं कुर्वतां पुंसां फलं भाग्यानुसारतः ।[4]

उद्यम करने वाले लोगों को भी फल उनके भाग्य के अनुसार ही मिलता है ।

उद्यमी—

उद्यमी नावसीदति ।

उद्यम करने वाला व्यक्ति संकट में नहीं पड़ता ।

उद्योग—

न उद्योगवतां वृत्तिभयम् ।[6]

उद्योगपरायण लोगों को जीविका का भय नहीं रहता ।

उद्योगे नास्ति दारिद्र्यम् ।[7]

उद्योग में लगने पर दरिद्रता नहीं रह पाती ।

कुर्वाणो नावसीदति ।[8]

कुछ न कुछ काम करता हुआ व्यक्ति कष्ट में नहीं पड़ता ।

---

१ भ० नी० ८६
२ हि. प्र. ३७
३ चा. नी. शा. सं. २७९
४ चा. नी. शा. सं. १२६९
५
६ चा० सू० ४।२९
७ चा० नी० ३।११
८ भ० नी० ८६

सोद्योगं नरमायान्ति विवशाः सर्वसम्पदः ।[1]

उद्योगी पुरुष के पास विवश होकर सारी सम्पत्तियाँ आती हैं।

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीः ।[2]

जो वीर पुरुष उद्योग में लगे रहते हैं, उन्हीं के पास लक्ष्मी आती हैं।

किं दूरं व्यवसायिनाम् ।[3]

व्यवसायी लोगों के लिए कोई स्थान दूर नहीं होता।

उद्योगानुगुणा लक्ष्मीः ।[4]

लक्ष्मी उद्योग के अनुरूप प्राप्त होती है।

अव्यवसायः सर्वविपत्तिकराणामग्रयम् ।[5]

कोई भी व्यवसाय न करना समस्त विपत्तियों का प्रमुख कारण है।

उपकार—

यावच्च कुर्यादन्योऽस्य कुर्यादभ्यधिकं ततः ।[6]

दूसरा मनुष्य जितना उपकार करे, उससे अधिक ही उसका उपकार करना चाहिए।

उपकृत्य मूकभावः अभिजातानाम् ।[7]

कुलीन पुरुष उपकार करके मूक हो जाते हैं, उसका प्रचार नहीं करते।

नोपकारात् परो धर्मो नापकारादघं परम् ।[8]

उपकार से बढ़कर कोई धर्म नहीं और अपकार से बढ़कर कोई पाप नहीं।

---

१ हि० १।१७२
२ पच० २।१३७
३ चा नी० ३।१३
४ नी शा. ७१
५ च० सं० १।२५-३९
६ आदि० ५६।१४
७ सो. नी. २७।२५
८

परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम् ।[1]

पुण्य के लिए परोपकार होता है और पाप के लिए परपीड़ा ।

उपदेश—

प्रत्यासन्न-विनाशानामुपदेशो निरर्थकः ।[2]

जिनका विनाश प्रत्यासन्न (सन्निकट) होता है, उन्हें उपदेश देना निरर्थक है ।

उपदेशो हि मूर्खाणां प्रकोपाय न शान्तये ।[3]

मूर्खों को उपदेश देना उनके क्रोध के लिए होता है, शान्ति के लिए नहीं ।

उपस्थितविनाशः पथ्यवाक्यं न शृणोति ।[4]

जिसका विनाश उपस्थित हो जाता है वह हितकर वचन नहीं सुनता ।

अन्तः सारविहीनानामुपदेशो न जायते ।[5]

जिन लोगों के भीतर कुछ समझने की शक्ति नहीं, उनके लिये उपदेश नहीं होता ।

प्रोक्तं श्रद्धाविहीनस्य अरण्यरुदितोपमम् ।[6]

श्रद्धाहीन व्यक्ति से कुछ कहना या उपदेश देना अरण्यरोदन के समान होता है ।

उपवास—

तपो नाऽनशनात् परम् ।[7]

उपवास से बढ़कर कोई तप नहीं होता ।

१
२ रा० त० ७।५५
३ प० त० १।३९३
४
५ चा० नी० १० । ८
६ प० त० १ । ३९७
७ बृ० ना० २१।३२

उपवासैस्तथा तुल्यं तपः कर्म न विद्यते ।[1]

उपवासों के समान कोई भी तप या सत्कर्म नहीं है।

उपाय—

नहि खल्वनुपायेन कश्चिदर्थोऽभिसिध्यति ।[2]

विना उपाय के कोई काम सिद्ध नहीं होता।

उपायज्ञो हि मेधावी सुखमत्यन्तमश्नुते ।[3]

उपायों को जाननेवाला मेधावी व्यक्ति बहुत सुख भोगता है।

उपायेन हि यच्छक्यं तन्न शक्यं पराक्रमैः ।[4]

जो काम उपाय से हो सकता है, वह पराक्रम से नहीं हो सकता।

उपायेन जयो यादृग् रिपोस्तादृग् न हेतिभिः ।[5]

शत्रु का जय जिस प्रकार उपाय से होता है, उस प्रकार हथियारों से नहीं होता।

उपायं चिन्तयन् प्राज्ञो ह्यपायमपि चिन्तयेत् ।[6]

उपाय का चिन्तन करते हुए पुरुष को अपाय (बाधा) का भी चिन्तन करना चाहिये।

ऋजु—

ऋजुं सर्वे परिभवन्ति ।[7]

ऋजु (सरल) मनुष्य को सब लोग दबाया करते हैं।

---

१ अनु० १०६।६६
२ शान्ति० २०३।१
३ आश्व० ५०।१८
४ पञ्च० १।२१०
५ पञ्च० १।२।२
६
७ सो० नी० २८।२९

ऋद्धि—

ऋद्धिश्चित्तविकारिणी ।[1]

ऋद्धि (समृद्धि) चित्त को विकृत कर देती है।

ऋषि

साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः ।[2]

ऋषियों ने धर्म को साक्षात् देखा था।

एषणा—देखिए "इच्छा"

ऐश्वर्य—

ऐश्वर्यमदमत्तो हि नापतित्वाऽवबुध्यते ।[3]

जो आदमी ऐश्वर्य के मद से मतवाला हो जाता है, वह बिना पतन के नहीं सँभलता।

ऐश्वर्यस्य विभूषणं सुजनता ।[4]

ऐश्वर्य का भूषण सुजनता हैं।

नास्त्यपिशाचमैश्वर्यम् ।[5]

ऐश्वर्य बिना पिशाच (कठोर) बने नहीं प्राप्त होता।

कथा, वार्ता—

पटुत्वं सत्यवादित्वं कथायोगेन बुध्यते ।[6]

किसी भी मनुष्य की पटुता और उसकी सत्यवादिता उसके साथ बातचीत एवं व्यवहार करने से ही मालूम होती है।

---

१ हि० २।१।३९
२ निरुक्त १।२०
३ उद्योग ३४।५३
४ भर्तृ० नी० १
५ सो० नी० ५।५९
६ हितो० १।९९

कन्या—

कन्यापितृत्वं दुःखं हि सर्वेषां मानकांक्षिणाम् ।[1]

सम्मान चाहने वाले सभी व्यक्तियों को कन्या का पिता होना दुःखद होता है।

अर्थो हि कन्या परकीय एव ।[2]

कन्या दूसरे की ही वस्तु होती है।

गुणवतः कन्या प्रतिपादनीया ।[3]

कन्या गुणवान् व्यक्ति को देनी चाहिए।

प्रायेण गृहिणीनेत्राः कन्यार्थेषु कुटुम्बिनः ।[4]

गृहस्थ लोग कन्या के विषय में प्रायः स्त्रियों से ही परामर्श लेते हैं।

अशोच्या हि पितुः कन्या सद्भर्तुः प्रतिपादिता ।[5]

जब कन्या योग्य वर को दे दी जाती है, तो वह पिता के लिए चिन्ता का विषय नहीं होती।

कन्यापितृत्वं खलु नाम कष्टम् ।[6]

कन्या का पिता होना निश्चित ही एक कष्टकारक बात है।

करुणा—

यस्य न चेतसि करुणा तरुणा सह तस्य को भेदः ।[7]

जिस मनुष्य के हृदय में करुणा नहीं, उससे काठ का क्या भेद है?

---

१ वा० रा० ६।७।६
२ अ० शा० ४।२२
३ अ० शा०
४ कु० सं० ६।८५
५ कु० सं० ६।७९
६ पञ्च १।२०५
७

प्रायः सर्वो भवति करुणावृत्तिरार्द्रान्तरात्मा ।[1]

कोमल अन्तरात्मा वाले प्रायः सभी मनुष्यों का व्यवहार करुणा से पूर्ण होता है।

एकान्तेन कारुण्यपरः करतलगतमपि अर्थं न रक्षितुं क्षमः ।[2]

जो मनुष्य अत्यन्त करुणाशील और कृपालु होता है, वह अपनी हस्तगत वस्तु की भी रक्षा नहीं कर सकता है।

कर्म—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतं समाः ।[3]

कर्म करते हुये ही मनुष्य को सौ वर्ष तक जीने की इच्छा रखनी चाहिये।

कर्मसु चाऽमृतम् ।[4]

कर्मों में अमृत निवास करता है।

यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति ।[5]

मनुष्य जो भी कर्म ज्ञान, श्रद्धा एवं उपनिषद् (तात्त्विक बुद्धि) के साथ करता है, वही अधिक वीर्यवान् होता है-पुष्ट होता है।

कर्मणा सूचयात्मानं न विकत्थितुमर्हसि ।[6]

कर्म के द्वारा अपना परिचय दो, डींग मत हाँको।

न ह्येकः साधको हेतुः स्वल्पस्यापीह कर्मणः ।[7]

किसी छोटे काम का भी केवल एक ही साधक कारण नहीं होता।

---

१ मेघ० उ० ३५
२ सो० नी० ६।३६
३ ईशो० २
४ मु० उ० १.८
५ छा० उ० १।१।१०
६ वा० रा० ६।७१.६०
७ वा० रा० ५।४१।६

स्वकर्मसु प्रवर्तन्ते तुष्टाः स्वैरेव कर्मभिः ।[1]

जब मनुष्य अपने कर्मों से सन्तुष्ट हो जाता है, तो वह कामों में प्रवृत्त होता है।

कर्तव्यमकृतं कार्यं सतां मन्युमुदीरयेत् ।[2]

कर्तव्य कार्य जब नहीं किया जाता, तो वह सज्जनों में क्रोध पैदा कर देता है।

यथा कर्म तथा लाभ इति शास्त्रनिदर्शनम् ।[3]

जैसा कर्म होता है, वैसा लाभ होता है—यह शास्त्र का कथन है।

कृतमेवाकृतात् श्रेय इति शास्त्रनिदर्शनम् ।[4]

न करने से करना ही श्रेयस्कर है ऐसा शास्त्रों का कहना है।

कथं यात्रा शरीरस्य निरारम्भस्य सेत्स्यति ।[5]

जो आदमी काम नहीं करेगा, उसके शरीर की भी यात्रा कैसे चल सकती है?

आचरिष्यसि चेत् कर्म महतोऽर्थानवाप्स्यसि ।[6]

यदि कर्म करते रहोगे तो बड़े-बड़े लाभ पाओगे।

कुरुते यादृशं कर्म तादृशं प्रतिपद्यते ।[7]

मनुष्य जैसा कर्म करता है, वैसा ही फल पाता है।

हेत्वागमसदाचारैर्यदुक्तं तदुपास्यताम् ।[8]

हेतु शास्त्र तथा सदाचार से जो काम प्रमाणित हो, वही करना चाहिये।

---

१ वा० रा०
२ वा० रा० ५।१।९६
३ शान्ति० १७६।२०
४ शान्ति० ७५।२९
५ शान्ति० २६५।१३
६ शान्ति० १०५।३
७ शान्ति० २९०।१६
८ शान्ति० २१०।२२

अल्पं हि सारभूयिष्ठं यत् कर्मोदारमेव तत् ।[1]

जो काम छोटा होता हुआ भी अधिक सारवान् हो, वही उत्तम है।

नास्ति सिद्धिरकर्मणः ।[2]

काम न करने वाले को कोई सिद्धि नहीं होती।

बुद्धिश्रेष्ठानि कर्माणि ।[3]

जो काम बुद्धि से किये जाते हैं, वे श्रेष्ठ होते हैं।

शुभं वाऽप्यशुभं कर्म फलकालमपेक्षते ।[4]

काम शुभ हो या अशुभ, फल देने में समय की अपेक्षा करता है।

करोति यादृशं कर्म तादृशं प्रतिपद्यते ।[5]

मनुष्य जैसा काम करता है वैसा हो जाता है।

नाबीजाज्जायते किञ्चित् ।[6]

बीज के विना कुछ उत्पन्न नहीं होता।

कर्मणान्तु प्रशस्तानामनुष्ठानं सुखावहम् ।[7]

उत्तम कर्मों का अनुष्ठान ही सुखप्रद होता है।

अभिमानकृतं कर्म नैतत् फलवदुच्यते ।[8]

जो कर्म अभिमान के साथ किया जाता है, वह फलवान् नहीं माना जाता।

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।[9]

क्या कर्म है और क्या अकर्म है, इसके निर्णय में विद्वान् भी मोह में पड़ जाते हैं।

---

१ शान्ति ७५।२६
२ शान्ति० १०।२६
३ शान्ति० ०।२६
४
५ शान्ति० २९०।२२
६ शान्ति० २९०।१२
७ उद्योग० ३८।२२
८ शान्ति० १२।१६
९ भ० गी० ४।१६

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।[१]

अपने-अपने कर्म में निरन्तर लगा हुआ मनुष्य सिद्धि को प्राप्त करता है।

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।[२]

जनक आदि महापुरुषों ने कर्म करके ही सिद्धि प्राप्त किया था।

नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।[३]

कोई भी मनुष्य बिना कर्म किये कभी एक क्षण भी नहीं रह सकता।

सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवाऽवृताः ।[४]

जैसे आग धूएँ से युक्त रहती है उसी प्रकार प्रत्येक काम किसी-न-किसी दोष से युक्त रहता है।

गहना कर्मणो गतिः ।[५]

कर्म की गति गहन होती है, अज्ञेय होती है।

कर्मयोगो विशिष्यते ।[६]

कर्मयोग सब योगों में विशिष्ट होता है।

कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।[७]

कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना उत्तम होता है।

कर्मैव गुरुरीश्वर. ।[८]

मनुष्य के लिए कर्म ही गुरु है और वही ईश्वर है।

---

१ भ० गी० १८।४५
२ भ० गी० ३।२०
३ भ० गी० ३।५
४ भ० गी० १८।४८
५ भ० गी० ४।१७
६ भ० गी० ५।२
७ भ० गी० ३।८
८ भा० पु० १०।२४।४

अञ्जसा येन वर्तेत तदेवास्य हि दैवतम् ।[1]

जिस कर्म के द्वारा मनुष्य की जीविका सुगमता से चलती रहे वही उसका इष्ट देवता है।

प्रिया भवन्ति लोकस्य स्वे स्वे कर्मण्यवस्थिताः ।[2]

जो लोग अपने-अपने काम में लगे रहते हैं वे सब लोगों के प्रिय होते हैं।

नमस्तत् कर्मभ्यो विधिरपि न येभ्य प्रभवति ।[3]

इन कर्मों को नमस्कार है जिन पर विधाता का भी अधिकार नहीं।

लोके गुरुत्वं विपरीततां वा स्वचेष्टितान्येव नरं नयन्ति ।[4]

अपने कर्तव्य ही मनुष्य को समाज में बड़ा या छोटा बनाते हैं।

सुचिन्त्य चोक्तं सुविचार्य यत्कृतं सुदीर्घकालेऽपि न याति विक्रियाम् ।[5]

जो काम अच्छी तरह सोच-विचार कर किया जाता है, वह बहुत समय तक ठीक ही रहता है, बिगड़ता नहीं।

कर्मणि व्यज्यते प्रज्ञा ।[6]

कर्म में बुद्धि की अभिव्यक्ति होती है।

अकारणं रूपमकारणं कुलं महत्सु नीचेषु च कर्म शोभते ।[7]

बड़े तथा छोटे भी मनुष्य के लिए कर्म की ही प्रधानता है। इसमें उनके रूप तथा कुल का कोई महत्त्व नहीं है।

आरभेतैव कर्माणि श्रान्त. श्रान्तः पुनः पुनः ।[8]

थक-थक कर भी मनुष्य को पुनः-पुनः नये-नये काम करते रहना चाहिए।

---

१ भा० पु० १०।२४।१८
२ मनु० ८।४२
३ भ० नी० ९४
४ हि० २।४८
५ हि० १।२२
६ पंच० १।२८
७ प० रा० २।३३
८ मनु० ९।३००

शुभं वाऽप्यशुभं कर्म फलकालमपेक्षते ।[1]

काम शुभ हो या अशुभ, फल देने में समय की अपेक्षा करता है ।

कर्मफल—

यत्कर्मबीजं वपते मनुष्यः तस्यानुरूपाणि फलानि भुङ्क्ते ।[2]

मनुष्य जैसा कर्म का बीज बोता है उसके अनुरूप ही फल भोगता है ।

सुशीघ्रमपि धावन्तं विधानमनु धावति ।[3]

बहुत तेजी से भी भागते हुए आदमी के पीछे-पीछे उसका कर्मफल भी लगा रहता है ।

यादृशं वपते बीजं तादृशं लभते फलम् ।[4]

मनुष्य जैसा बीज बोता है वैसा फल पाता है ।

कलत्र (स्त्री, पत्नी)—

कलत्रं नाम नराणामनिगडमपि दृढं बन्धनमाहु. ।[5]

कलत्र मनुष्यों का बिना सोकड़ का भी बहुत दृढ़ बन्धन है ।

अलोहमयं कलत्रं निगडम् ।[6]

कलत्र बिना लोहे का सीकड़ है ।

कलत्रे सर्वसौख्यानि ।[7]

कलत्र के रहने पर समस्त सुख प्राप्त होते हैं ।

कलह—

कलहान्तानि हर्म्याणि ।[8]

कलह से घर का विनाश हो जाता है ।

१

२

३ शान्ति० ३२२।८

४

५ सो० नी० २७१

६ चा० सू० ५।७२

७ चा० नी० शा० सं० १२७५

८ पंच० ५।७२

कल्याण—

यस्मादुद्विजते लोकः कथं तस्य भवो भवेत् ।[१]

जिस आदमी के कारण लोग दुःखी रहते हैं उसका कल्याण कैसे हो सकता है ?

कल्याणकारी—

नहि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति ।[२]

तात, दूसरों का कल्याण करने वाला कोई भी व्यक्ति दुर्गति में नहीं पड़ता ।

कवि—

मतिदर्पणे कवीनां विश्वं प्रतिफलति ।[३]

कवियों की मतिरूपी दर्पण में सारा विश्व प्रतिबिम्बित होता है ।

कवयः किं न पश्यन्ति ।[४]

कवियों की दृष्टि कहाँ तक नहीं पहुँच जाती ।

अहो भारो महान् कवेः ।[५]

अहो, कवियों पर कविता को सब गुणों से सम्पन्न बनाने का बड़ा भारी भार होता है ।

कविता, कवित्व—

अन्नचिन्ताचमत्कारकातरे कविता कुतः ।[६]

जब अन्न की चिन्ता से मनुष्य घबड़ा जाता है तो उसे कविता अच्छी नहीं लगती ।

---

१ वन० २८।२२
२ भ० गी० ६।४०
३ का० मी० अ० १२
४ चा० नी० १०।४
५
६ भो० प्र०

सुकविता यद्यस्ति राज्येन किम् ?[1]

यदि अच्छी कविता पास में है तो राज्य से क्या लाभ ?

कलासीमा काव्यम् ।[2]

कविता कलाओं की सीमा है ।

कवित्वं दुर्लभं लोके शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा[3]

लोक में कवि होना ही कठिन है, फिर कवित्व की शक्ति होना तो और भी दुर्लभ है ।

अविदितगुणाऽपि सत्कविभणितिः कर्णेषु वमति मधुधाराम् ।[4]

सत्कवियों की कविता, विशेष गुण ज्ञात न होने पर भी श्रोता के कानों में मधु की धारा प्रवाहित कर देती है ।

कापुरुष, कातर—

कातरा एव जल्पन्ति यद् भाव्यं तद् भविष्यति ।[5]

कायर लोग ही यह कहा करते हैं कि जो होना होगा वही होगा ।

सुसन्तुष्टः कापुरुषः स्वल्पकेनैव तुष्यति ।[6]

कायर पुरुष सन्तोषी होता है, वह बहुत थोड़े से ही तुष्ट हो जाता है ।

तातस्य कूपोऽयमिति ब्रुवाणाः क्षारं जलं कापुरुषाः पिबन्ति ।[7]

यह मेरे पिता का कूआं है ऐसा कहकर कायर लोग खारा ही जल पीया करते हैं ।

---

१ भ० नी० २१

२

३ सा० द०

४ शा० प०

५ पंच० २।६३१

६ उद्योग० १३३।९

७ योवा० नि० उ० १६३।५६

दोषभीतेरनारम्भस्तत् कापुरुषलक्षणम् ।[1]

दोष के भय से कार्य का आरम्भ न करना कायर पुरुष का लक्षण है।

दैवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति ।[2]

दैव ही सब कुछ देता है ऐसा कायर पुरुष कहा करते हैं।

कातरा इति जल्पन्ति यद् भाव्यं तद् भविष्यति ।[3]

जो होना होगा सो होगा ऐसा कायर पुरुष कहा करते हैं।

काम–(१–कामना, इच्छा २–कामपुरुषार्थ)

पराचः कामाननु यन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम् ।[4]

अज्ञानी लोग कामनाओं के पीछे दौड़ते हैं और फिर वे मृत्यु के बड़े लम्बे पाश में फँस जाते हैं।

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।[5]

परमेश्वर के मन का जो रेत अर्थात् बीज प्रथमतः निकला वही आरम्भ में काम (अर्थात् सृष्टि निर्माण करने की प्रवृत्ति) हुआ।

अकामस्य क्रिया काचित् दृश्यते नेह कर्हिचित् ।[6]

विना काम के कभी भी कोई क्रिया दृष्टिगोचर नहीं होती।

यद् यद्धि कुरुते जन्तुस्तत् तत् कामस्य चेष्टितम् ।[7]

मनुष्य जो कुछ भी करता है वह कामना से ही प्रेरित होकर करता है।

कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता ।[8]

कामात्मा होना प्रशंसा की बात नहीं है परन्तु इस संसार में सर्वथा कामना-रहित होना संभव नहीं है।

---

१ हि० २।६०
२ पंच० २।१३७
३ पंच० २।३६
४ कठ० २।१।२
५ ऋग्वेद १०।१२९।४
६ मनु० १।४
७
८ मनु०

अथो खल्वाहुः काममय एवायं पुरुष इति। स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति। यत्क्रतुर्भवति तत् कर्म कुरुते। यत्कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते।[1]

आचार्य गण ऐसा कहते हैं कि यह पुरुष काममय ही है। इसका जैसा काम होता है वैसा ही इसका विचार होता है और जैसा विचार होता है वैसा ही वह कर्म करता है तथा जैसा कर्म करता है उसी के अनुसार फल प्राप्त करता है।

नास्ति नासीन्नाभविष्यद् भूतं कामात्मकात् परम्।[2]

ऐसा कोई प्राणी न है, न था और न होगा जो काम से परे हो।

बहव इमेऽस्मिन् पुरुषे कामा नानात्यशः।[3]

मनुष्य में बहुत-सी एषणायें-कामनायें हैं जो अनेक ओर ले जाने वाली हैं।

आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।[4]

मनुष्य को अपने लिए ही—अपनी इच्छा की पूर्ति के लिए ही सब कुछ प्रिय होता है।

न वै कामानामतिरिक्तमस्ति।[5]

कामों के अतिरिक्त (संसार में) और कुछ नहीं है।

समुद्र इव हि कामः नैव हि कामस्यान्तोऽस्ति न समुद्रस्य।[6]

समुद्र के समान काम होता है। न काम का अन्त है और न समुद्र का।

नवनीतं यथा दध्नस्तथा कामोऽर्थधर्मतः।[7]

जैसे दही का सार नवनीत है वैसे ही अर्थ एवं धर्म का सार काम है।

---

१ वृ० उ० ४।४।५
२ शान्ति० १६७।३४
३ छा० उ० ४।१०।३
४ वृ० उ० २।४।५
५ शत० ब्रा० ८।७।२।१९
६ तै० ब्रा० २।२।५
७ शान्ति० १६७।३५

कामो धर्मार्थयोर्वरः ।[१]

काम धर्म और अर्थ से श्रेष्ठ है।

कामो हि विविधाकारः सर्वं कामेन सन्ततम् ।[२]

काम के विविध आकार है और सब कुछ काम से व्याप्त है।

कामो बन्धनमेवैकं नान्यदस्तीह बन्धनम् ।[३]

काम ही संसार में एकमात्र मनुष्य का बन्धन है, और कुछ बन्धन नहीं।

कामबन्धनमुक्तो हि ब्रह्मभूयाय कल्पते ।[४]

जो काम के बन्धन से मुक्त हो जाता है वही ब्रह्मस्वरूप हो सकता है।

कामग्राहगृहीतस्य ज्ञानमप्यस्य न प्लवः ।[५]

जो व्यक्ति कामरूपी ग्राह से पकड़ लिया गया है, उसके लिए उसका ज्ञान भी पार करने वाला प्लव (नौका) नहीं होता।

न खल्वप्यरसज्ञस्य कामः क्वचन जायते ।[६]

जो मनुष्य रसज्ञ नहीं होता उसमें कभी भी काम उत्पन्न नहीं होता।

कामे प्रसक्तः पुरुषः किमकार्यं विवर्जयेत् ।[७]

काम में अति आसक्त मनुष्य कौन-सा बुरा काम छोड़ सकता है ?

सम्प्रमोदमलः कामः ।[८]

(आदर्शहीन) हास्य एवं आमोद-प्रमोद काम का मल है अर्थात् उसका निकृष्ट रूप है।

---

१ शान्ति० १६७।३५
२ शान्ति० १६७।३३
३ शान्ति० २५१।७
४ शान्ति० २५०।७
५ शान्ति० २३४।२१
६ शान्ति० १८०।३०
७ शान्ति० ८८।११
८ शान्ति० १२३।१०

ग्राम्यधर्मं न सेवेत स्वाच्छन्द्येनार्थकोविदः ।[१]

अर्थज्ञ पुरुष को स्वच्छन्द होकर काम का सेवन नहीं करना चाहिये।

सनातनो हि संकल्प काम इत्यभिधीयते ।[२]

प्राणियों में जो सनातन संकल्प है वह काम कहलाता है।

उद्यतस्य हि कामस्य प्रतिवादो न विद्यते [३]

जब काम प्रबल हो जाता है तो उसका प्रतिवाद नहीं किया जा सकता।

कामा मनुष्यं प्रसजन्त एते ।[४]

ये काम मनुष्य को आसक्त बना देते हैं। बन्धन में डाल देते हैं।

कामानुसारी पुरुषः कामाननु विनश्यति ।[५]

कामों के पीछे दौड़ने वाला पुरुष कामों के कारण ही विनष्ट हो जाता है।

कामः संसारहेतुश्च ।[६]

काम संसार का हेतु है।

कामं हित्वार्थवान् भवति ।[७]

काम का परित्याग करने के बाद मनुष्य अर्थवान् होता है।

अवध्यः सर्वभूतानामहमेकः सनातनः ।[८]

सभी प्राणियों में विराजमान मैं काम ही एक अवध्य और सनातन तत्त्व हूं।

---

१ अनु० १४३।३९
२ अनु० ८५।११
३ उद्योग० ३९।४४
४ उद्योग० २७।४
५ उद्योग० ४२।१३
६ वन० ३।३१३।९८
७ वन० ३१३।७८
८

उद्यतस्य हि कामस्य प्रतिवादो न शस्यते ।[१]

प्रबल रूप से उपस्थित काम का प्रतिवाद अच्छा नहीं माना जाता।

धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ।[२]

अर्जुन, मैं प्राणियों में धर्म का अविरोधी काम हूँ।

क्व ज्ञानं क्व च वैराग्यं वर्तमाने मनोभवे ।[३]

मन में कामदेव के रहते हुए कहाँ ज्ञान और कहाँ वैराग्य ?

शरीरस्थितिहेतुत्वादाहारसधर्माणो हि कामाः फलभूताश्च धर्मार्थयोः ।[४]

शरीरस्थिति के कारण होने से काम आहार के समान ही (आवश्यक) होते है और वे धर्म एवं अर्थ के फलस्वरूप हैं।

कामात्मानं न प्रशंसन्ति लोके ।[५]

केवल कामरत मनुष्य की लोक में प्रशसा नहीं होती।

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।[६]

कामों का उपभोग करने से कभी काम शान्त नहीं होता।

प्रायेण सर्वभावानां कामान्निष्पत्तिरिष्यते ।[७]

प्रायः काम के ही कारण सभी विषयों की निष्पत्ति (सिद्धि) होती है।

भूयिष्ठं दृश्यते कामः सुखदो दुःखदेष्वपि ।[८]

काम दुःख देने वाली वस्तुओं में भी सुखद होता है।

---

१ भाग० ३।२२।१२
२ भ० गी० ७।११
३ दे० भा० ५।२७।६१
४ का० स० १।२।४६-४७
५ आश्व० १३।९
६ मनु० २।९४
७ ना० शा० २४।९४
८ ना० शा० २४।२६

स्त्री-पुंसयोस्तु योगो यः स तु काम इति स्मृतः ।[१]

स्त्री-पुरुष का जो सम्बन्ध होता है वही काम कहा जाता है।

धर्मार्थाऽविरोधेन कामं सेवेत । न निस्सुखः स्यात् ।[२]

धर्म और अर्थ से अविरुद्ध काम का सेवन करना चाहिए। सुख से वञ्चित नहीं रहना चाहिये।

कन्दर्प-दर्प-दलने विरला मनुष्याः ।[३]

काम के दर्प को दलित करने वाले विरले मनुष्य होते हैं।

कोऽवकाशो विवेकस्य हृदि कामान्धचेतसः ।[४]

काम से अन्धे चित्तवाले व्यक्ति के हृदय में विवेक के लिये स्थान कहाँ ?

कामः स्वतां पश्यति ।[५]

काम सर्वत्र अपनत्व (आत्मीयता) ही देखता है।

कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु ।[६]

कामार्त (कामपीड़ित) लोग चेतन और अचेतन के विवेक में स्वभावतः दीन होते हैं, असमर्थ होते हैं।

न कामवृत्तिर्वचनीयमीक्षते ।[७]

मनुष्य की काममयी वृत्ति निन्दा-शिकायत की परवाह नहीं करती।

कमपरमवशं न विप्रकुर्युर्विभुमपि तं यदमी स्पृशन्ति भावाः ।[८]

यदि काम के विकार उस विभु (शंकर) को भी विना स्पर्श किये नहीं छोड़ते तो अन्य किस व्यक्ति को विवश नहीं कर सकते ?

---

१ ना० शा० २४।९५
२ कौ० अ० १।७।३
३ मृ० श० ५९
४ नी० क० २४।१६
५ अ० शा० २।२
६ मेघ० ५
७ कु० सं० ५।८२
८ कु० सं० ६।९५

विघ्नितसमागमसुखो मनसिशयः शतगुणी भवति ।[१]

जब कामी जनों के समागम के सुख में विघ्न पड़ जाता है तो काम पहले से सौ गुना हो जाता है।

परस्परकृतः स्नेहः काम इत्यभिधीयते ।[२]

स्त्री-पुरुष का जो पारस्परिक स्नेह है उसे काम कहा जाता है।

कामातुराणां न भयं न लज्जा ।[३]

काम से आतुर लोगों को न भय होता है और न लज्जा।

न पूर्वे नाऽपरे जातु कामानामन्तमाप्नुवन् ।[४]

न पहले के लोगों ने काम का अन्त पाया है और न बाद के लोगों ने।

काम-क्रोध—

कामश्च राजन् क्रोधश्च तौ प्रज्ञानं विलुम्पतः ।[५]

राजन्, काम और क्रोध ये दोनों प्रज्ञा और विवेक को नष्ट कर देते हैं।

कामक्रोधौ हि पुरुषमर्थेभ्यो व्यपकर्षतः ।[६]

काम और क्रोध ये दोनों मनुष्य को अच्छे कामों से अलग करते हैं।

कामक्रोधौ विनिर्जित्य किमरण्यैः करिष्यसि ।[७]

काम और क्रोध को जीतने के बाद जंगलों में जाकर क्या करोगे ?

काम एष क्रोध एष रजोगुण-समुद्भवः ।[८]

यह काम और यह क्रोध दोनों ही रजोगुण से उत्पन्न होते हैं।

---

१ विक्र० क्र० ३।८
२ शाङ्गं० १।६
३
४
५ उद्योग० ३४।६७
६ उद्योग० १२९।२४
७ पद्म० सृ० १९।३४७
८ भ० गी० ३।३७

कामक्रोधौ मद्यतमौ प्रयोक्तव्यौ यथोचितम् ।[१]

काम और क्रोध ये दोनों अत्यन्त तीखे मद्य (शराब) हैं, अतः इनका यथोचित प्रयोग करना चाहिए ।

कामी—

न देशकालौ हि तथार्थधर्मौ अवेक्षते कामरतिर्मनुष्यः ।[२]

कामी मनुष्य देश-काल तथा अर्थ एवं धर्म को नहीं देखता ।

कामान्धो नैव पश्यति ।[३]

कामान्ध व्यक्ति को कुछ नहीं दीखता ।

कामी स्वतां पश्यति ।[४]

कामी को सब बातें अपने मन की ही दिखाई देती हैं ।

चेष्टाप्रतिरूपिका कामिजनमनोवृत्तिः ।[५]

कामी लोगों की मनोवृत्ति चेष्टा के प्रतिरूप होती है ।

औचित्यं गणयति को विशेषकामः ।[६]

कौन अत्यधिक कामी उचित की परवाह करता है ?

नाकामी मण्डनप्रियः ।[७]

कामवासना से रहित मनुष्य शृंगार एवं सजावट का प्रेमी नहीं होता ।

कार्य—

शुष्कैः काष्ठैर्भवेत् कार्यं लोष्टैरपि च पांशुभिः ।[८]

सूखे काठ, मिट्टी के लोंदे और धूल से भी काम होता है ।

---

१ शुक्रनीति २४
२ वा० रा० ४।३३।५५
३ चा० नी० ६।८
४ अ० शा० २।२
५
६ शि० व० ८।१०
७ पंच० १।१६५
८ वा० रा० ३।३२।१८

कार्यार्थं प्रीयते जन ।[१]

सब लोग अपने काम के लिये ही किसी से प्रेम करते हैं।

तस्मात् शास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।[२]

(इसलिए) क्या कार्य है और क्या अकार्य है इसके निर्णय में शास्त्र ही तुम्हारे लिए प्रमाण है।

उपायपूर्वं कार्य न दुष्करं स्यात् ।[३]

उपायपूर्वक कार्य दुष्कर नहीं होता।

दोषवर्जितानि कार्याणि दुर्लभानि ।[४]

(सर्वथा) दोषरहित काम दुर्लभ होते हैं।

अनवस्थितकार्यस्य न जने न वने सुखम् ।[५]

जिसका काम अनवस्थित होता है-अव्यवस्थित होता है उसको न समाज में सुख मिलता है और न वन में।

कोशपूर्वाः समारम्भाः ।[६]

किसी भी काम के आरम्भ के लिए कोश होना आवश्यक है।

प्राप्तकालं कृतं कार्यं राजते (नाथ) नेतरत् ।[७]

नाथ, जो काम समय पर किया जाता है वही अच्छा होता है, असमय का नहीं।

दुर्लभः कार्यकाले पुरुषसमुदाय. ।[८]

काम के समय लोगों का मिलना दुर्लभ होता है।

---

१ शान्ति० १३८।५५
२ भ० गी० १३।२४
३ चा० सू० २।१
४ चा० सू० २।१३
५ चा० नी० १३।१६
६ कौ० अ० २।८।१
७ योवा० नि० पू० ८४।२
८ सो० नी० १०।८१

नृपति-जनपदानां दुर्लभः कार्यकर्ता ।[१]

शासन और जनता दोनों का काम करने वाला दुर्लभ होता है।

कार्यं निधानाद्धि गुणानधीते ।[२]

कार्य (अपने) कारण से ही गुणों को ग्रहण करता है।

नहि कार्यमकार्यं वा सुखं ज्ञातुं कथञ्चन ।[३]

कौन काम करने योग्य है और कौन काम करने योग्य नहीं है इस बात को ठीक-ठीक जान लेना किसी प्रकार आसान नहीं।

एकचित्तं भवेत् कार्यं द्विधाचित्तं विनश्यति ।[४]

जो काम एक चित्त होकर किया जाता है वही होता है। पर जो काम दो चित्त से किया जाता है वह नहीं होता है, बिगड़ जाता है।

हेला स्यात् कार्यनाशाय ।[५]

उपेक्षा करने से काम बिगड़ जाता है।

कार्यभ्रंशो हि मूर्खता ।[६]

काम का बिगड़ जाना ही मूर्खता है।

कार्यार्थी—

कार्यार्थी जीवलोकोऽयं न कश्चित् कस्यचित्प्रियः ।[७]

यह जीवलोक केवल अपने काम का प्रेमी है। इसमें कोई किसी का प्रिय नहीं।

मनस्वी कार्यार्थी गणयति न दुःखं न च सुखम् ।[८]

मनस्वी कार्यकर्ता न दुःख की परवाह करता है, न सुख की।

---

१ पंच० १।१३२
२ नै० च०
३
४ चा० नी० शा० सं० २०५२
५ चा० नी० शा० सं० १११९
६
७ शान्ति० १३८।५१
८ भ० नी० ८२

काल–(समय, मृत्यु, यम)

अत्येति रजनी या तु सा न प्रतिनिवर्तते ।[१]

जो रात बीत जाती है वह पुनः नहीं लौटती ।

न कालः कालमत्येति न कालः परिहीयते ।[२]

न तो काल अधिक होता है और न काल कम होता है ।

न कालस्यातिभारोऽस्ति ।[३]

काल के लिए कोई वस्तु अधिक भार नहीं ।

न कालस्यास्ति बन्धुत्वम् ।[४]

काल किसी का बन्धु नहीं होता ।

न कालादुत्तरं किञ्चित् कर्म शक्यमुपासितुम् ।[५]

काल की सीमा के बाहर किसी भी काम का करना सम्भव नहीं ।

सर्वं काले हि शोभते ।[६]

समय पर ही सब कुछ अच्छा लगता है ।

दुःखे कालः सुदीर्घो हि सुखे लघुतरः सदा ।[७]

काल दुःख के समय बहुत बड़ा हो जाता है और सुखके समय बहुत छोटा हो जाता है ।

कालवित् कार्यं साधयेत् ।[८]

जो काल को पहचानता है वही कार्य सिद्ध करता है ।

---

१ वा० रा० २।१०६।१९
२ वा० रा० ४।२५।१६
३ वा० रा० ६।४८।१९
४ वा० रा० ४।२५।१७
५ वा० रा० ४।२५
६ योवा० उ० ६७।६१
७ योवा० उ० ८०।४३
८ चा० सू० २।१५

कालः कर्ता विकर्ता च सर्वमन्यदकारणम् ।[१]

काल ही बनाता है और काल ही बिगाड़ता है। बनाने एवम् बिगाड़ने में काल के अतिरिक्त और कुछ कारण नहीं।

कालेन सर्वं लभते मनुष्यः ।[२]

मनुष्य समय से सब कुछ प्राप्त करता है।

कालो हि कार्यं प्रति निर्विशेषः ।[३]

किसी भी कार्य के प्रति काल को कोई अपनापन नहीं रहता।

अप्रमत्तः प्रमत्तेषु कालो जागर्ति देहिषु ।[४]

प्रमत्त मनुष्यों में काल अप्रमत्त होकर जागरूक रहता है।

सर्वे कालेन सृज्यन्ते ह्रियन्ते च पुनः पुनः ।[५]

काल से ही सब कुछ बार-बार उत्पन्न होता है और काल से ही पुनः नष्ट हो जाता है।

कालं प्राप्य महाराज न कश्चिदतिवर्तते ।[६]

महाराज, काल के पहुँच जाने पर कोई उसका अतिक्रमण नहीं कर सकता।

भूतानि सस्यप्रतिमानि लोके जातानि जातानि लुनाति कालः ।[७]

सभी प्राणी संसार में सस्य (फसल) के समान होते हैं। वे जब जब पैदा होते हैं तब तब काल उन्हें काटता रहता है।

अनियतकालाः प्रवृत्तयो विप्लवन्ते ।[८]

समय का नियमित विभाग न करके किये जाने वाले काम अस्त-व्यस्त हो जाते हैं।

---

१ शान्ति० २२७।७३
२ शान्ति० २५।५
३ शांति० २५।६
४ शांति० २२७।९५
५ अनु० १।५६
६ स्त्री० २।५
७ सु० सुधा० ३४।१३
८ कौ० मी० १० अ०

कालो हि व्यसनप्रसारितकरो गृह्णाति दूरादपि ।[१]

काल दुर्व्यसनरूपी हाथों को बढ़ाकर दूर से भी लोगों को खींच लेता है।

कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी ।[२]

यह काल अनन्त है और पृथ्वी भी बड़ी लम्बी-चौडी है।

नहि कालः प्रतीक्षेत कृतमस्य न वा कृतम् ।[३]

काल इस बात की प्रतीक्षा नहीं करता कि इस व्यक्ति ने अपना काम पूरा कर लिया या नहीं।

समय एव करोति बलाबलम् ।[४]

समय ही मनुष्य को दुर्बल एवं सबल बनाता है।

काव्य—

सुकविता यद्यस्ति राज्येन किम् ।[५]

यदि अच्छी-अच्छी कवितायें पास में हैं तो राज्य से क्या लाभ ?

करोति कीर्तिं प्रीतिञ्च साधुकाव्य-निषेवणम् ।[६]

उत्तम काव्यों का पठन-पाठन यश और प्रेम दोनों प्रदान करता है।

नानृषिः कुरुते काव्यम् ।[७]

जो ऋषि न हो अर्थात् ऋषियों के समान क्रान्तदर्शी न हो तो वह काव्य की रचना नहीं कर सकता।

वाक्यं रसात्मकं काव्यम् ।[८]

रसात्मक वाक्य काव्य कहा जाता है।

---

१ हितो० १।५२
२ मा० मा० १।४
३
४ शि० व० ६।४४
५ भ० नी० २१
६ भामह० १।२
७ सु० भा० सा०
८ सा० द० १।३

काव्यं सुधा रसज्ञानाम् ।[1]

रसिक जनों के लिए काव्य अमृत है।

रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम् ।[2]

रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने वाला शब्द काव्य कहा जाता है।

अपूर्वो भाति भारत्याः काव्यामृतफले रसः ।[3]

काव्यरूपी अमृत के फल में जो वाणी का रस होता है वह कुछ और ही तरह का होता है, वह सर्वत्र सुलभ नहीं होता।

कीर्ति—

नष्टकीर्तिस्तु नश्यति ।[4]

जिसकी कीर्ति नष्ट हो जाती है वह मनुष्य नष्ट हो जाता है।

कीर्तिरक्षणमातिष्ठ कीर्तिर्हि परमं बलम् ।[5]

कीर्ति बचाने का यत्न करो क्योंकि कीर्ति बहुत बड़ा बल है।

कीर्तिर्यस्य स जीवति ।[6]

जिसकी कीर्ति है वही जीवित है।

कुमार्ग—

अनार्यजुष्टेन पथा प्रवृत्तानां शिवं कुतः ।[7]

नीच लोगों के मार्ग से जो चलेंगे उनका कल्याण कहाँ ?

कुदेश—

कुदेशमासाद्य कुतोऽर्थसञ्चयः ।[8]

कुदेश में चले जाने पर अर्थ-संग्रह की क्या आशा ?

---

१ र० गं० २
२ र० गं० ११
३
४ आदि० २०३।११
५ आदि० २०३।१०
६
७ क० स० ८।७।५७
८

कुल—

कुलं वृत्तेन रक्ष्यते ।[१]

अच्छे आचरण से कुल की रक्षा होती है।

न कुलं वृत्तहीनस्य प्रमाणमिति मे मतिः ।[२]

चरित्रहीन व्यक्ति का कुल उसके महत्त्व का कारण नहीं होता, ऐसा मेरा विचार है।

कुलान्यकुलतां यान्ति धर्मस्यातिक्रमेण च ।[३]

धर्म का उल्लंघन करने से अच्छे कुल भी बुरे हो जाते हैं।

कुलानि न प्ररोहन्ति यानि हीनानि यत्नतः ।[४]

जो कुल प्रयत्नहीन होते हैं वे आगे नहीं बढ़ते।

यथा कुलं तथाऽऽचारः ।[५]

मनुष्य का जैसा कुल होता है, वैसा ही उसका आचरण होता है।

आचारः कुलमाख्याति ।[६]

आचरण ही मनुष्य के कुल को बतलाता है।

धनात् कुलं प्रभवति ।[७]

धन से कुल आगे बढ़ता है।

कुपुत्र—

कुपुत्रमासाद्य कुतो जलाञ्जलिः ।[८]

जब पुत्र कुपुत्र निकल जाता है तो उससे जलाञ्जलि मिलने की क्या आशा ?

---

१ उद्योग० ३४।३९
२ उद्योग० ३४।४१
३ उद्योग० ३६।२५
४ उद्योग० ३६।३१
५ चा० सू० ६।३०
६ चा० नी० ३।२
७
८

अपुत्रता मनुष्याणां श्रेयसे न कुपुत्रता ।[1]

अपुत्र होना मनुष्यों के लिए अच्छा पर कुपुत्र होना नहीं अच्छा ।

कुलीन—

क्षीणोऽपि न त्यजति शीलगुणान् कुलीनः[2]

कुलीन व्यक्ति क्षीण हो जाने पर भी अपने शील और गुणों को नहीं छोड़ता है ।

कुशल—

अन्यत्रापि सतीं लक्ष्मीं कुशला भुञ्जते सदा ।[3]

कुशल व्यक्ति दूसरे की भी सम्पत्ति का सदा उपभोग किया करते हैं ।

कृतघ्न—

अकृतज्ञोऽप्रतिकृतो हन्ति सत्त्ववतां मनः ।[4]

यदि कृतघ्न व्यक्तियों का प्रतीकार न किया जाय तो सात्विक लोगों का मन हतोत्साह हो जाता है ।

एतावान् पुरुषस्तात कृतं यस्मिन्न नश्यति ।[5]

पुरुष इतने से ही पुरुष कहलाता है कि उसके साथ किया हुआ उपकार नष्ट नहीं होता अर्थात् वह कृतघ्न नहीं होता ।

तान् मृतानपि क्रव्यादाः कृतघ्नान्नोपभुञ्जते ।[6]

राक्षस भी मरे हुए कृतघ्न व्यक्ति का मांस नहीं खाते ।

ब्रह्महत्याफलं तस्य यः कृतं नावबुध्यते ।[7]

जो व्यक्ति किसी के उपकार को नहीं मानता, कृतज्ञ नहीं होता, उसे ब्रह्महत्या का फल होता है ।

कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः ।[8]

कृतघ्न व्यक्ति के लिये कोई प्रायश्चित नहीं होता ।

---

१ चा० नी० शा० सं० ३७७
२
३ शांति० ८।२३
४ वा० रा० ४।४७।४५
५ आदि० १४६।१४
६ उद्योग० ३६।४२
७ द्रोण० १८३।२८
८ शांति० १७२।२५

कुतः कुतघ्नस्य यशः कुतः स्थानं कुतः सुखम् ।[1]

कृतघ्न व्यक्ति को यश कहाँ, स्थान कहाँ तथा सुख कहां ?

कृतज्ञ—

कृतज्ञेन सदा भाव्यं धर्मकामार्थसिद्धये ।[2]

धर्म, काम एव अर्थ की सिद्धि के लिये मनुष्य को सदा कृतज्ञ होना चाहिए।

कृतज्ञः सर्वलोकेषु पूज्यो भवति सर्वदा ।[3]

कृतज्ञ पुरुष सब लोकों में सदा पूजित होता है।

कृतज्ञता—

सज्जनैकवसतिः कृतज्ञता ।[4]

कृतज्ञता एकमात्र सज्जनों में ही निवास करती है।

कृपण—

प्रायेणार्थाः कदर्याणां न सुखाय कदाचन ।[5]

कृपण लोगों का धन प्रायः उनके लिए सुखकारक नहीं होता।

कपर्दकार्द्धलाभेन कृपणो बहु मन्यते ।[6]

कृपण व्यक्ति आधी कौड़ी के लाभ को भी बहुत बड़ा लाभ समझता है।

कृपणकरगतानां सम्पदां दुर्विपाकः ।[7]

कृपण के हाथ में आये धन की दुर्गति ही होती है।

उपभोक्तुं न जानाति कदापि कृपणो जनः ।[8]

कृपण आदमी अपनी सम्पत्ति का कभी भी उपभोग करना नहीं जानता।

---

१ शांति० १७३।२०
२ पु० सु० २।२१।७४
३ पु० सु० २।२१।७४
४ किराता० ९३।५१
५ भा० पु० ११।२३।१५
६ उ० ७०।७७
७
८ चा० नी० शा० सं० १२७५

कृपणस्य धनं याति वह्नि-तस्कर-पार्थिवैः।[1]

कृपण का धन आग, चोर तथा शासक के हाथ चला जाता है।

निष्फला कृपणे सेवा।[2]

कृपण व्यक्ति की सेवा निष्फल होती है।

कृश (दुर्बल)

कृशे कस्यास्ति सौहृदम्।[3]

कमजोर से कौन प्रेम करता है ?

कृषि–

कृषि-गोरक्ष-वाणिज्यमिह लोकस्य जीवनम्।[4]

कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य यही इस संसार में जीवन के साधन हैं।

न नः स समितिं गच्छेद् यश्च नो निर्वपेत् कृषिम्।[5]

वह हम लोगों की समिति में न आवे जो कृषि न करता हो। (धृतराष्ट्र के प्रति विदुर की उक्ति)

कृषितो नास्ति दुर्भिक्षम्।[6]

कृषि की उचित व्यवस्था होने से दुर्भिक्ष (अकाल) नहीं पड़ता।

न श्रीर्न कृषमाणस्य।[7]

जो कृषि नहीं करता उसकी सम्पत्ति नहीं बढ़ती।

तृणक्षीणा कृषिर्भवेत्।[8]

जब खेत में से घास निकाल दिया जाता है तो खेती अच्छी होती है।

कृषिर्धन्या कृषिर्मेध्या जन्तूनां जीवनं कृषिः।[9]

कृषि धन्य है, कृषि मेध्य है और कृषि प्राणियों का जीवन है।

१
२
३ पंच० ३।५८
४ वन० २०७।२४
५ उद्योग० ३६।३३
६ नी० शा० ४६
७ सु० सु० १३७।१८
८ कृ० पा० १८९
९ कृ० पा० ८

स्वयमेव कृषिं व्रजेत् ।[1]

खेती स्वयं जाकर करनी चाहिए तथा देख-रेख करनी चाहिए। उसे दूसरों पर नहीं छोड़ना चाहिये ।

क्रिया—

क्रिया हि द्रव्यं विनयति नेतरत् ।[2]

कोई क्रिया या कोई प्रयोग किसी उचित पात्र को ही विनीत बना सकता है, अपात्र को नहीं।

क्रिया हि वस्तूपहिता प्रसीदति ।[3]

जब कोई क्रिया किसी उपयुक्त स्थान पर की जाती है तो वह सफल होती है।

नाद्रव्ये विहिता काचित् क्रिया भवति शोभना ।[4]

अपात्र पर प्रयोग की गई कोई क्रिया अच्छी नहीं होती।

क्रियासिद्धिः सत्त्वे भवति महतां नोपकरणे ।[5]

क्रोध—

क्रोधं हित्वा न शोचति ।[6]

क्रोध छोड़ देने पर मनुष्य चिन्तारहित हो जाता है।

क्रोधी—

नाकार्यमस्ति क्रुद्धस्य नावाच्यं विद्यते क्वचित् ।[7]

क्रोधी व्यक्ति के लिए न कुछ अकार्य है और न कुछ अवाच्य है।

---

१ चा० नी० शा० सं० ६६४
२ कौ० अ० १।२।४
३ रघु० ३।२९
४ हि० प्र० ४४
५ भो० प्र० १९।७
६
७ वा० रा० ५।५३।६

नाऽकार्यं न च मर्यादां नरः क्रुद्धोऽनुपश्यति ।[1]

क्रुद्ध आदमी न अकार्य देखता है और न मर्यादा देखता है।

अनर्थाः क्षिप्रमायान्ति वाक्दुष्टं क्रोधनं तथा ।[2]

जो व्यक्ति दुर्वचन बोलता है और क्रोधी होता है उसके पास शीघ्र ही अनर्थ पहुँच जाते हैं।

क्रुध्यन्तमप्रतिक्रुध्यन् द्वयोरेष चिकित्सकः ।[3]

जो क्रोध करने वाले के ऊपर क्रोध नहीं करता वह उसका और अपना दोनों का कल्याण करता है।

अस्थाने कुप्यतां कुतः परिजनः ।[4]

जो अकारण क्रोध किया करते हैं उनका कौन परिजन हो सकता है ?

क्लीव—

क्लीवा हि वचनोत्तराः ।[5]

क्लीव (नपुंसक) वचन से ही उत्तर देते हैं, क्रिया से नहीं।

न क्लीवो वसुधां भुङ्क्ते न क्लीवो धनमश्नुते ।[6]

नपुंसक आदमी न पृथ्वी का भोग कर सकता है और न धन का उपयोग कर सकता है।

स्त्रियोऽपि स्त्रैणमवमन्यन्ते ।[7]

स्त्रियाँ भी नपुंसक व्यक्ति का अपमान करती हैं।

क्लेश—

क्लिश्यत्यन्तरितो जनः ।[8]

बीच के लोग क्लेश पाया करते हैं। (केवल मूर्ख और केवल ज्ञानी ही सुखी रहते हैं।)

---

१ वन० २९।१८
२ उद्योग० ३८।३४
३ वन० २९।१९
४ सो० नी० २६।६
५ उद्योग० १६२।३४
६ शान्ति० १४।१३
७ सो० नी० ८।२०
८ भाग० ३।७।१७

क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते ।[1]

सफल हो जाने पर क्लेश मनुष्य में नवीनता ला देता है।

जितक्लेशस्य पौरुषम् ।[2]

जो व्यक्ति क्लेशों और कठिनाइयों को जीत लेता है, उसी का पुरुषार्थ सिद्ध होता है।

देशान्तरप्रवासेन जितक्लेशो भवति ।[3]

विभिन्न देशों में प्रवास करने से मनुष्य क्लेशों एवं कठिनाइयों को जीत लेता है अर्थात् उन्हें सहने का अभ्यासी हो जाता है।

क्षमा—

क्षमायशः क्षमा धर्म क्षमायां निष्ठितं जगत् ।[4]

क्षमा यश है, क्षमा धर्म है और क्षमा के ऊपर जगत् स्थित है।

अलङ्कारो हि नारीणां क्षमा तु पुरुषस्य वा ।[5]

नारी हो चाहे पुरुष, क्षमा सबका अलंकार है।

क्षमावतामयं लोकः परश्चैव क्षमावताम् ।[6]

क्षमावान् लोगों के लिए ही यह लोक भी और क्षमावान् लोगों के लिए परलोक भी सुखद होता है।

श्लाघनीया यशस्या च लोके प्रभवतां क्षमा ।[7]

लोक में समर्थ लोगों की क्षमा प्रशंसनीय और कीर्तिकर होती है।

क्षमावान् दुर्लभो लोके सुसमर्थो विशेषतः ।[8]

क्षमावान् लोग ससार में दुर्लभ होते हैं और जो अच्छा सामर्थ्य रखते हुये क्षमावान् हों तो वे और भी दुर्लभ होते हैं।

---

१ कु० स० ५।८६
२ वा० नी० २।१
३ वा० नी० २।२
४ वा० रा० १।३३।९
५ वा० रा० १।३३।७
६ आति० ४२।९
७ शान्ति० १११।६८
८ दे० भा० ६।१५।३६

क्षमाशस्त्रं करे यस्य दुर्जन किं करिष्यति ।[१]

क्षमारूपी शस्त्र जिसके पास है, दुर्जन उसका क्या कर सकता है ?

क्षमया किं न सिध्यति ।[२]

क्षमा से क्या नहीं सिद्ध होता ?

अन्तर्दुष्टः क्षमायुक्तः सर्वानर्थकरः किल ।[३]

जो व्यक्ति भीतर का दुष्ट हो पर ऊपर से क्षमा का भाव दिखाता हो, तो वह सबसे बड़ा अनर्थकारी होता है।

अर्थाऽनर्थौ समौ यस्य तस्य नित्यं क्षमा हिता ।[४]

अर्थ और अनर्थ जिसके लिए बराबर हों, उसके लिये क्षमा नित्य ही हितकर है।

क्षमा शत्रौ च मित्रे च यतीनामेव भूषणम् ।[५]

मित्र और शत्रु दोनों को क्षमा कर देना मुनियों के लिए ही भूषण है।

क्षुद्रजन

अयं बन्धुरयं नेति गणना लघुचेतसाम् ।

यह अपना बन्धु है और यह नहीं है, ऐसा विचार क्षुद्र हृदयवाले करते हैं।

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम् ।[७]

यह अपना है या पराया, ऐसा विचार छोटे हृदय के लोग किया करते हैं।

बृहत्सहायः कार्यान्तं क्षोदीयानपि गच्छति ।[८]

बहुत छोटा आदमी भी बड़े लोगों की सहायता से अपने काम को पूरा कर डालता है।

१
२
३ हितो० १।१०८
४ उद्योग० ३९।५९
५ हि० २।१९१
६ योवा० उप० १८।६१
७ हि० १।७०
८ शि० व० २।१००

क्षुधा

बालानां क्षुद् बलीयसी ।[1]

बालकों की भूख बड़ी तेज होती है।

बुभुक्षां जयते यस्तु स स्वर्गं जयते ध्रुवम् ।[2]

जो भूख को जीत लेता है, वह स्वर्ग को जीत लेता है।

क्षुधा निर्णुदति प्रज्ञां धर्मबुद्धिं व्यपोहति ।[3]

भूख प्रज्ञा को विनष्ट कर देती है और धर्मबुद्धि को भी दूर कर देती है।

क्षुधा परिगतज्ञानो धृतिं त्यजति चैव हि ।[4]

भूख से पीड़ित व्यक्ति ज्ञान और धैर्य दोनों को छोड़ देता है।

क्षुत् स्वादुतां जनयति ।[5]

भूख अन्न को स्वादिष्ट बना देती है।

क्षुधातुराणां न रुचिर्न पक्वम् ।[6]

भूख से आतुर लोगों को न रुचि का ख्याल होता है और न कच्चे-पक्के का।

क्षोभ

प्रायः स्वं महिमानं क्षोभात् प्रतिपद्यते जन्तुः ।[7]

प्रायः किसी कारण मन में क्षोभ होने से ही मनुष्य अपने महत्त्व को समझता है।

खल

खलः सर्षपमात्राणि परच्छिद्राणि पश्यति ।[8]

दुर्जन मनुष्य दूसरों के सरसों के बराबर दोषों को भी देखता है।

---

१ आश्व० ९०।६१
२ आश्व० ९०।९१
३ आश्व० ९०।९०
४ आश्व० ९१।९०
५ उद्योग० ३४।५०
६
७ अ० शा० ६।३१
८ चा० रा० शा० ६।४८

खलः करोतिं दुर्वृत्तं नूनं फलति साधुषु ।[1]

दुर्जन पाप करता है पर उसका फल निश्चय ही साधु पुरुषों को भोगना पड़ता है।

अकारणाविः कृतवैरदारुणादसज्जनात् कस्य भयं न जायते ।[2]

विना कारण ही वैर करने वाले क्रूर दुष्टजनों से किसको भय नहीं रहता ?

खलानां चरित्रे खला एव विज्ञाः ।[3]

दुष्टों के चरित्र को दुष्ट ही समझते हैं।

गतिशीलता

इन्द्र इच्चरतः सखा ।[4]

ईश्वर उद्यमी पुरुष का ही मित्र बनता है।

चरन् वै मधु विन्दति ।[5]

जो चलता रहता है, वह निश्चय ही (कहीं न कहीं) मधु पा लेता है।

चराति चरतो भगः ।[6]

चलने वाले का भाग्य भी चलता रहता है।

गच्छतां गच्छतां क्षेमं दुर्बलोऽत्रावसीदति ।[7]

जो लोग चलते रहते हैं, गतिशील हैं, उन्हीं का संसार में कल्याण है। जो दुर्बल है, और आलसी है, वह दुःख पाता है।

गच्छन् पिपीलको याति योजनानां शतान्यपि ।[8]

चलता हुआ चींटा भी चलते-चलते सैकड़ों योजन चला जाता है।

१
२ कादं० प्र०
३
४ ऐ० ब्रा० ७।१५।१
५ ऐ० ब्रा० ७।१५।५
६ ऐ० ब्रा० ७।१५।२
७ शांति० २।०७३८
८

गर्व

स्वचित्तकल्पितो गर्वः कस्य नाम न विद्यते ।[1]

अपने मन से कल्पित (झूठा) गर्व किसको नहीं होता ?

गान

कलारत्नं गानम् ।[2]

संगीत कलाओं में रत्न है ।

गार्हस्थ्य

चतुर्णामाश्रमाणान्तु गार्हस्थ्यं श्रेष्ठमाश्रमम् ।[3]

चारों आश्रमों में गार्हस्थ्य सबसे श्रेष्ठ आश्रम है ।

गुण

मूले सति हि सिध्यन्ति गुणाः सर्वे फलोदयाः ।[4]

मनुष्य के अन्दर मौलिक संस्कार होने पर ही उसके गुण सिद्ध एवं फलप्रद होते हैं ।

शत्रोरपि गुणा ग्राह्याः ।[1]

शत्रु के भी गुणों को ग्रहण करना चाहिए ।

नात्यन्तं गुणवत् किञ्चिन्न चाप्यत्यन्तनिर्गुणम् ।[1]

न तो कोई वस्तु अत्यन्त गुणशाली होती है और न तो अत्यन्त गुणहीन ही होती है ।

---

१ पंच० ४।९६
२
३ वा० रा० २।१०६।२२

१ वा० रा० ४।६५।२५
२ विराट्० ५१।१५
३ शांति० ७।४०

पदं हि सर्वत्र गुणैर्निधीयते ।[1]

गुणों के कारण मनुष्य सब जगह पहुँच सकता है।

एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः ।[2]

जहाँ बहुत गुण होते हैं, वहाँ एक दोष चन्द्रमा की किरणों में कलंक के समान छिप जाता है।

प्रायेण सामग्र्यविधौ गुणानां पराङ्मुखी विश्वसृजः प्रवृत्तिः ।[3]

समस्त गुणों को एक व्यक्ति में रखने की प्रवृत्ति प्रायः विधाता की नहीं होती।

प्रायः प्रत्ययमाधत्ते स्वगुणेषूत्तमादरः ।[4]

श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा आदर पाने पर मनुष्य को अपने गुणों पर विश्वास होता है।

वसन्ति हि प्रेम्णि गुणा न वस्तुनि ।[5]

गुण प्रेम में रहते हैं वस्तुओं में नहीं।

शरीरं क्षणविध्वंसि कल्पान्तस्थायिनो गुणाः ।[6]

शरीर एक क्षण में नष्ट हो जाता है पर गुण कल्पान्त तक स्थायी रहते हैं।

गुरुतां नयन्ति हि गुणा न संहतिः ।[7]

गुरुता गुणों से प्राप्त होती है, संघ से नहीं।

गुणा पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः ।[8]

गुणियों की पूजा के कारण उनके गुण होते हैं, उनके बाहरी वेष और वय नहीं।

---

१ रघु० ३।६२
२ कु० सं० १।३
३ कु० सं० ३।२८
४ कु० सं० ६।२०
५ कि० ८।३७
६ चा० नी० शा० सं० ९८२
७ किरात० १२।१०
८ उ० रा० ४।११

गुण खल्वनुरागस्य कारणं न बलात्कार. ।[1]

गुण अनुराग का कारण होता है, बलात्कार नहीं।

गुणधर्मविहीनो यो निष्फलं तस्य जीवितम् ।[2]

जो मनुष्य गुण और धर्म दोनों से विहीन हो, उसका जीवन निष्फल है, बेकार है।

गुणेषु क्रियतां यत्नः किमाटोपैः प्रयोजनम् ।[3]

गुणवान् बनने का प्रयत्न कीजिये। केवल आडम्बरों से क्या होगा ?

गुणैरुत्तुङ्गतां याति नोच्चैरासनसंस्थितः ।[4]

गुणों के कारण मनुष्य ऊँचा होता है, ऊँचे आसन पर बैठने से नहीं।

गुणाः सर्वत्र पूज्यन्ते पितृवंशो निरर्थकः ।[5]

गुणों की ही सर्वत्र पूजा होती है। पिता का वंश तो निरर्थक ही होता है।

गुणाः सर्वत्र पूज्यन्ते दूरेऽपि वसतां सताम् ।[6]

दूर रहने वाले सज्जनों के भी गुणों की सर्वत्र पूजा होती है।

नैकत्र सर्वो गुणसन्निपातः ।[7]

समस्त गुण एक जगह नहीं होते।

गुणं पृच्छस्व मा रूपम् ।[8]

गुण पूछिये, रूप मत पूछिये।

---

१ मृ० १।३२
२ मृ० ।।३२
३ चा० नी० शा० सं० ३४८
४ चा० नी० शा० सं० ३५०
५ चा० नी० शा० सं० ३४५
६
७
८ चा० नी० शा० सं० ३४७

गुणा गुणज्ञेषु गुणा भवन्ति ।[१]

मनुष्य के गुणों का गुणीजनों में ही आदर होता है।

गुणो भूषयते रूपम् ।[२]

गुण रूप को सुशोभित करता है।

गुणानामज्ञाता प्रचुरधनदाताऽपि न मुदे ।[३]

गुणों का आदर न करने वाला व्यक्ति यदि प्रचुर मात्रा में भी धन दे तब भी वह आनन्ददायी नहीं होता।

एको गुणः खलु निहन्ति समस्तदोषान् ।[४]

मनुष्य का कोई एक ही गुण उसके समस्त दोषों को दूर कर देता है।

गुणी, गुणवान

जीवितं गुणिनः श्लाघ्यं जीवन्नपि मृतोऽगुणी ।[५]

गुणवान् पुरुष का जीवन श्लाघनीय होता है। गुणहीन व्यक्ति तो जीता हुआ भी मृतकतुल्य है।

यस्य कस्य प्रसूतोऽपि गुणवान् पूज्यते नरः ।[६]

जिस किसी कुल में भी उत्पन्न पुरुष यदि गुणवान् हो, तो वह माननीय होता है।

गुणी गुणं वेत्ति न वेत्ति निर्गुणः ।[७]

गुणी मनुष्य गुण को समझता है, गुणहीन नहीं।

---

१ चा० नी० शा० सं० ३४६
२ चा० नी० शा० सं० ३५१
३ चा० नी० शा० सं० १४३३
४ चा० नी० शा० सं० ९६९
५ मार्क० २१।१०
६ हि० प्र० २४
७ सु० र०

किं कुलेन विशालेन गुणवान् पूज्यते जनः ।[1]

विशाल कुल होने से क्या ? जो मनुष्य गुणवान् होता है उसी की पूजा होती है।

गुणवज्जनसंसर्गाद् याति स्वल्पोऽपि गौरवम् ।[2]

छोटा आदमी भी गुणी लोगों के सम्पर्क से गौरव को प्राप्त कर लेता है।

गुणिनि गुणज्ञो रमते नाऽगुणशीलस्य गुणिनि परितोषः ।[3]

जो व्यक्ति गुणज्ञ होता है, वह गुणी जनों से आनन्दित होता है पर जो गुणज्ञ नहीं है, उसे गुणी जनों से प्रसन्नता नहीं होती।

निर्गुणो यो हि दुर्बुद्धिरात्मन सोऽरिरुच्यते ।[4]

गुणहीन मनुष्य यदि दुर्बुद्धि भी हो जाय, तो वह अपना शत्रु हो जाता है।

प्राकाश्यं स्वगुणोदयेन गुणिनो गच्छन्ति किं जन्मना ।[5]

गुणी व्यक्ति अपने गुणों के कारण समाज में प्रकाशित होते हैं और चमकते हैं, केवल जन्म से क्या होता है ?

नमन्ति गुणिनो जनाः ।[6]

गुणी लोग विनम्र होते हैं।

सर्वाभिमतदानेन पूजनीया गुणान्विताः ।[7]

गुणी लोगों का, उन्हें सभी अभीष्ट वस्तु देकर, सम्मान करना चाहिए।

गुणी च गुणरागी च विरलः सरलो जनः ।[8]

गुणी भी हो, गुणानुरागी भी हो तथा सरल स्वभाव का भी हो, ऐसा व्यक्ति बहुत दुर्लभ होता है।

---

१ चा० नी० शा० १४२८
२
३ स० प० मा० ग० २२
४ पंच० ११९४
५ चा० नी० शा० सं०
६ " "
७ "
८ चा० नी० शा० सं० २६८

गुरु—

तीर्थानां गुरवस्तीर्थम् ।[1]

गुरु तीर्थों के भी तीर्थ होते हैं।

गुरुमभ्यर्च्य वर्द्धन्ते आयुषा यशसा श्रिया ।[2]

गुरु की पूजा करने से मनुष्य की आयु, यश एवं समृद्धि की सब प्रकार से वृद्धि हो जाती है।

न विना गुरुसम्बन्धं ज्ञानस्याधिगमः स्मृतः ।[3]

गुरु के सम्बन्ध के विना ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती।

ब्रूयुः स्निग्धस्य शिष्यस्य गुरवो गुह्यमप्युत ।[4]

स्नेहपात्र शिष्य को गुरुजन, गोपनीय ज्ञान को भी बतला देते हैं।

आज्ञा गुरूणां ह्यविचारणीया ।[5]

गुरुओं की आज्ञा अविचारणीय होती है।

गुरुशुश्रूषया ज्ञानम् ।[6]

गुरु की शुश्रूषा करने से ज्ञान प्राप्त होता है।

गुरवो बहवः सन्ति शिष्यवित्तापहारकाः ।[7]

शिष्यों के धन का अपहरण करनेवाले गुरु बहुत होते हैं (पर ज्ञान देने वाले बहुत कम)।

गृह—

गृहस्थस्थ परं क्षेत्रं गृहमेधिन् गृहा इमे ।[8]

गृहमेधिन् ? ये घर गृहस्थों के लिए सर्वोत्तम कर्मक्षेत्र हैं। (कश्यप ऋषि के प्रति अदिति की उक्ति)।

---

१ अनु० १६२।४८
२ अनु० १६२।४५
३ २३६।२२
४ भा० पु० १।१।८
५ रघु० १४।४६
६ वि० नी० ३६।५२
७ स० पद्य०
८ भाग० ८।१६।११

गृह्णाति पुरुषं यस्मात् गृहं तेन प्रकीर्तितम् ।[1]

गृह मनुष्य को पकड़ कर रखता है, छोड़ता नहीं है। इसलिए वह घर कहलाता है।

कलहान्तानि हर्म्याणि ।[2]

कलह से घरों का अन्त हो जाता है।

गृहस्थ—

दम्पत्योः समशीलत्वं धर्मः स्याद् गृहमेधिनः ।[3]

दम्पति अर्थात् पति-पत्नी का समान शील-स्वभाव होना गृहस्थ आश्रम का धर्म है।

गृहस्थानां विशुद्धानां धर्मस्य निचयो महान् ।[4]

जो विशुद्ध अर्थात् सब प्रकार से निर्दोष गृहस्थ हैं, वे धर्म के महान् निधि हैं।

प्रवृत्तिलक्षणो धर्मो गृहस्थेषु विधीयते ।[5]

गृहस्थों के लिए प्रवृत्तिपरक धर्म का विधान किया जाता है, निवृत्तिपरक धर्म का नहीं।

गृहस्थस्त्वेष सर्वेषां धर्माणां मूलमुच्यते ।[6]

यह गृहस्थ सब धर्मों का मूल कहा जाता है।

गृहस्थ एव यजते गृहस्थस्तप्यते तपः ।[7]

गृहस्थ ही यज्ञ करता है और गृहस्थ ही तप करता है।

गृहस्थधर्मो नागेन्द्र सर्वभूतहितैषिता ।[8]

नागेन्द्र, समस्त प्राणियों के हित की कामना करना यही गृहस्थ का धर्म है।

---

१ दे० भा० ११।४।५३
२ पंच० ५।७२
३ अनु० १४१।४३
४ अनु० १४१।७०
५ अनु० १४१।७६
६ शांति० २३४ ६
७ शांति० २६९।७
८ शांति० ३४७।७

गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठः स त्रीनेतान् बिभर्ति हि ।[1]

गृहस्थाश्रमी सबसे श्रेष्ठ माना जाता है क्योंकि वह इन तीनों (ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी एवं संन्यासी) का भरण-पोषण करता है।

स किं गृहस्थो यस्य नास्ति सत्कलत्रसम्पत्तिः ।[2]

वह कैसा गृहस्थ है, जिसके पास उत्तम कलत्ररूपी सम्पत्ति न हो।

गृहस्थाश्रम—

जितेन्द्रियस्यात्मरतेर्बुधस्य गृहश्रमः किन्नु करोत्यवद्यम् ।[3]

जो विद्वान् जितेन्द्रिय हो और आत्मज्ञानी हो, उसके लिए गृहस्थाश्रम क्या हानि या बुराई कर सकता है ?

गृहस्थाश्रमः कार्यक्षेत्रं यस्मिन्नहि कर्माण्युत्सीदन्ति यदयं कामकरण्ड एव आवसथः ।[4]

गृहस्थाश्रम वह कर्मक्षेत्र है, जिसमें कर्म कभी समाप्त नहीं होते। क्योंकि यह आश्रम कामनाओं का पिटारा होता है।

गृहिणी—

न गृहं गृहमित्याहुः गृहिणी गृहमुच्यते ।[5]

गृह को गृह नहीं कहा जाता, गृहिणी को ही गृह कहा जाता है।

वृक्षमूलेऽपि दयिता यदि तिष्ठति तद् गृहम् ।[6]

यदि वृक्ष के नीचे भी अपनी प्रियतमा हो, तो वही गृह है।

कुगेहिनीं प्राप्य गृहे कुतः सुखम् ।[7]

दुष्ट गृहिणी को पाकर घर में सुख कहाँ ?

---

१ मनु० ६।८९
२ सो० नी० २७।१३
३ भाग० ५।११।७
४ भाग० ५।१४।४
५ शांति [illegible]
६ पंच० [illegible]
७ [illegible]

गो—

सा वर्धतां महते सौभगाय ।[१]

देश के महान सौभाग्य के लिये वह (गौ) बढती रहे ।

मिष्टाशा गोमता जिता ।[२]

जिसके पास गाय होती है, उसकी मधुर पदार्थों को खाने की इच्छा पूरी होती हैं ।

गोधनं राष्ट्रवर्धनम् ।[३]

गोधन राष्ट्र को बढ़ाने वाला होता है ।

गोषु यज्ञाः प्रतिष्ठिताः ।[४]

यज्ञ गौओं के ऊपर ही प्रतिष्ठित है ।

अन्नं हि परमं गावः ।[५]

गायें सबसे बड़ी धन-सम्पत्ति है ।

गावो यत्र ततः सुखम् ।[६]

जहाँ गायें हैं, वहाँ सुख है ।

नागुः सम्पन्नमश्नाति ।[७]

जिसके पास गौ नहीं, वह सम्पूर्णरूप से उत्तम भोजन नहीं कर सकता ।

विना गोरसं को रसो भोजनानाम् ।[८]

विना गोरस के भोजन का रस कैसा ?

---

१ अथर्व ९।१०।५

२ उद्योग० ३४।४७

३ विराट्० ३३।९

४ अनु० ७८।८

५ अनु० ७८।७

६ चा० नी० शा० सं० १४८९

७ सु० सु० १३७।१८

८

मातरः सर्वभूतानां गावः सर्वसुखप्रदाः ।[१]

गौएँ सब प्राणियों की माता तथा सबको सुखप्रद होती है।

चञ्चल—

पारिप्लवमतेर्नित्यमध्रुवो मित्रसंग्रहः ।[२]

चञ्चल बुद्धि वाले पुरुष के लिए मित्रों का संग्रह अनिश्चित है।

आत्मनश्चञ्चलो नास्ति कुतोऽन्येषां भविष्यति ।[३]

चञ्चल मनुष्य अपना ही (हितकारी) नहीं हो सकता, तो दूसरों का कहाँ से होगा ?

न चलचित्तस्य कार्यावाप्तिः ।[४]

चञ्चल चित्तवाले पुरुष के काम नहीं बनते।

चतुर—

आकारेणैव चतुरास्तर्कयन्ति परेङ्गितम् ।[५]

चतुर व्यक्ति आकार से ही दूसरों का अभिप्राय समझ लेते हैं।

अन्यत्रापि सतीं लक्ष्मीं कुशला भुञ्जते सदा ।[६]

कुशल पुरुष दूसरों के घर की भी लक्ष्मी का उपभोग किया करते हैं।

चतुरता—

या लोकद्वयसाधनी चतुरता सा चातुरी चातुरी ।[७]

जो लोक और परलोक दोनों का साधन करे वही चातुरी चातुरी है।

---

१ अनुशा० ६९।७
२ उद्योग० ३६।३९
३ शांति १३८।४९
४ चा० सू० २।११
५
६
७ गु० र० १०

चरित्र—

ऋजुकर्म सत्यं सुचरितम् ।[१]

ऋजुता और सत्य यह दोनों ही अच्छे चरित्र के लक्षण हैं।

मानं न लभते सत्सु भिन्नचारित्रदर्शनः ।[२]

चरित्र और दृष्टिकोण से दूषित हो जाने पर मनुष्य को सज्जनों के बीच सम्मान नहीं मिलता।

चारित्रमेव व्याख्याति शुचिं वा यदि वाऽशुचिम् ।[३]

मनुष्य शुचि है अथवा अशुचि, इसे उसका चरित्र ही बतलाता है।

चित्त—

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावना-तश्चित्तप्रसादनम् ।[४]

सुखी, दुःखी, पुण्यवान् तथा अपुण्यवान् (पापात्मा) प्राणियों के प्रति क्रमशः मैत्री, करुणा, मुदिता तथा उपेक्षा की भावना करने से चित्त प्रसन्न होता है, निर्मल होता है।

चित्तमेव नरो नाऽन्यत् ।[५]

मनुष्य चित्त ही है और कुछ नहीं।

चित्तमेव हि संसारो रागादिक्लेशदूषितम् ।[६]

राग आदि क्लेश से दूषित यह चित्त ही संसार है।

चित्तायत्तमिदं सर्वं जगत् स्थिरचरात्मकम् ।[७]

यह सारा स्थावर एवं जंगम जगत् चित्त के अधीन है।

---

१ तै० ३, ३, ७, १०
२ वा० रा० २।११०।३
३ वा० रा० २।११०।४
४ पा० यो० १।३३
५ योवा० उप० ४।२०
६ योवा० उ० ८४ ३६
७ योवा० उ० ९८'३

प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठति ।[1]

जिसका चित्त प्रसन्न होता है, उसकी बुद्धि शीघ्र ही स्थिर हो जाती है।

विचित्ररूपाः खलु चित्तवृत्तयः ।[2]

चित्त की वृत्तियाँ विचित्र प्रकार की होती हैं।

विमलं कलुषीभवच्च चेतः कथयत्येव हितैषिणं रिपुं वा ।[3]

चित्त जब प्रसन्न होता है तो हितैषी को, और कलुषित होता है तो शत्रु को स्वयं ही बतला देता है।

चित्तनदी नाम उभयतोवाहिनी, वहति पापाय च वहति पुण्याय च ।[4]

यह चित्त एक नदी है, जो दोनों ओर बहती है—पाप की ओर भी और पुण्य की ओर भी।

चित्तं कारणमर्थानां तस्मिन् सति जगत्त्रयम् ।[5]

चित्त ही समस्त अर्थों का कारण है। उसके रहने पर ही तीनों जगत् विद्यमान रहते हैं।

स्वस्थे चित्ते बुद्धयः संस्फुरन्ति ।[6]

जब चित स्वस्थ रहता है, तो तरह-तरह की बुद्धि स्फुरित होती है।

विषमश्चित्तनिग्रहः ।[7]

चित्त को वश में कर लेना बहुत कठिन होता है।

---

१ भ० गी० २ ६५

२ किराता० १।३७

३ किराता० १३।६

४

५ योवा० वै० १६।२५

६

७ योवा० वै० १६।२४

चित्र—

आलेख्यं हि खलु मूकस्य सुविशदमुपदेशो वधिरस्यापि नियतं ज्ञानसाधनमिति ।[१]

चित्र निश्चितरूप से मूकों के लिए भी उत्तम उपदेशप्रद तथा वधिरों के लिए भी ज्ञान का साधन होता है।

कलानां प्रवरं चित्रं धर्मकामार्थमोक्षदम् ।[२]

चित्रकला सभी कलाओं में श्रेष्ठ होती है तथा इससे धर्म, काम, अर्थ एवं मोक्ष की प्राप्ति होती है।

चिन्ता—

चिन्ता बहुतरी तृणात् ।[३]

चिन्ता तृण से भी बहुत अधिक होती है।

यश्चिन्ताख्यो ज्वरः पुंसामौषधैर्नैव शाम्यति ।[४]

मनुष्यों का जो चिन्तानामक ज्वर है, वह औषधों से शान्त नहीं होता।

चिन्ताज्वरो मनुष्याणां क्षुधां निद्रां बलं हरेत् ।[५]

चिन्तारूपी ज्वर मनुष्यों की भूख, निद्रा एवं बल इन सबको हर लेता है।

चिन्तासमं नास्ति शरीरशोषणम् ।[६]

चिन्ता के समान शरीर को सुखाने वाली अन्य कोई वस्तु नहीं।

चिता दहति निर्जीवं चिन्ता दहति जीवितम् ।[७]

चिता निर्जीव को जलाती है पर चिन्ता सजीव को जलाती है।

---

१ सा० सु० चतुर्थ उपाधिवितरणोत्सवांकः
२ वि० ध० पु० ३।४५।४८
३ वन० ३१।६०
४ स्क० का० १।४७।११
५ स्क० का० १।६९
६ चा० नी० शा० सं० १४०६
७ चा० नी० शा० सं० १४६२

चिन्ता जरा मनुष्याणाम् ।[१]

चिन्ता मनुष्यों के लिए बुढ़ापा है।

वर्धिता वर्धते चिन्ता ।[२]

चिन्ता बढ़ाने से बढ़ती है।

का चिन्ता मम जीवने यदि हरिर्विश्वम्भरो गीयते ।[३]

यदि मेरे जीवन में विश्वपालक हरि का गुणगान हो रहा है, तो फिर चिन्ता किस बात की ?

चिन्तन—

मधुरं कटुतामेति कटुभावेन चिन्तितम् ।[४]

यदि कटु भाव से चिन्तन किया जाता है, तो मधुर भी कटु हो जाता है।

मित्रबुद्ध्या द्विषन्मित्रं रिपुबुद्ध्या रिपुः सुहृत् ।[५]

मित्र बुद्धि रखने से शत्रु भी मित्र हो जाता है और शत्रुबुद्धि रखने से मित्र भी शत्रु हो जाता है।

अमृतत्वं विषं याति सदैवाऽमृतवेदनात् ।[६]

सदा अमृत की भावना करते रहने से विष भी अमृत हो जाता है।

यच्चिन्तितं तदिह दूरतरं प्रयाति, यच्चेतसाऽपि न कृतं तदिहाभ्युपैति ।[७]

जो बात सोचता हूँ, वह बहुत दूर चली जाती है और जो बात मन में कभी आयी भी नहीं, वह पहुंच जाती है।

१
२
३
४ योवा० उप० ६०।२७
५ योवा० उप० ६०।२८
६ योवा० उप० ६०।१७
७

यादृगिच्छेच्च भवितुं तादृग् भवति पूरुषः ।[१]

मनुष्य जैसा होना चाहे, वैसा हो जाता है।

छलकपट—

कुहकचकितो लोकः सत्येऽप्यपायमवेक्ष्यते ।[२]

जो व्यक्ति लोगों के छल-कपटपूर्ण व्यवहारों से आतंकित रहते हैं, वे सच्चाई में भी दोष की आशंका करते हैं।

जगत्—

यथासंवेदनं जगत् ।[३]

मनुष्य की जैसी संवेदना होती है, उसके लिए जगत् भी वैसा ही प्रतीत होता है।

सर्वमावर्त्यते जगत् ।[४]

सारा जगत् बराबर बदलता रहता है।

जनरव—

असाधुः साधुर्वा हरति महिमानं जनरवः ।[५]

लोकापवाद झूठा हो या सच, मनुष्य के महत्त्व को नष्ट कर देता है।

जन्म—

धिग् तस्य जन्म यो लोके पित्रा विज्ञायते नरः ।[६]

उस मनुष्य के जन्म को धिक्कार है, जो पिता के कारण विख्यात होता है।

---

१ ४ योवा० वै० २८।३५
२ हितो० ४।१०४ ५
३ योवा० उ० ६०।२९ ६ यार्क० २०।१०

नरस्य बह्वपत्यस्य धिग् जन्मैश्वर्यवर्जितम् ।[१]

बहुत सन्तति वाले व्यक्ति के ऐश्वर्यरहित जन्म को धिक्कार है।

जातस्य हि ध्रुवं मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।[२]

जो जन्म लेता है, उसकी मृत्यु सुनिश्चित है तथा जो मरता है, उसका जन्म सुनिश्चित है।

स जातो येन जातेन याति वंशः समुन्नतिम् ।[३]

उसी का जन्म सार्थक है, जिसके जन्म लेने से वंश की उन्नति होती है।

धिग् जन्म यत्नरहितम् ।[४]

प्रयत्न रहित जन्म को धिक्कार है।

धिग् जन्म सुखवर्जितम् ।[५]

सुखवर्जित जन्म को धिक्कार है।

धिग् जन्माचाररहितम् ।[६]

आचाररहित जन्म को धिक्कार है।

धिग् जन्म ज्ञानवर्जितम् ।[७]

ज्ञानरहित जन्म को धिक्कार है।

धिग् जन्म बन्धुरहितम् ।[८]

बन्धु-बान्धवरहित जन्म को धिक्कार है।

धिग् जन्म ख्यातिवर्जितम् ।[९]

ख्यातिरहित जन्म को धिक्कार है।

---

१ स्क० वै० २।९-१०
२ भ० नी० २।२७
३ हि० प्र० १५
४ स्क० वै० २।९–१०
५ ,, ,,
६ स्क० वै० २।९–१०
७ ,, ,,
८ ,, ,,
९ ,, ,,

जन्मभूमि–

माताः भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः ।[१]

जन्मभूमि हमारी माता है और हम जन्मभूमि के पुत्र हैं।

जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी ।[२]

जजनी और जन्मभूमि स्वर्ग से भी बढ़कर श्रेष्ठ होती हैं।

जाकरूक–

यो जागार तमृचः कामयन्ते, यो जागार तमु सामानि यन्ति।[३]

जो जागरणशील है, उसी को ऋचाएँ चाहती हैं और जो जागरण-शील है, उसी के पास साम के मन्त्र जाते हैं।

भूत्यै जागरणम् अभूत्यै स्वपनम् ।[४]

जागरण उन्नतिकारक है और निद्रा अवनतिकारक है।

पुरतः कृच्छ्रकालस्य धीमान् जागर्ति पूरुषः ।[५]

नास्ति जागरतो भयम् ।[६]

जागते रहने वाले को भय नहीं होता।

जाति–

आचार्यशिष्टा या जातिः सा नित्या साऽजराऽमरा ।[७]

आचार्य के शिक्षणद्वारा जो जाति बनती है, वही नित्य अजर एवं अमर होती है।

---

१ अथर्व० १२।१।१२
२
३ ऋग्० ५।४४।१४
४ यजु० ३०।१७
५ आदि० २३१।१
६ चा० नी० ३।११
७ शांति १०८।२२

जातिमात्रेण किं कश्चिद् हन्यते पूज्यतेऽथवा ।[1]

केवल जाति से न कोई अपमानित होता है, न सम्मानित होता है।

जातौ जातौ नवाचाराः ।

जाति-जाति में नये-नये आचार हैं।

जामाता—

जामाता दशमो ग्रहः ।[2]

जामाता दसवाँ ग्रह होता है।

जाया (स्त्री)—

सोऽकामयत । जाया मे स्यादथ प्रजायेय ।[3]

उसने चाहा कि मुझे स्त्री हो ताकि मैं पूर्ण होऊँ।

अर्द्धो ह वा एष आत्मनो यज्जाया । तस्माद् यावज्जायां न विन्दते नैव तावत् प्रजायते, असर्वो हि तावद् भवति ।[4]

जो जाया (स्त्री) है, वह आत्मा का अर्धभाग है। इसलिए मनुष्य को जबतक पत्नी नहीं होती, तबतक वह पूर्ण नहीं होता। तबतक अपूर्ण ही रहता है।

जायायास्तद्धि जायात्वं यदस्यां जायते पुनः ।[5]

जाया को इसलिए जाया कहा जाता है कि, पति (पुत्र के रूप में) उसमें पुनः जन्म लेता है।

देखिये—स्त्री

---

१ हितो० १।५८
२ चा० नी० शा० सं० १०९७
३ स० प० म० ६
४ बृ० उ० १।४।१७
५ श० ब्रा० ५।२।१।१०
६ मनु० ९।८

जितेन्द्रिय -

न स पापः कुतोऽनर्थैर्युज्यत विजितेन्द्रियः ।[१]

जितेन्द्रिय पुरुष पाप ही नहीं करता, तो उसके पास अनर्थ कैसे आ सकते हैं ?

दान्तः शमपरः शश्वत् परिक्लेशं न विन्दति ।[२]

जो सदा जितेन्द्रिय एवं शान्त रहता है, उसे क्लेश नहीं होता ।

व्यसनैर्न तु संयोगं प्राप्नोति विजितेन्द्रियः ।[३]

जितेन्द्रिय पुरुष व्यसनों के सम्पर्क में नहीं जाता ।

सुखं दान्तः प्रस्वपिति सुखं च प्रतिबुध्यते ।[४]

जितेन्द्रिय मनुष्य सुख से सोता है और सुख से जागता है ।

जितात्मा सर्वार्थैः संयुज्यते ।[५]

जो मनुष्य अपने पर विजय प्राप्त कर लेता है, वह सब कुछ प्राप्त कर लेता है ।

न जितेन्द्रियाणां विषयभयम् ।[६]

जितेन्द्रियो को विषय का भय नहीं होता ।

यत्रैव निवसेद् दान्तस्तदरण्यं स चाश्रमः ।[७]

जितेन्द्रिय पुरुष जहाँ भी रहे, वही उसके लिए अरण्य है और वही आश्रम है ।

---

१ वन० २११।२२
२ वन० २५९।२३
३ वन० २५९।२५
४ शांति० १६०।१२
५ चा० सू० १।१०
६ चा० सू० ४।३०
७

दान्तस्य किमरण्येन ?[1]

जितेन्द्रिय को अरण्य से क्या काम ?

कः शूरो विजितेन्द्रियः ।[2]

शूर कौन है ? जो जितेन्द्रिय हो।

गृहेऽपि पञ्चेन्द्रियनिग्रहस्तपः ।[3]

पाँचों इन्द्रियों का निग्रह यदि घर में ही हो सके, तो वह भी तप है।

जिह्वा—

जिह्वायत्तौ वृद्धिविनाशौ ।[4]

मनुष्य का विकास और विनाश जीभ के ही अधीन है।

विषामृतयोराकरो जिह्वा ।[5]

जीभ विष और अमृत दोनों का आकर हैं—खजाना है।

जीव (प्राणी, जीवात्मा)—

सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः ।[6]

मनुष्य शस्य (फसल) की तरह पकता है, कटता है और फिर पैदा होता है।

अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुख-दुःखयोः ।[7]

जीव अपने सुख और दुःख के विषय में न तो कुछ जानता है न कुछ कर सकता है।

गृहीत्वा जायते जन्तुर्दुःखानि च सुखानि च ।[8]

मनुष्य दुःख और सुख को लेकर जन्म लेता है।

१
२
३ चा० रा० शा० ५।४२
४ चा० सू० ६।७०
५
६ क० उ० १।१।६
७ वन० ३०।२८
८ शांति० १५३।३७

स्वयं कृतानि कर्माणि जातो जन्तुः प्रपद्यते ।[१]

मनुष्य जन्म लेकर अपने पहले के किए हुए कर्मों के अधीन रहता है।

भ्रान्तिबद्धो भवेज्जीवो भ्रान्तिमुक्तः सदाशिवः ।[२]

अज्ञान से बद्ध मनुष्य जीव कहलाता है और अज्ञान से मुक्त मनुष्य शिव हो जाता है।

सर्वाणि भूतानि सुखे रमन्ते सर्वाणि दुःखस्य भृशं तपन्ते ।[३]

सभी प्राणी सुख में आनन्द का अनुभव करते हैं और दुःख से बहुत पीड़ित होते हैं।

एकः प्रजायते जन्तुरेक एव प्रलीयते ।[४]

मनुष्य अकेला ही जन्म लेता है और अकेला ही परलोक जाता है।

जीवो जीवस्य जीवनम् ।[५]

जीव ही जीव के जीवन का साधन है।

जीवन-जीवित—

अपि सर्वं जीवितमल्पमेव ।[६]

सारा जीवन भी (अनन्तकाल की तुलना में) थोड़ा ही है।

एति जीवन्तमानन्दो नरो वर्षशतादपि ।[७]

यदि मनुष्य जीता रहता है, तो सौ वर्ष के बाद भी उसे आनन्द प्राप्ति का अवसर प्राप्त होता है।

जीवन् भद्राणि पश्यति ।[८]

मनुष्य जीता रहता है, तो बहुत सी भलाइयाँ देखता है।

---

१ शांति०. १९८।३०
२ ज्ञा० सं ४९
३
४ म० स्मृ० ४।२४०
५
६ क० उ० १।१।२६
७ वा० रा० ५।३४।१६
८ विराट्० ३८।४२

जीवेच्च यदपध्वस्तस्तच्छुद्धं मरणं भवेत् ।[१]

पराभूत एवं तिरस्कृत होकर जो जीना है, वह शुद्ध मरण है।

नात्मच्छन्देन भूतानां जीवितं मरणं तथा ।[२]

प्राणियों का जीवन अथवा मरण कुछ भी अपनी इच्छानुसार नहीं होता।

मुहूर्तं ज्वलितं श्रेयो न च धूमायितं चिरम् ।[३]

यदि मनुष्य का जीवन थोड़ी देर के लिए भी तेजस्वितापूर्ण हो, तो वह अच्छा परन्तु यदि बहुत दिनों तक भी धूएँ की तरह निस्तेज हो, तो ऐसा जीवन व्यतीत करना ठीक नहीं।

मनश्चक्षुविहीनस्य कीदृशं जीवितं भवेत् ।[४]

जिसके न मन हो, न नेत्र हो—अर्थात् न भीतरी दृष्टि हो और न बाहरी—उसका जीवन भला कैसा हो सकता है?

जीवितं मरणात् श्रेयो जीवन् धर्ममवाप्नुयात् ।[५]

मरण से जीना उत्तम है क्योंकि मनुष्य जीवित रहता है, तो धर्म आचरण करता है।

द्रव्याणि सन्ततिश्चैव सर्वं भवति जीवतः ।[६]

मनुष्य जब जीवित रहता है, तो धन-सम्पत्ति एवं सन्तान आदि सब कुछ प्राप्त होता है।

जीवन् पुण्यमवाप्नोति पुरुषो भद्रमश्नुते ।[७]

जीता हुआ आदमी पुण्य भी करता है और उसकी भलाई भी होती है।

जीविताशा बलीयसी ।[८]

जीने की आशा बड़ी बलवती होती है।

---

१ शांति० १२३।१९
२ उद्योग० ७२।५०
३ उद्योग० १३३।१५
४ सभा० १६।२
५ शांति० १४१।६५
६ शांति० १३८।९६
७ शांति० १४१।१०
८ भाग० १०।१४।५३

यस्मिन् जीवति जीवन्ति बहवः स तु जीवति ।[1]

जिसके जीने से बहुत लोगों को जीवन प्राप्त हो, उसी का जीवन सफल है।

सर्वं जीवद्भिराप्यते ।[2]

आदमी जीवित रहता है, तो सब कुछ पाता है।

स जीवति गुणा यस्य धर्मो यस्य स जीवति ।[3]

जिस मनुष्य में गुण और धर्म दोनों हों, उसी का जीवन जीवन है।

जीवन्नरो भद्रशतानि भुङ्क्ते ।[4]

मनुष्य जीता है, तो सैकड़ों सुख भोगता है।

जीविका—

अञ्जसा येन वर्तेत तदेवास्य हि दैवतम् ।[5]

मनुष्य जिस काम से सुखपूर्वक जीविका चला सके, वही उसका देवता है।

वृत्तिर्धर्माद् गरीयसी ।[6]

जीविका धर्म से भी बड़ी होती है, महत्त्वपूर्ण होती है।

यो यस्य हरते वृत्तिं प्राणान् हरति तस्य सः ।[7]

जो जिसकी वृत्ति का हरण करता है, वह उसके प्राणों का हरण करता है।

ज्ञाति—

कृत्स्नाद् भयं ज्ञातिभयं सुकष्टं विदितं च नः ।[8]

सभी भयों से भाइयों का भय विशेष कष्टकारक होता है, यह हम लोगों को विदित है।

---

१ हि० सु० ३७
२ क० स० १८।४।२५१
३ चा० नी० १४।१२
४
५ भाग० १०।२४।१८
६ शान्ति० १३०।१४
७
८ वा० रा० ६।१६।८

हृष्यन्ति व्यसनेष्वेते ज्ञातीनां ज्ञातयः सदा ।[१]

भाइयों के दुःख में सदा ही भाई लोग प्रसन्न रहते हैं।

ज्ञातयस्तारयन्तीह ज्ञातयो मज्जयन्ति च ।[२]

भाई ही भाइयों को तारते हैं और भाई ही भाइयों को डुबाते हैं।

ज्ञातयो वर्धनीयास्ते य इच्छन्त्यात्मनो हितम् ।[३]

उन जाति-भाइयों को बढ़ाना चाहिये, जो अपना हित चाहते हों।

निर्दहति कुलमशेषं ज्ञातीनां वैरसम्भवः क्रोधः ।[४]

भाइयों के वैर-विरोध से उत्पन्न क्रोध समूचे कुल को जला डालता है।

ज्ञान—

ज्ञानस्यान्तो न विद्यते ।[५]

ज्ञान का अन्त नहीं है।

ज्ञानं निःश्रेय इत्याहुर्वृद्धा निश्चितदर्शिनः ।[६]

वृद्ध तत्त्वदर्शी पुरुषों ने ज्ञान को ही निःश्रेयस कहा है।

गुरुशुश्रूषया ज्ञानम् ।[७]

गुरु की शुश्रूषा करने से ज्ञान प्राप्त होता है।

ज्ञाने तिष्ठन्न बिभेतीह मृत्योः ।[८]

ज्ञान में अवस्थित हो जाने पर मनुष्य मृत्यु से नहीं डरता।

---

१ वा० रा० ६।१६।३
२ उद्योग० ३९।२५
३ उद्योग० ३९।१८
४ प्र० च० ५।१
५ आश्व० ४४।२१
६ आश्व० ५०।३
७ उद्योग० ३६।५२
८ उद्योग० ४२।१६

ज्ञानतृप्तो न शोचति ।[१]

जो पुरुष ज्ञान से तृप्त है, उसे किसी बात का शोक नहीं होता ।

नैकत्र परिनिष्ठा च ज्ञानस्य पुरुषे क्वचित् ।[२]

किसी भी एक पुरुष में ज्ञान की परिपूर्णता नहीं होती ।

श्रेयान् द्रव्यमयात् यज्ञात् ज्ञानयज्ञः परन्तप ।[३]

परन्तप, द्रव्ययज्ञ की अपेक्षा ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ होता है ।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।[४]

विनम्रता, प्रश्न (शंका-समाधान) तथा सेवा करके उस ज्ञान को प्राप्त करो ।

नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।[५]

इस संसार में ज्ञान से बढ़कर कोई वस्तु पवित्र नहीं है ।

श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।[६]

जो व्यक्ति श्रद्धावान्, ज्ञानार्जन में तत्पर तथा संयमी होता है, वही ज्ञान प्राप्त करता है ।

श्रेयसामिह सर्वेषां ज्ञानं निःश्रेयसं परम् ।[७]

सभी श्रेयस्कर वस्तुओं में ज्ञान सबसे बड़ा श्रेयस्कर है ।

सुखं तरति दुष्पारं ज्ञाननौर्व्यसनार्णवम् ।[८]

ज्ञानरूपी नौका व्यसनरूपी दुष्पार सागर को आराम से पार कर जाती है ।

---

१ शांति० ३२९।२४
२ वन० ७२।८
३ भ० गी० ४।३३
४ भ० गी० ४।३३
५ भ० गी० ४।३८
६ भ० गी० ४।३९
७ भाग० ४।२४।७५
८ भाग० ४।२४।७५

ज्ञानं प्रधानं न तु कर्महीनं कर्म प्रधानं न तु बुद्धिहीनम् ।[1]

ज्ञान प्रधान है परन्तु कर्महीन नहीं और कर्म भी प्रधान है परन्तु बुद्धिहीन नहीं।

ज्ञानमार्गे ह्यहङ्कारः परिघो दुरतिक्रमः ।[2]

अहंकार ज्ञान के मार्ग में जबरदस्त अर्गला है, रुकावट है।

हतं ज्ञानं क्रियाहीनम् ।[3]

क्रियाहीन ज्ञान निरर्थक है, बेकार है।

ज्ञानं यत्र शिवं तत्र ।[4]

जहाँ ज्ञान है, वहाँ कल्याण है।

ज्ञानेन किं बहुशठाग्रहसंकुलेन ।[5]

उस ज्ञान से क्या जो अनेक दुराग्रहों से भरा हो।

ज्ञानं न किं किं कुरुते नराणाम् ।[6]

ज्ञान मनुष्यों का क्या-क्या हित सिद्ध नहीं कर देता ?

ज्ञानं भारः क्रियां विना ।[7]

क्रिया (कर्म) के विना ज्ञान भारस्वरूप होता है।

यस्यागमः केवलजीविकायै तं ज्ञानपण्यं वणिजं वदन्ति ।[8]

जिसका शास्त्राध्ययन केवल जीविका के लिए अर्थात् द्रव्यार्जन के लिए होता है, वह विद्वान् ज्ञान को बेचने वाला बनिया कहलाता है।

---

१ भाग० ४।२४।७५
२ क० स० ११५।१३७
३ चा० नी० ८।८
४ चा० नी० शा० सं० १४८९
५ वृ० नी० २।६
६ सु० र० सं० १८९
७ हि० १।१८
८ मा० अ० ११७

शुचि भूषयति श्रुतं वपुः प्रशमस्तस्य भवत्यलंक्रिया ।[१]

निर्मल ज्ञान शरीर का भूषण है और उस ज्ञान का भूषण शांति है।

ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः ।[२]

विना ज्ञान के मुक्ति नहीं होती।

नहि ज्ञानात् परं किञ्चित् पवित्रं पापनाशनम् ।[३]

ज्ञान से बढ़कर कुछ भी पवित्र तथा पापनाशक नहीं है।

ज्ञानी—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत ।[४]

उठो, जागो और ज्ञानियों के पास पहुँच कर ज्ञान प्राप्त करो।

प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ।[५]

ज्ञानियों के लिए मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और मेरे लिए ज्ञानी अत्यन्त प्रिय हैं।

ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।[६]

ज्ञानी तो हमारी आत्मा ही है। (भगवान् श्रीकृष्ण का वचन)

ज्ञानिभ्यो व्यवसायिनः ।[७]

ज्ञानियों की अपेक्षा काम करने वाले पुरुष श्रेष्ठ होते हैं।

पण्डिताः समदर्शिनः ।[८]

ज्ञानी पुरुष समदर्शी होते हैं।

---

१ किरात० २।३२

२

३

४ क० उ० १।३।१४

५ भ० गी० ७।१७

६ भ० गी० ७।१८

७ मनु० १२।१०३

८ भ० गी० ५।१८

न क्लेशो ज्ञानिनो धैर्यान्मूढः क्लिश्यत्यधैर्यतः ।[१]

धैर्य होने के कारण ज्ञानियों को क्लेश नहीं होता पर मूढजन धैर्य न होने के कारण क्लेश पाते हैं।

ज्ञानिनो भोगिनो योगिनश्चेतरे ज्ञानिनो लक्ष्यते नैकरूपा स्थितिः ।[२]

ज्ञानियों में कुछ लोग भोगी होते हैं और कुछ लोग योगी होते हैं। ज्ञानियों की एक समान स्थिति नहीं होती।

तप—

इन्द्रियाण्येव संयम्य तपो भवति नाऽन्यथा ।[३]

इन्द्रियों का सयम करने से ही तप होता है, अन्यथा नहीं।

तपो हि दुरतिक्रमम् ।[४]

तप के प्रभाव को दबाना बहुत कठिन होता है।

तपः क्षरति विस्मयात् ।[५]

तप का अभियान करने से तप का प्रभाव क्षीण हो जाता है।

तपोमूलमिदं सर्वं दैवमानुषकं जगत् ।[६]

इस सारे दैव और मनुष्य जगत का मूल तप ही है।

तपसा महदाप्नोति बुद्ध्या वै विन्दते महत् ।[७]

तप और विद्या से मनुष्य महान वस्तुओं को प्राप्त करता है।

तपसा लभ्यते सर्वं प्रलाप. किं करिष्यति ।[८]

तप करके सब कुछ पाया जा सकता है, बहुत बातें करने से क्या होगा ?

---

१ पंचदशी
२
३ वग० २११।६८
४ मनु० १२।२३९
५ मनु० ४।२३६
६ मनु० ११।२३३
७ शांति० १९।२६
८ शांति० १५३।३४

नातप्ततपसो लोके प्राप्नुवन्ति महासुखम् ।[१]

संसार में बिना तप किये कोई महान सुख प्राप्त नहीं कर सकता।

तपः स्वधर्मवर्तित्वम् ।[२]

अपने धर्म पर आरूढ़ रहना तप है।

तपसा विन्दते महत् ।[३]

तप के द्वारा महान की प्राप्ति होती है।

प्राप्येमां कर्मभूमिं न चरति मनुजो यस्तपो मन्दभाग्यः ।[४]

इस कर्मभूमि में जन्म लेकर जो मनुष्य तप नहीं करता वह भाग्य-हीन है, अभागा है।

तपसा किं न सिध्यति ।[५]

तप से क्या नहीं सिद्ध हो सकता है ?

गृहेऽपि पञ्चेन्द्रिय निग्रहस्तपः ।[६]

घर में रहते हुए भी पाँचों इन्द्रियों को वश में रखना तप कहलाता है।

तपोवन—

पुरुषस्य वयःसुखानि भुक्त्वा रमणीयो हि तपोवनप्रदेशः ।[७]

यौवन के सुखों को भोगने के बाद तपोवनों का प्रदेश ही मनुष्य के निवास के लिए अच्छा होता है।

निवृत्तरागस्य गृहं तपोवनम् ।[८]

जिस मनुष्य के मन से राग-द्वेष की निवृत्ति हो गई तो उसके लिए घर ही तपोवन है।

---

१ वन० २५९।१३
२ वन० ३१३।८८
३ आश्रम० ३६।२९
४ भ० नी० १०१
५
६ हितो० ४।८५
७ बु० च० ५।३३
८ हितो० ४।८५

तितिक्षा—

एतावान् साधुवादो हि तितिक्षेतेश्वरः स्वयम् ।[१]

समर्थ व्यक्ति के लिए यही साधुवाद का विषय है कि वह क्षमाशील हो, सहनशील हो।

न तितिक्षासममस्ति साधनम् ।[२]

तितिक्षा (सहनशीलता) के समान कार्यसिद्धि का और कोई साधन नहीं है।

तीर्थ—

सर्वाणि खलु तीर्थानि गुणवन्ति मनीषिणः ।[३]

मनीषी व्यक्ति के लिए सभी तीर्थ उत्तम होते हैं।

तत्त्वविच्चनहंबुद्धिस्तीर्थप्रवरमुच्यते ।[४]

अहंकाररहित जो तत्त्वज्ञानी पुरुष होता है वही श्रेष्ठ तीर्थ है।

यदध्यासितमर्हद्भिस्तद्धि तीर्थं प्रचक्षते ।[५]

जिस स्थान पर महापुरुषों ने निवास किया है वही तीर्थ कहलाता है।

तृष्णा—

चिरं तिष्ठति नैकत्र तृष्णा चपलमर्कटी ।[६]

तृष्णा चंचल वानरी है वह देर तक एक जगह नहीं ठहरती।

तृष्णाबद्धं जगत् सर्वं चक्रवत् परिवर्तते ।[७]

सारा जगत तृष्णा से बँधे रहने के कारण चक्के की तरह घूमता रहता है।

---

१ भाग० ६।५।४४
२ कि० १३।६८
३ अनु० १०८।२
४ अनु० १०८।६
५ कु० सं० ६।।६
६ महोपनिषद्० ३।२३
७ शांति० २१७।३८

तृष्णार्त इह निम्नानि धावमानो न बुद्ध्यते ।[१]

तृष्णा के वशीभूत हो मनुष्य नीचे की ओर दौड़ता रहता है पर इसे समझता नहीं।

तृष्णा हि सर्वपापिष्ठा नित्योद्वेगकरी स्मृता ।[२]

तृष्णा सबसे बड़ी पापिष्ठा है और मनुष्य में नित्य ही उद्वेग पैदा करने वाली मानी गई है।

अन्तो नास्ति पिपासायाः ।[३]

पिपासा (प्यास, तृष्णा) का अन्त नहीं है।

तृष्णा लोकत्रयस्यास्य निर्वैरपरिपन्थिनी ।[४]

तृष्णा इन तीनों लोकों का विना वैर-विरोध के शत्रु है।

तृष्णां जित्वा न तप्यते ।[५]

तृष्णा को जीत लेने के बाद मनुष्य को कष्ट नहीं होता।

गात्राणि शिथिलायन्ते तृष्णैका तरुणायते ।[६]

अंग शिथिल हो जाते हैं पर अकेली तृष्णा ही (सदा) तरुण बनी रहती है।

तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः ।[७]

तृष्णा नहीं बूढ़ी हुई प्रत्युत हमलोग ही बूढ़े हो गये।

तेजस्—

न श्रेयः सततं तेजो न नित्यं श्रेयसी क्षमा ।[८]

न हमेशा के लिए कठोरता ही अच्छी होती है और न हमेशा के लिए क्षमा ही।

---

१ आश्व० ३१।८
२ वन० २।३५
३ वन० २।४६
४
५
६ भ० सु० सं० १५६
७ भ० वै० १२
८ वन० २८।६

तेजो यस्य विराजते स बलवान् स्थूलेषु कः प्रत्यक्षयः ।[१]

जिस मनुष्य में तेज है वही बलवान् है, मोटे लोगों के बलवान् होने का क्या विश्वास ?

मुहूर्तं ज्वलितं श्रेयो न च धूमायितं चिरम् ।[२]

थोड़ी देर के लिए भी प्रखर दीप्ति पूर्ण जीवन व्यतीत करना अच्छा पर बहुत दिनों तक भी धुएँ की तरह निस्तेज जीवन व्यतीत करना अच्छा नहीं ।

तेजसां हि न वयः समीक्ष्यते ।[३]

तेजस्वी पुरुषों की अवस्था नहीं देखी जाती ।

न तेजस्तेजस्वी प्रसृतमपरेषां विषहते ।[४]

तेजस्वी पुरुष दूसरों के बढ़ते हुए तेज को नहीं सहन करता ।

त्याग—

नास्ति त्यागसमं सुखम् ।[५]

त्याग के समान कोई सुख नहीं ।

त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ एवं काम)—

धर्मश्चार्थश्च कामश्च कालक्रमसमाहिताः ।[६]

धर्म, अर्थ और काम ये सभी कालक्रम से ही प्राप्त होते हैं ।

धर्मश्चार्थश्च कामश्च त्रितयं जीविते फलम् ।[७]

धर्म, अर्थ और काम ये ही तीन जीवन के फल हैं ।

धर्मार्थकामाः सममेव सेव्या यस्त्वेकसक्तः स नरो जघन्यः ।[८]

धर्म, अर्थ एवं काम ये तीनों एक साथ सेवनीय होते हैं । जो मनुष्य तीनों में से केवल किसी एक का ही सेवन करता है वह अधम है, नीच है ।

---

१ चा० नी० ११।३
२ उद्योग० १३३।१३
३ रघु० ११।१
४ उ० रा० ६।४
५ शांति० २७७।३६
६ वा० रा० ४।२५।२८
७ अनु० १११।१८
८ शांति० १६७।४०

स उत्तमो योऽभिरतस्त्रिवर्गे ।[1]

वही उत्तम पुरुष है जो धर्म, अर्थ एवं काम इन तीनों के सेवन में संलग्न है।

यत्रानुकूल्यं दम्पत्योस्त्रिवर्गस्तत्र वर्तते ।[2]

जहाँ पति-पत्नी में परस्पर अनुकूलता होती है वहीं धर्म, अर्थ एवं काम यह त्रिवर्ग फलीभूत होता है, सम्पन्न होता है।

धर्मे चार्थे च कामे च लोकवृत्तिः समाश्रिता ।[3]

धर्म, अर्थ एवं काम इन तीनों के ऊपर ही लोकजीवन आधारित है।

दक्ष (योग्य, कुशल)—

शक्नोति जीवितुं दक्षो नाऽलसः सुखमेधते ।[4]

दक्ष पुरुष सुखपूर्वक जी सकता है, आलसी पुरुष नहीं।

दक्षो भूतिमुपाश्नुते ।[5]

दक्ष पुरुष वैभव का उपभोग करता है।

भूतिः, श्रीः, ह्रीर्धृतिः कीर्तिर्दक्षे वसति नाऽलसे ।[6]

वैभव, सम्पत्ति, लज्जा, धैर्य एवं कीर्ति ये सभी गुण दक्ष पुरुष में रहते हैं आलसी में नहीं।

दण्ड—

दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति ।[7]

दण्ड ही समस्त प्रजा के ऊपर शासन करता है और दण्ड ही प्रजा की रक्षा करता है।

---

१ शांति० १६७।४०
२ याज्ञवल्क्य० १।७४
३ शांति० १६९।१
४ सौप्तिक० २।१५
५ वन० ३२।४२
६
७ मनु० ७।१८

सर्वो दण्डजितो लोको दुर्लभो हि शुचिर्नरः ।[१]

सब लोग दण्ड के कारण ही ईमानदार होते हैं। विना दण्डभय के ईमानदार व्यक्ति दुर्लभ होता है।

यस्मिंश्च सर्वमायत्तं स दण्ड इह केवलः ।[२]

वह एकमात्र दण्ड ही है जिसके अधीन सब कुछ व्यवस्थित रहता है।

सम्यग् नीता दण्डनीतिर्यथा माता तथा पिता ।[३]

अच्छी तरह से प्रयुक्त की हुई दण्डनीति उसी प्रकार हितकारक होती है जैसे माता और पिता।

नादण्डस्य प्रजा यज्ञः सुखं विन्दति भारत ।[४]

भारत, दण्ड न देने वाले राजा की प्रजा सुखी नहीं रहती।

नाऽभीत पुरुषः कश्चित् समये स्थातुमिच्छति ।[५]

विना भय के कोई पुरुष नियम के अधीन नहीं रहना चाहता।

दण्डश्चेन्न भवेल्लोके विनश्येयुरिमाः प्रजाः ।[६]

समाज में दण्ड की व्यवस्था न हो तो सारी प्रजायें नष्ट हो जायें।

आन्वीक्षिकी-त्रयी-वार्तानां योगक्षेमसाधनो दण्डः ।[७]

दर्शनशास्त्र, तीनों वेद तथा वार्ता (कृषि, गोरक्षा एवं वाणिज्य) इन तीनों को सुव्यस्थित एवं सुरक्षित रखने वाला दण्ड ही है।

दण्डो हि केवलं लोकं परं क्षेमं च रक्षति ।[८]

केवल दण्ड ही संसार की तथा उसके हित की रक्षा करता है।

---

१ मनु० ७।२२
२ शांति० १२१।९
३ शांति० ६९।१०३
४ शांति० १४।१४
५ शांति० १५।१४
६ शांति० १३।३०
७ कौ० अ० १।४
८ कौ० अ० ३।१

नश्येत् त्रयी दण्डनीतौ हतायाम् ।[१]

दण्डनीति यदि नष्ट हो जाय तो तीनों वेद विनष्ट हो जायँगे अर्थात् धर्मव्यवस्था नष्ट-भ्रष्ट हो जायगी ।

दरिद्र-निर्धन—

सर्वशास्त्रार्थवेत्तापि दरिद्रो भाति मूर्खवत् ।[२]

सभी शास्त्रों के अर्थों को जानने वाला भी दरिद्र व्यक्ति मूर्ख जैसा लगता है ।

दरिद्रः पुरुषो लोके शववल्लोकनिन्दितः ।[३]

दरिद्र मनुष्य लोक में शव (मुर्दा) जैसा गर्हित समझा जाता है ।

धनहीनं जनं दृष्ट्वा सखाऽपि हि पलायते ।[४]

धनहीन व्यक्ति को देखकर मित्र भी भाग जाता है ।

जीवन्ति धनिनो लोके मृता ये त्वधना नराः ।[५]

धनीलोग ही संसार में जीते हैं, जो दरिद्र हैं वे तो मरे हुए हैं ।

श्रीर्हता पुरुषं हन्ति पुरुषस्याधनं वधः ।[६]

श्री जब नष्ट हो जाती है तो मनुष्य भी नष्ट हो जाता है । क्योंकि मनुष्य का निर्धन हो जाना ही उसका वध है ।

अधनाद्धि निवर्तन्ते जातयः सुहृदो द्विजाः ।[७]

निर्धन मनुष्य के जाति-बन्धु, मित्र तथा ब्राह्मण सभी अलग हो जाते हैं ।

अभिशस्तं प्रपश्यन्ति दरिद्रं पार्श्वतः स्थितम् ।[८]

बगल में खड़े दरिद्र व्यक्ति को लोग पापी जैसा समझते हैं ।

१
२ वृ० ना० ११।१२१
३ वृ० ना० ११।१४
४ पद्म पु० उ० २०१।२६
५ उद्योग० ७२।३३
६ उद्योग० ७२।१९
७ उद्योग० ७२।२०
८ शांति० ८।१८

विशेषं नाधिगच्छामि पतितस्याऽधनस्य च ।[१]

पतित एवं दरिद्र पुरुष में मैं कोई भेद नहीं समझता ।

नाऽधनो धर्मकृत्यानि यथावदनुतिष्ठति ।[२]

निर्धन व्यक्ति कभी भी धार्मिक कृत्यों का विधिपूर्वक अनुष्ठान नहीं कर सकता ।

मृतो दरिद्रः पुरुषः ।[३]

दरिद्र पुरुष मृतकतुल्य होता है ।

नाऽब्राह्मणः कृपणो जातु जीवेत् ।[४]

जो ब्राह्मण न हो उसे कभी निर्धन होकर नहीं जीना चाहिए ।

न ह्यतः पापात् पापीयोऽस्ति यदनुपकरणस्य दीर्घमायुः ।[५]

जो मनुष्य साधनहीन होते हुए भी दीर्घजीवी हो वह पापी है और उससे बढ़कर दूसरा कोई पापी नहीं ।

धनहीनः स्वपत्न्यापि त्यज्यते किं पुनः परैः ।[६]

धनहीन व्यक्ति को उसकी पत्नी भी छोड़ देती है फिर दूसरों की तो बात ही क्या ?

लोकयात्रा दरिद्रं बाधते ।[७]

जीवन यात्रा दरिद्र पुरुष की अच्छी तरह नहीं चलती ।

यो गृहेष्वेव निद्राति दरिद्राति स दुर्मतिः ।[८]

जो मूर्ख घर में ही बराबर सोता रहता है वह दरिद्र हो जाता है ।

---

१ शांति० ८।१५
२ शांति० ८।२३
३ वन० ३९३।८४
४ आदि० ९२।१३
५ च० सं० १।११।५
६ हितो० २।१००
७ चा० सू० ६।५६
८ नी० शा० २०९

नाधनाः प्राप्नुवन्त्यर्थान् नरा यत्नशतैरपि ।[१]

दरिद्र व्यक्ति सैकड़ों प्रयत्न करने पर भी अपना प्रयोजन सिद्ध नहीं कर पाते ।

मित्राण्यमित्रतां यान्ति यस्य न स्युः कपर्दकाः ।[२]

जिसके पास कौड़ियां (रुपये-पैसे) नहीं होतीं उनके मित्र भी अमित्र हो जाते हैं ।

विषं सभा दरिद्रस्य ।[३]

दरिद्र पुरुष के लिए सभा-समारोह आदि विष के समान कष्टदायी होते हैं ।

उत्पद्यन्ते विलीयन्ते दरिद्राणां मनोरथाः ।[४]

दरिद्रों के मन में इच्छायें उठती हैं और वहीं विलीन हो जाती हैं ।

गृहं कृपणवृत्तीनां नरकस्यापरो विधिः ।[५]

दरिद्र लोगों का घर दूसरा नरक ही है ।

सर्वं शून्यं दरिद्रस्य ।[६]

दरिद्र के लिए सब कुछ शून्य होता है ।

तच्चित्रं यदि निर्धनोऽपि पुरुषः पापं न कुर्यात् यदि ।[७]

यदि निर्धन होकर भी कोई पुरुष पाप न करे तो यह आश्चर्य की ही बात है ।

दरिद्रता—

दारिद्र्यमिति यत् प्रोक्तं पर्यायमरणं हि तत् ।[८]

यह जो दरिद्रता है वह मरण का ही पर्याय है ।

---

१ कौ० अ० ९।४।२
२ पंच० ३।१०२
३ हितो० प्र० २३
४
५
६ मृ० १।८
७ चा० नी० शा० सं० २६१
८ उद्योग० १३४।१३

अलक्ष्मीराविशत्येनं शयानमलसं नरम् ।[१]

जो मनुष्य निद्रालु और आलसी होता है उसके पास दरिद्रता आ जाती है

सर्वशून्या दरिद्रता ।[२]

दरिद्रता सर्वशून्य होती है। अर्थात् दरिद्रता के आ जाने पर मनुष्य का सब कुछ चला जाता है।

अल्पक्लेशं मरणं दारिद्र्यमनल्पकं दुःखम् ।[३]

मरण में कम क्लेश है पर दरिद्रता में बहुत क्लेश होता है।

दारिद्र्यमेकं गुणराशिनाशि ।[४]

एक दरिद्रता राशि-राशि गुणों का नाश कर देती है।

अहो दुःखमहो दुःखमहो दुःखं दरिद्रता ।[५]

दरिद्रता, सबसे बड़ा दुःख है, सबसे बड़ा दुःख है और सबसे बड़ा दुःख है।

दाक्ष्य (दक्षता, योग्यता, कुशलता)—

दाक्ष्यं वै कार्यसाधकम् ।[६]

दक्षता कार्यों को सिद्ध करनेवाला गुण है।

दाक्ष्यं दुःखं सुखोदयम् ।[७]

दाक्ष्य (दक्षता) सुखों को देनेवाला दुःख है।

दान—

न दानमर्थोपचितेषु युज्यते ।[८]

जो आर्थिक दृष्टि से समृद्ध है उसे दान देना उचित नहीं।

---

१ वन० ३२।४२
२ चा० नी० ४।१४
३ मृ० १।११
४
५ वृ० ना० २१।१२१
६ वन० १५०।४१
७
८ वा० रा० ५।४१।३

दानं हि महती क्रिया ।[१]

दान दे देना बहुत बड़ा काम है ।

दत्तं मन्येत यद् दत्त्वा तद् दानं श्रेष्ठमुच्यते ।[२]

जिसे देकर मनुष्य यह समझे कि मैंने दिया, वही दान श्रेष्ठ कहा जाता है ।

दानेन भोगी भवति ।[३]

दान देने से मनुष्य सुखभोग प्राप्त करता है ।

दानान्न दुष्करतरं पृथिव्यामस्ति किञ्चन ।[४]

दान देने से बढ़कर पृथ्वी में कोई कठिन काम नहीं ।

अर्हानर्हपरिज्ञानाद् दानधर्मोऽपि दुष्करः ।[५]

पात्र और अपात्र का परिज्ञान न होने से दानधर्म का पालन भी कठिन है ।

सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मज्ञानं विशिष्यते ।[६]

सभी दानों में ब्रह्मज्ञान का दान सबसे श्रेष्ठ होता है ।

तत् किं दानं यत्र नास्ति सत्कारः ।[७]

वह दान कैसा जिसमें सत्कार न हो ।

दीयमानं हि नाऽपैति भूय एवाऽभिवर्तते ।[८]

जो कुछ दिया जाता है वह घटता नहीं है बल्कि उससे भी अधिक बढ़ता ही है ।

---

१ अनु० ९।२६
२ अनु० ५९।४
३ अनु० १६३।१२
४ वन० २५९।२८
५ शांति० २७।३०
६ मनु० ४।२३३
७ सो० नी० २७।१४
८ स्क० मा० कौ० २।६१

वृथा दानं धनाढ्येषु ।[1]

धनाढ्यों को दान देना व्यर्थ है।

हस्तस्य भूषणं दानम् ।[2]

दान हाथ का भूषण है।

दानं दुर्गतिनाशनम् ।[3]

दान दुःख और दुर्गति को नष्ट करता है।

नाऽदत्त्वा श्रियमाप्नोति ।[4]

विना दान किये मनुष्य धन-सम्पत्ति नहीं पाता।

न तद् दानं प्रशंसन्ति येन वृत्तिर्विपद्यते ।[5]

वह दीन प्रशंसनीय नहीं होता जिससे मनुष्य की वृत्ति जीविका संकट में पड़ जाय।

दरिद्रान् भर कौन्तेय मा प्रयच्छेश्वरे धनम् ।[6]

कुन्तीपुत्र, दरिद्रों का भरण-पोषण करो। धनाढ्यों को दान मत दो।

दाता—

स्वयमुत्पाद्य दातारः पुरुषाः स्वर्गगामिनः ।[7]

स्वयं उपार्जन कर दान देनेवाला पुरुष स्वर्गगामी होता है।

तनिम्ना शोभन्ते गलितविभवाश्चार्थिषु जनाः ।[8]

याचकों को दान देते-देते जो गरीब हो जाते हैं उनकी गरीबी भी उनके लिए शोभावर्धक होती है।

---

१ चा० नी० ५।१६
२ सु० र० भा०
३
४
५ भाग० ८।२०।३६
६ हितो० १।१५
७ अनु० २३।३४
८ भ० नी० ४४

दाता शतसहस्रेषु ।[१]

सैकड़ों एवं हजारों में (कोई) दाता होता है।

दाम्पत्य—

तत् किं दाम्पत्यं यत्र न परस्परानुस्मरणम् ।

वह कैसा दाम्पत्य है जिसमें पति एवं पत्नी दोनों एक दूसरे का बराबर स्मरण न रखें।

दीक्षा—

यो दीक्षते स देवतानामेको भवति ।[३]

जो मनुष्य दीक्षा ग्रहण करता है—अच्छे काम करने की दीक्षा लेता है—वह एक देवता होता है।

दीर्घसूत्री—

न किञ्चिद् दीर्घसूत्राणां सिध्यत्यात्मक्षयादृते ।[४]

अपनी हानि के अतिरिक्त दीर्घसूत्री लोगों का कोई काम सिद्ध नहीं होता।

दीर्घसूत्री विनश्यति ।[५]

दीर्घसूत्री मनुष्य विनष्ट हो जाता है।

अप्रिये चैव कर्तव्ये दीर्घसूत्रः प्रशस्यते ।[६]

यदि कोई अप्रिय काम करना हो तो उसमें दीर्घसूत्री होना अर्थात् देर करना उत्तम होता है।

---

१ ४ ग्रो० वा० उ० ७८।८

२ पु० प० ३५ ५ शाति० १३७।१

३ श० ब्रा० ३।१।१।८ ६ शांति० ९२०।३१

दुःख—

सर्वं परवशं दुःखम् ।[१]

जो कुछ पराधीन होता है वह सब दुःखद होता है।

अहं ममेति संविदन् न दुःखतो विमुच्यते ।[२]

जब तक मनुष्य "मैं" और "मेरा" ऐसा भाव रखेगा तब तक दुःख से मुक्त नहीं होगा।

आधयो व्याधयश्चैव द्वय दुःखस्य कारणम् ।[३]

आधि और व्याधि ये दो दुःख के कारण है।

मनुष्या मानुषैर्दुःखैर्युज्यन्ते येऽल्पबुद्धयः ।[४]

जो अल्पबुद्धि मनुष्य होते हैं वे ही मानुष दुःखों से पीड़ित होते हैं।

भैषज्यमेतद् दुःखस्य यदेतन्नानुचिन्तयेत् ।[५]

दुःख की यही औषधि है कि मनुष्य उसकी चिन्ता न करे।

स्निग्धजनसंविभक्तं दुःखं सह्यवेदनं भवति ।[६]

जब दुःख स्नेही जनों में बँट जाता है तो उसकी वेदना कम हो जाती है, सहन करने योग्य हो जाती है।

स्मृत्वा स्मृत्वा याति दुःखं नवत्वम् ।[७]

बार-बार स्मरण करने से दुःख नया हो जाता है।

समग्रं दुःखमायत्तमविज्ञाने द्वयाश्रयम् ।[८]

मनुष्य का शारीर एवं मानस समग्र दुःख उसके अज्ञान के कारण हैं।

---

१ मनु० ४।१६०
२ यो० नि० पू० १२६।१०२
३ योवा० नि० पू० ८१।१२
४ शांति० ३३०।४
५ शांति० ३३०।१२
६ अ० शा०
७ स्वप्न० ४।६
८ च० सं० १।३।८२

यस्य यावन्ति प्रियाणि तस्य तावन्ति दुःखानि ।[१]

जिसको जितने ही प्रिय होते हैं उसको उतने ही दुःख होते हैं।

न दुःखं पञ्चभिः सह ।[२]

पाँच लोगों के साथ रहने से दुःख नहीं होता।

दुःखसुख—

दुःखे कालः सुदीर्घो हि सुखे लघुतरः सदा ।[३]

दुःख का समय हमेशा ही बहुत लम्बा प्रतीत होता है और सुख का समय बहुत छोटा प्रतीत होता है।

प्राप्तव्यान्येव चाप्नोति दुःखानि च सुखानि च ।[४]

दुःख या सुख जो भी मनुष्य को मिलना होता है वही उसे मिलता है।

सुखं च दु खं च तथैव मध्यमं निषेवते यः स धुरन्धरो नरः ।[५]

जो मनुष्य सुख और दुःख दोनों का समभाव से सेवन करता है, वही महान है।

सुखात् बहुतरं दुःख जीविते नाऽत्र संशयः ।[६]

जीवन में सुख से अधिक दुःख होता है, इसमें सन्देह नहीं।

दुःखादुद्विजते सर्वः सर्वस्य सुखमीप्सितम् ।[७]

सब लोग दुःख से उद्विग्न होते हैं और सब लोगों को सुख की इच्छा होती है।

न नित्यं लभते दुःखं न नित्यं लभते सुखम् ।[८]

न मनुष्य निरन्तर दुःख ही पाता है और न निरन्तर सुख ही पाता है।

---

१ वि० सु०
२
३ योवा० उ० ८०।४३
४ शांति० २२६।२२
५ शांति० २२६।१३
६ शांति० २३०।१६
७ शांति० १३९।६२
८ शांति० १७४।२०

गृहीत्वा जायते जन्तुर्दुःखानि च सुखानि च ।[१]

मनुष्य दुःख और सुख लेकर जन्म लेता है।

दुःखे दुःखाधिकान् पश्येत् सुखे पश्येत् सुखाधिकान् ।[२]

दुःख में अधिक दुःखवालों को तथा सुख में अधिक सुखवालों को देखना चाहिए।

चक्रवत् परिवर्तन्ते दुःखानि च सुखानि च ।[३]

दुःख तथा सुख गाड़ी के चक्के की तरह बदलते रहते हैं।

दुर्जन—

अदर्शितमुखा एव दुर्जनाः मर्मवेधिनः ।[४]

दुर्जन लोग विना प्रत्यक्ष हुए भी मर्मवेधी होते हैं।

येनापत्रपते साधुरसाधुस्तेन तृप्यति ।[५]

जिस काम के करने से साधु पुरुष लज्जित होता है उसी काम से दुर्जन प्रसन्न होता है।

मृदुं वै मन्यते पापो भाषमाणमशक्तिकम् ।[६]

दुर्जन लोग जो मधुर बोलता है उसे शक्तिहीन समझते हैं।

दुराचारः क्षीणबलः परित्राणं न गच्छति ।[७]

दुराचारी पुरुष का बल जब क्षीण हो जाता है तो उसे कोई बचाने वाला नहीं मिलता।

दुर्जनैः सह सम्पर्कः शत्रुताऽपि न राजते ।[८]

न तो दुर्जनों के साथ सम्पर्क ही अच्छा होता है और न शत्रुता ही अच्छी होती है।

---

१ शांति० १५३।३४
२ सु० सु० १३५।११
३ हितो० १।१७३
४ योवा० उ० ८०।६०
५ वन० २।६४
६ उद्योग० ४।६
७ शांति० १३४।९
८ व्या० सु० सं० २२

एक एव दुर्जनो बहून् नाशयति ।[१]

एक ही दुर्जन बहुत लोगों का विनाश कर डालता है ।

गुंजाफलप्राया दुर्जनस्य प्रकृतिः परिणामविरसाऽपि आपात-सुरसा भवति ।[२]

दुर्जन की प्रकृति गुञ्जाफल के समान परिणाम में विरस होने पर भी आरम्भ में सुरस मालूम पड़ती है ।

मनस्यन्यद् वचस्यन्यत् कर्मण्यन्यद् दुरात्मनाम् ।[३]

दुरात्मा लोगों के मन में कुछ और होता है, वाणी में कुछ और होता है तथा कर्म में कुछ और होता है ।

दुर्जनः प्रियवादी च नैतद्विश्वासकारणम् ।[४]

दुर्जन पुरुष का प्रियवादी होना उस पर विश्वास करने का कोई कारण नहीं होता ।

अन्तर्दुष्टः क्षमायुक्तः सर्वानर्थकरः किल ।[५]

जो व्यक्ति भीतर से दुष्ट पर बाहर से क्षमाशील होता है वह सबसे बड़ा अनर्थकारी होता है ।

कृतशतमसत्सु नष्टम् ।[६]

दुर्जनों के साथ किये हुए सौ सौ उपकार भी बेकार हो जाते हैं ।

बन्धुः को नाम दुष्टानाम् ।[७]

दुष्ट लोगों का कौन बन्धु होता है ।

शाम्येत् प्रत्युपकारेण नोपकारेण दुर्जनः ।[८]

दुर्जन व्यक्ति अपकार करने से शान्त रहता है उपकार करने से नहीं ।

---

१ वा० नी० २।४०
२ पु० प० ११।६
३ हि० १।१०१
४ हितो० १।८२
५ हि० २ १०७
६ हितो० २।१७२
७ हि० २ १८५
८ कु० सं० ११।४०

दुर्वृत्तश्च समर्थश्च न किं नाम करिष्यति ।

दुराचारी पुरुष यदि समर्थ भी हो जाय तो न जाने वह क्या-क्या नहीं कर डालेगा ।

परवृद्धिषु बद्धमत्सराणां किमिव ह्यस्ति दुरात्मनामलङ्घ्यम् ।[२]

जो दूसरों की वृद्धि को देखकर बराबर कुढ़ते रहते हैं ऐसे दुर्जनों के लिए कौन कार्य अकरणीय हो सकता है ?

सर्पो दशति कालेन दुर्जनस्तु पदे-पदे ।[३]

सर्प समय पर डँसता है पर दुर्जन तो पद-पद पर डँसता है ।

सर्वाङ्गे दुर्जनो विषम् ।[४]

दुर्जन के प्रत्येक अंग में विष होता है ।

अकारणाविष्कृत-वैरदारुणाद् असज्जनात् कस्य भयं न जायते ।[५]

जो लोग अकारण ही वैर किया करते हैं ऐसे दारुण दुर्जनों से किसको भय नहीं होगा ?

प्रकृत्यमित्रा हि सतामसाधवः ।[६]

दुर्जन पुरुष स्वभाव से ही सज्जनों के शत्रु होते हैं ।

दुर्जनः परिहर्तव्यो विद्ययाऽलङ्कृतोऽपि सन् ।[७]

दुर्जन यदि विद्या से अलंकृत हो तब भी उसका परित्याग कर देना चाहिये ।

निसर्गतोऽन्तर्मलिना ह्यसाधवः ।[८]

दुर्जन लोग स्वभाव से ही भीतर के काले होते हैं ।

---

१ प्र० प० ८।११
२ किराता० १३।७
३ चा० नी० ३।४
४ चा० नी० १८।२१
५ कादं० प्र० ५
६ कि० १४।२१
७ भ० नी० ५३
८

मृदु दुर्जनचित्तेन किं लौहमुपमीयते ।[१]

लोहा तो कोमल होता है उसकी तुलना दुर्जनों के चित्त से कैसे की जा सकती है ?

देखिये—नीच ।

दुर्बल—

अबला वै विनश्यन्ति मुच्यन्ते च बलान्विताः ।[२]

बलहीन लोग विनष्ट हो जाते हैं और जो बलवान होते हैं वे विनाश से बच जाते हैं।

दुर्बलानां बलं राजा ।[३]

दुर्बल लोगों का बल राजा होता है।

दैवो दुर्बलघातकः ।[४]

दैव दुर्बलों का घातक होता है।

दूत—

घातयन्ति हि कार्याणि दूताः पण्डितमानिनः ।[५]

जो दूत पण्डितमानी होते हैं वे काम बिगाड़ देते हैं।

दृष्टि—

कास्ता दृशो यासु न सन्ति दोषाः ।[६]

वह कौन सी दृष्टि (विचारधारा) है जिसमें कोई दोष न हो।

यादृशी दृष्टिः तादृशी सृष्टिः ।[७]

मनुष्य की जैसी दृष्टि होती है वैसी उसकी सृष्टि (क्रियाकलाप) होती है।

१
२ शांति० ३००।१८
३ नी० शा० ६७
४
५ वा० रा० ५।२।४०
६ यौवा० वै० २७।३१
७ दी० मा० १।५७

देवता—

स खलु प्रत्यक्षं दैवं यस्य परस्वेष्विव परस्त्रीषु निःस्पृहं चेतः ।[१]

वह मनुष्य प्रत्यक्ष देवता है जिसके मन में दूसरों के दान की ही भाँति दूसरों की स्त्रियों के लिए स्पृहा नहीं होती।

देश—

देशान्तरनिवासेन जितक्लेशो भवति ।[२]

विभिन्न देशों में निवास करने के कारण मनुष्य क्लेश और कठिनाइयों पर विजय प्राप्त कर लेता है।

स देशो यत्र जीव्यते ।[३]

वही देश है जहाँ जीवन चल सके।

को विदेशः सविद्यानाम् ।[४]

विद्वान् लोगों के लिए कोई विदेश नहीं होता।

स्वदेशो भुवनत्रयम् ।[५]

मनुष्यों के लिये तीनों भुवन अपने देश हैं।

देशकाल—

भूताश्चार्था विपद्यन्ते देशकालविरोधिताः ।[६]

देश और काल के विरुद्ध होने पर बने हुए काम भी बिगड़ जाते हैं।

निःश्रेयसौ तु तौ ज्ञयौ देशकालाविति स्थितिः ।[७]

अनुकूल देश और काल को ही कल्याण का कारण समझना चाहिये। यही नीतिशास्त्र का सिद्धान्त है।

---

१ सो० नी० १०।११२
२ वृ० नी० ३।२
३
४
५
६ वा० रा० ५।२।३९
७ आदि० १४०।८६

देशकालव्यतीतो हि विक्रमो निष्फलो भवेत् ।[१]

देश और काल के विपरीत किया हुआ पराक्रम निष्फल हो जाता है।

नाऽदेशकाले किञ्चित् स्याद् देशकालौ प्रतीक्ष्यताम् ।[२]

विना उपयुक्त देश और काल के कुछ नहीं हो सकता। अतः किसी भी काम की सफलता के लिए देश-काल की प्रतीक्षा कीजिये।

नाऽदेशकाले विक्रान्तं कल्याणाय विधीयते ।[३]

उचित देश और काल में जो पराक्रम किया जाता है वह कल्याण-कारी होता है।

दैन्य—

अक्षयान् लभते लोकान् यदि दैन्यं न शोभते ।[४]

यदि मनुष्य दैन्य को छोड़ दे तो अक्षय लोकों को प्राप्त करता है।

यं यं पश्यसि तस्य तस्य पुरतो मा ब्रूहि दीनं वचः ।[५]

जिस-जिस को देखते हो उस-उस के सामने दीन वचन मत बोलो।

दैन्यान्मरणमुत्तमम् ।[६]

दीन बने रहकर जीने से मरण उत्तम है।

न दैन्यं न पलायनम् ।[७]

न जीवन में दीनता होनी चाहिए और न कर्मक्षेत्र से पलायन होना चाहिए।

---

१ शांति० १४०।२८
२ वन० २८।३२
३ विराट्० ४९।३
४ शांति० ९०।३२
५ भ० नी० ५१
६
७

दैव (भाग्य, भवितव्यता, पूर्वजन्मकृत कर्म)—

सर्वं कर्मेदमायत्तं विधाने दैवमानुषे ।[१]

सभी कर्म और उनकी सफलता या विफलता दैव एवं मनुष्यकृत प्रयत्न के ऊपर ही आधारित है ।

विक्लवो वीर्यहीनो यः स दैवमनुवर्तते ।[२]

जो आदमी अधीर और वीर्यहीन होता है वह दैव के भरोसे रहता है ।

वीराः संभावितात्मानो न दैवं पर्युपासते ।[३]

वीर एवं आत्मविश्वासी जन दैव के सहारे नहीं रहते ।

न दिष्टमप्यतिक्रान्तुमीशो मर्त्यः कथञ्चन ।[४]

मनुष्य किसी भी प्रकार दैव का अतिक्रमण नहीं कर सकता ।

नूनं दैवं न शक्यं हि पौरुषेणातिवर्तितुम् ।[५]

पुरुषार्थ से कोई भी मनुष्य दैव को नहीं दबा सकता है ।

न दिष्टमप्यतिक्रान्तुं शक्यं बुद्ध्या बलेन वा ।[६]

बुद्धि या बल किसी से भी दैव का उल्लंघन करना संभव नहीं है ।

न दैवमकृते किञ्चित् कस्यचित् दातुमर्हति ।[७]

विना पुरुषार्थ के दैव किसी को भी कुछ नहीं दे सकता ।

दैवं पुरुषकारश्च द्वयं पुंसः फलावहम् ।[८]

दैव और पुरुषार्थ ये दोनों मिलकर पुरुष के लिए फलदायक होते हैं ।

---

१ मनु० ८।२०५
२ वा० रा० २।२३।१६
३ वा० रा० २।२३।१६
४ अनु० १३५।५५
५ अनु० २९।१९
६ अनु० ५३।६६
७ अनु० ६।२२
८ अग्नि० ३२६।२

दैवायत्तमिदं सर्वं सुखदुःखे भवाभवौ ।[१]

सुख और दुःख तथा उत्थान और पतन यह सब कुछ दैव के अधीन होता है।

शुद्धं हि दैवमेवेदं हठे नैवास्ति पौरुषम् ।[२]

यह सब कुछ (हानि-लाभ आदि) दैवकृत ही है। हठ करने से कुछ नहीं होता।

अशंसयं दैवपरः क्षिप्रमेव विनश्यति ।[३]

दैववादी व्यक्ति निःशंसय शीघ्र ही विनष्ट हो जाता है।

दैवं पुरुषकारश्च स्थितावन्योन्यसंश्रयात् ।[४]

दैव एवं पुरुषार्थ दोनों एक दूसरे के सहारे रहा करते हैं।

दैवं प्रज्ञाविशेषेण को निवर्तितुमर्हति ।[५]

कौन व्यक्ति बुद्धिविशेष से दैव को बदल सकता है।

दैवे पुरुषकारे च लोकोऽयं सुप्रतिष्ठितः ।[६]

यह संसार दैव एवं पुरुषार्थ पर प्रतिष्ठित है।

दिष्टमेव ध्रुवं मन्ये पौरुषं तु निरर्थकम् ।[७]

दैव को ही मैं निश्चित मानता हूँ। पुरुषार्थ तो निरर्थक है।

स्वमेव कर्म दैवाख्यं विद्धि देहान्तरार्जितम् ।[८]

अपने पूर्वजन्म के देह से अर्जित जो अपना कर्म है, वही दैव कहलाता है।

---

१ शांति० १७९।२७
२ शांति० १७७।१२
३ शांति० १०५।२२
४ शांति० १३९।८२
५ आदि० १।४६
६ आदि० १२२।२१
७ उद्योग० ४०।३२
८ म० पु० २२०।२

दैवं हि दुरतिक्रमम् ।[१]

दैव को अतिक्रमण करना बहुत कठिन है।

विना पुरुषकारेण दैवमत्र न सिद्ध्यति ।[२]

विना पुरुषार्थ किये भाग्य फलीभूत नहीं होता।

दैवमेव विजानन्ति नराः पौरुषवर्जिताः ।[३]

जिन लोगों में पुरुषार्थ करने की शक्ति नहीं होती वे केवल दैव (भाग्य) की ही बात करते हैं।

प्रतिकूलं तथा दैवं पौरुषेण विहन्यते ।[४]

दैव यदि प्रतिकूल हो तो उसे पुरुषार्थ से हटाया जा सकता है।

दैवं पुरुषकारश्च कालश्च पुरुषोत्तम ।
त्रयमेतन्मनुष्यस्य पिण्डितं स्यान्महाफलम् ।[५]

पुरुषोत्तम ! दैव, पुरुषार्थ और काल ये तीनों मिल कर मनुष्य के लिए महान् फलदायक होते हैं।

पुरुषकारमनुवर्तते दैवम् ।[६]

दैव पुरुषार्थ के पीछे-पीछे चलता है।

न दैवप्रमाणानां कार्यसिद्धिः ।[७]

दैव को प्रमाण मानने वालों के काम सिद्ध नहीं होते।

दैवं चैवात्र पञ्चमम् ।[८]

कार्यसिद्धि में दैव पाँचवें नम्बर का सहायक होता है।

---

१ वा० रा० उ० ५०।४
२
३ म० पु० २२०।६
४ म० पु० २२०।३
५ भाग० ३।१२।८
६ चा० नी० २।६
७ चा० नी० २।३७
८ भ० गी० १८।१४

अरक्षितं तिष्ठति दैवरक्षितम्
सुरक्षितं दैवहतं विनश्यति ।[१]

देव जिसकी रक्षा करता है वह विना रक्षा किये भी सुरक्षित रहता है और दैव जिसकी रक्षा नहीं करता वह बहुत रक्षा करने पर भी नहीं बच पाता।

दैवमविद्वांसः प्रमाणयन्ति ।[२]

मूर्ख लोग दैव को प्रमाण माना करते हैं।

दैवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति ।[३]

दैव ही सब कुछ देता है ऐसा कायर पुरुष कहा करते हैं।

दैवं क्लीवा उपासते ।[४]

नपुंसक लोग दैव का सहारा लिया करते हैं।

न दैवमिति सञ्चिन्त्य त्यजेदुद्योगमात्मनः ।[५]

दैव को आधार मानकर अपने उद्योग का परित्याग नहीं करना चाहिये।

दोष—

नाल्पदोषाद् बहुगुणास्त्यज्यन्ते ।[६]

अल्पदोष के कारण बहुत गुण वाले व्यक्ति नहीं छोड़े जाते हैं।

विपश्चित्स्वपि सुलभा दोषाः ।[७]

विद्वानों में भी दोष पाये जाते हैं।

परिचये दोषा न छाद्यन्ते ।[८]

परिचय देने में दोष नहीं छिपाये जाते हैं।

---

१ हि० २।१९
२ मुद्रा० ३
३ पंच० २।१३७
४
५
६ चा० नी० ३।३
७ चा० नी० ३।४
८ चा० नी० ५।३१

स्वयमशुद्धः परानाशङ्कते ।[१]

जो व्यक्ति स्वयं दोषी होता है वह दूसरों को भी दोषी समझता है।

दोषवर्जितानि कार्याणि दुर्लभानि ।[२]

सर्वथा दोषरहित काम दुर्लभ होते हैं।

सर्वथा व्यवहर्तव्यं कुतो ह्यवचनीयता ।[३]

अपने कर्तव्य का समुचित रूप से पालन करते रहना चाहिये। दोषारोपण से छुटकारा कहाँ ?

एको हि दोषो गुणसन्निपाते
निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः ।[४]

बहुत गुणों के होने पर उनमें एक दोष उसी प्रकार छिप जाता है जैसे चन्द्रमा के किरणों में कलंक।

दोषदर्शी—

दोषदर्शी भवेत्तत्र यत्र रागः प्रवर्तते ।[५]

जिस वस्तु के कारण मनुष्य में राग उत्पन्न हो उसे दोषयुक्त समझना चाहिये।

श्रियं विशिष्टां विपुलं यशो वा न दोषदर्शी पुरुषः समश्नुते ।[६]

सर्वत्र दोषदृष्टि रखनेवाला व्यक्ति विशिष्ट सम्पत्ति या विपुल यश को नहीं प्राप्त कर सकता है।

दोषो ह्यविद्यमानोऽपि तच्चित्तानां प्रकाशते ।[७]

जो लोग दोष को ही ढूँढा करते हैं उनको दोष न रहने पर भी दोष ही दीखता है।

१
२ चा० सू० २।१३
३ उ० रा० १।५
४ कु० सं० १।३
५ शांति० ३३०।६
६ शांति० १२०।५४
७ भी० श्लो० उपो० ४

द्वैत–

मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ।[१]

जो इस संसार में भेददृष्टि रखता है, द्वैत भाव से देखता है, वह मृत्यु से भी बढ़कर मृत्यु को प्राप्त होता है।

धन–देखिये "अर्थ"।

धनवान्–देखिये "अर्थवान्"।

धर्म–

धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा ।[२]

समस्त जगत की स्थिति का आधार धर्म है।

त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति ।[३]

यज्ञ, अध्ययन, एवं दान ये तीन धर्म के स्तम्भ हैं।

अयं धर्मः सर्वेषां भूतानां मधु अस्य धर्मस्य सर्वाणि भूतानि मधु ।[४]

यह धर्म समस्त प्राणियों के लिए मधु है और इस धर्म के लिए समस्त प्राणी मधु हैं।

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः ।[५]

धर्म ही हनन कर दिये जाने पर मनुष्य का हनन कर डालता है और रक्षित किये जाने पर मनुष्य को सुरक्षित रखता है।

---

१ क० उ० १।४।१०
२ ना० उ० ७९
३ छा० उ० २।२३।१
४ बृ० २।५।११
५ मनु० ८।१५

न लिङ्गं धर्मकारणम् ।[१]

बाहरी चिह्न (वेश भूषा या आचार-व्यवहार) धर्म का कारण नहीं होता।

एक एव सुहृद् धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः ।[२]

एक ही (वास्तविक) मित्र धर्म है जो मृत्यु के बाद भी मनुष्य के साथ जाता है।

अयं तु परमो धर्मो यद् योगेनात्मदर्शनम् ।[३]

योग के द्वारा आत्म साक्षात्कार कर लेना यही सबसे बड़ा धर्म है।

धर्मेण धार्यते विश्वं जगत् स्थावरजङ्गमम् ।[४]

धर्म से ही स्थावर-जंगमात्मक समस्त विश्व टिका रहता है।

बहुद्वारस्य धर्मस्य सूक्ष्मा दूरतरा गतिः ।[५]

धर्म के बहुत द्वार होते हैं और उसकी गति बहुत सूक्ष्म तथा दूरगामिनी होती है।

श्रद्धया साध्यते धर्मो महद्भिर्नार्थराशिभिः ।[६]

श्रद्धा से धर्म का साधन किया जाता है बड़ी अर्थराशि से नहीं।

धर्मसारमिदं जगत् ।[७]

जगत में धर्म एकमात्र सार वस्तु है।

अधर्मसञ्चितो धर्मो विनाशयति राघव ।[८]

राघव, अधर्म से युक्त जो धर्म होता है वह विनाश करने वाला होता है।

---

१ मनु० ३।६६
२ मनु० ८।१७
३ याज्ञ० १।८
४ कू० १९।२
५ ब्र० पु० अ० ३०।३३
६ स्कन्द० मा० कौ० ४।४५
७ वा० रा० ३।९।३०
८ वा० रा० ६।८३।३०

न फलादर्शनात् धर्मः शङ्कितव्यो न देवताः ।[१]

फल के न दीखने से धर्म या देवताओं पर सन्देह नहीं करना चाहिये।

धर्मनित्यास्तु ये केचिन्न ते सीदन्ति कर्हिचित् ।[२]

जो लोग सदा ही धर्म के पथ पर चलते हैं वे कभी कष्ट में नहीं पड़ते।

नहि धर्मादपैत्यर्थः स्वर्गलोकादिवामृतम् ।[३]

जिस प्रकार स्वर्ग से अमृत अलग नहीं होता उसी प्रकार धर्म से अर्थ भी अलग नहीं होता।

धर्ममूलं जगद् राजन् नाऽन्यद्धर्माद् विशिष्यते ।[४]

इस समस्त जगत् की रक्षा एवं विकास का मूल धर्म ही है। धर्म से बढ़कर कोई दूसरी वस्तु नहीं है।

धर्म एव प्लवो नान्यः स्वर्गं (द्रौपदि) गच्छताम् ।[५]

द्रौपदी, स्वर्ग को जानेवालों के लिए एक धर्म ही नौका है, और कुछ नहीं।

न भूतानामहिंसाया ज्यायान् धर्मोऽस्ति कश्चन ।[६]

प्राणियों की हिंसा न करने से बढ़कर कोई धर्म नहीं।

धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः ।[७]

धर्म से हीन मनुष्य पशु के समान होते हैं।

अविरोधात्तु यो धर्मः स धर्मः सत्यविक्रम ।[८]

हे सत्यवीर, जहाँ एक धर्म का दूसरे धर्म से विरोध न हो वही धर्म है।

---

३ वन० ३१।३८
४ वन० २३३।४४
५ उद्योग० ३७।४८
६ वन० ३४।४७
१ वन० ३१।२४
२ वन० २०६।७४
३ शांति० २९४।२९
४ वन० १३१।११

महाजनो येन गतः स पन्थाः ।[१]

महाजन अर्थात् बड़े-बड़े सदाचारी पुरुष जिस मार्ग से गये हों वहीं धर्म का मार्ग है।

धर्मो नित्यः सुख-दुःखे त्वनित्ये ।[२]

धर्म नित्य है पर सुख-दुःख तो अनित्य है।

नमो धर्माय महते धर्मो धारयते प्रजाः ।[३]

महान धर्म को नमस्कार है। धर्म ही प्रजा का धारण करता है, उसे जीवित रखता है।

यः स्याद् धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः ।[४]

जो समाज को धारण करने की शक्ति से युक्त हो वही धर्म है, यह निश्चित है।

यः स्यात् प्रभवसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः ।[५]

जो उन्नति एवं विकास से युक्त हो वही धर्म है, यह निश्चित है।

यः स्यादहिंसासंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः ।[६]

जो अहिंसा से युक्त हो वही धर्म है, यह निश्चित है।

बहुद्वारस्य धर्मस्य नेहास्ति विफला क्रिया ।[७]

धर्म करने के बहुत-द्वार है अतः धर्म करनेकी कोई भी क्रिया विफल नहीं होती।

सूक्ष्मा गतिर्हि धर्मस्य यत्र मुह्यन्ति जन्तवः ।[८]

धर्म की गति सूक्ष्म होती है जिसके कारण मनुष्य उसे ठीक-ठीक समझने में मोह में पड़ जाता है, भूल कर बैठता है।

---

१ वन० ३१२।११५
२ उद्योग० ४०।१३
३ उद्योग० १३७।९
४ शांति० १०९।११
५ शांति० १०९।१०
६ शांति० १०९।१२
७ शांति० ३५२।२
८ अनु० १०।२

धर्मं यो बाधते धर्मो न स धर्मः कुधर्म तत् ।[1]

जो धर्म दूसरे धर्म को बाधा पहुँचाये वह धर्म नहीं कुधर्म है।

धर्मेण निधनं श्रेयो न जयः पापकर्मणा ।[2]

धर्म करते हुए निधन हो जाना अच्छा पर पाप करते हुए विजय प्राप्त करना अच्छा नहीं।

अहेरिव हि धर्मस्य पदं दुःखं गवेषितुम् ।[3]

साँप के पैर के समान धर्म के पैर को ढूँढ़ लेना भी कष्टसाध्य होता है।

एक एव चरेद् धर्मं नास्ति धर्मे सहायता ।[4]

मनुष्य को अकेले ही धर्म का आचरण करना चाहिये। धर्माचरण में किसी की सहायता की आवश्यकता नहीं।

सूक्ष्मा गतिर्हि धर्मस्य बहुशाखा ह्यनन्तिका ।[5]

धर्म की गति सूक्ष्म है, उसकी शाखायें बहुत हैं तथा उनका अन्त नहीं मिलता।

यस्य धर्मो हि धर्मार्थं क्लेशभाग् न स पण्डितः ।[6]

जिसका धर्म केवल धर्म के लिए है, जीवन में लाभ के लिए नहीं वह केवल क्लेश का भागी होता है और बुद्धिहीन है।

उदारमेव विद्वांसो धर्मं प्राहुर्मनीषिणः ।[7]

मनीषी विद्वान् उदार (महानता) को ही धर्म कहते हैं।

नहि कृत्स्नतमो धर्मः शक्यः प्राप्तुमिति स्थितिः ।[8]

धर्म का समग्ररूप नहीं जाना जा सकता, यह वस्तु स्थिति है।

---

१ वन० १३१।११
२ शांति० ९२।१७
३ शांति० १३२।२
४ शांति० ११३।३२
५ वन० २०१।२
६ वन० २३।२३
७ वन० ३३।५३
८ शांति० ७।४०

सर्वं प्रियाभ्युपगतं धर्ममाहुर्मनीषिणः ।[1]

जो कुछ भी आत्मा को प्रिय प्रतीत हो वह धर्म है ऐसा मनीषी लोग कहते हैं।

अन्यो धर्मः समस्थस्य विषमस्थस्य चापरः ।[2]

सामान्य स्थिति में जो मनुष्य रहता है उसका धर्म अन्य होता है और जो विषम स्थिति में रहता है उसका धर्म अन्य होता है।

आर्जवं धर्ममित्याहुरधर्मो जिह्म उच्यते ।[3]

आर्जव को–सरल व्यवहार को धर्म कहा जाता है और कपट पूर्ण व्यवहार को अधर्म कहा जाता है।

मानसं सर्वभूतानां धर्ममाहुर्मनीषिणः ।[4]

समस्त प्राणियों के मनोगत धर्म को ही मनीषीजन धर्म कहते हैं।

धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्थाः ।[5]

धर्म का तत्त्व गुफा में निहित है अर्थात् बहुत ही रहस्यपूर्ण है इसलिये बहुसंख्यक लोग जिस मार्ग से चलें वही धर्म का मार्ग है ऐसा मानना चाहिये।

आरम्भो न्याययुक्तो यः स हि धर्म इति स्मृतः ।[6]

जो काम न्यायपूर्ण हो वही धर्म है ऐसा आचार्यों द्वारा कहा गया है।

सूक्ष्मा गतिर्हि धर्मस्य दुर्ज्ञेया ह्यकृतात्मभिः ।

धर्म की गति सूक्ष्म है। उसे आत्मज्ञानहीन लोग नहीं समझ सकते।

---

१ शांति० २५९।२५
२ शांति० २६०।४
३ अनु० १४२।३०
४ अनु० १६२।६०
५ वन० ३१२।११७
६ वन० २०७।७७
७ अनु० १०।६९

अद्रोहेणैव भूतानां यो धर्मः स सतां मतः ।[१]

किसी भी प्राणी के साथ विना द्रोह किये जो धर्म पालन किया जाय वही सज्जनों की दृष्टि में मान्य धर्म है।

अणीयान् क्षुरधारायाः को धर्मं वक्तुमर्हति ।[२]

धर्म क्षुर की धारा से भी सूक्ष्म है। उसे कौन बतला सकता है ?

न धर्मः परिपाठेन शक्यो भारत वेदितुम् ।[३]

अर्जुन, गणना करके सारे धर्म नहीं जाने जा सकते।

सर्वं बलवतां धर्मः सर्वं बलवतां स्वकम् ।

बलवान लोगों के लिए सब कुछ धर्म है और सब कुछ अपना है।

स एव धर्मः सोऽधर्मो देशकाले प्रतिष्ठितः ।[४]

जो धर्म होता है वही देशकाल के अनुसार अधर्म भी हो जाता है।

न बाधा विद्यते यत्र तं धर्मं समुपाचरेत् ।[५]

जिस धर्म के आचरण में अपने को या और किसी को बाधा न हो उस धर्म का आचरण करना चाहिए।

सत्यार्जवे धर्ममाहुः परं धर्मविदो जनाः ।[६]

धर्मवेत्ता लोग सत्य एवं आर्जव (सरल व्यवहार) को ही श्रेष्ठ धर्म मानते हैं।

---

१ शांति० २१।११
२ उद्योग० ३५।३१
३ शांति० २६०।३
४ आश्व० २०।२४
५ शांति० ३६।२१
६ वन० १३१।१२
७ वन० २०६।४०

सदा हि धर्मस्य क्रियैव शोभना यदा नरो मृत्युमुखेऽभिवर्तते ।[१]

जब मनुष्य सदा मृत्यु के ही मुख में रहता है तो उसे सदा धर्म करना ही श्रेयस्कर है।

न धर्मफलमाप्नोति यो धर्मं दोग्धुमिच्छति ।[२]

जो धर्म करके उसे दूहना चाहता है अर्थात् उससे कोई लाभ प्राप्त करना चाहता है वह धर्म का फल नहीं पाता।

श्रद्धालक्षणमित्येवं धर्मं धीराः प्रचक्षते ।[३]

धीर पुरुष श्रद्धायुक्त कर्तव्य को ही धर्म कहते हैं।

आनृशंस्यं परो धर्मः ।[४]

दया सबसे बड़ा धर्म है।

धर्मो रक्षति रक्षितः ।[५]

जब मनुष्य धर्म की रक्षा करता है तो धर्म भी उसकी रक्षा करता है।

यं त्विमं धर्ममित्याहुर्धनादेष प्रवर्तते ।[६]

जिसको लोग धर्म कहते हैं वह धन से ही चलता है।

यस्यैव बलमोजश्च स धर्मस्य प्रभुर्नरः ।[७]

जिस आदमी के पास बल तथा ओज हो वही धर्म का अधिकारी है।

धूमो वायोरिव वशे बलं धर्मोऽनुवर्तते ।[८]

जिस प्रकार धूँआ वायु के अनुसार चलता है उसी प्रकार धर्म बल के पीछे २ चलता है।

---

१ शांति० २९८।१७
२ वन० ३१।६
३ आश्व० ३५।४४
४ वन० २१३।३०
५ वन० २०।८
६ शांति० ८।१२
७ शांति० १५२।१८
८ आदि० १३६।१९

अपध्यानमलो धर्मः ।[१]

बाहर और भीतर भेद रखना धर्म का मल है, दोष है।

महामना भवेद्धर्मे ।[२]

धर्म के विषय में मनुष्य को महामना होना चाहिये, विशालहृदय होना चाहिये।

नाऽसौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति ।[३]

वह धर्म नहीं जिसमें सचाई न हो।

यतो धर्मस्ततो जयः ।[४]

जहाँ धर्म रहता है वहाँ विजय होता है।

न व्याजेन चरेद् धर्मम् ।[५]

कोई बहाना बनाकर धर्म का आचरण नहीं करना चाहिये।

बलं धर्मोऽनुवर्तते ।[६]

धर्म बल के पीछे-पीछे चलता है।

धर्मस्य कारणं दण्डः ।[७]

धर्म के पालन का कारण दण्ड है अर्थात् दण्ड का भय न हो तो कोई धर्म का पालन नहीं करता।

अस्वर्ग्यं लोकविद्विष्टं धर्ममप्याचरेन्न तु ।[८]

जो धर्म स्वर्ग के मार्ग का बाधक तथा बहुजनसमाज द्वारा अमान्य हो उसका आचरण नहीं करना चाहिये।

---

१ शांति १२३।१०
२ १२३।२१
३ उद्योग० ३५।७१
४ शल्य० ६३।६२
५ आदि० २१३।३४
६ आदि० १३६।१९
७ दे० भा० १।१७।४
८ भ० गी० २१

नियन्ता चेन्न विद्येत न कश्चिद् धर्ममाचरेत् ।[१]

यदि कोई नियम और नियंत्रण में रखने वाला न हो तो कोई धर्म न करे।

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।[२]

मनुष्यों का यही सबसे बड़ा धर्म है कि मनुष्य की भगवान् में भक्ति हो जाय।

एतावान् पौरुषो धर्मो यदार्ताननुकम्पते ।[३]

मनुष्य का इतना ही सबसे बड़ा धर्म है कि वह आर्तजनों पर अनुकम्पा किया करें।

राज्ञा हि पूजितो धर्मस्तत सर्वत्र पूजितः ।[४]

राजा जिस धर्म को सम्मान देता है वही धर्म सब जगह सम्मान पाता है।

दम्भं विना यः क्रियते स धर्मः ।[५]

जो विना दम्भ के किया जाय वही धर्म है।

धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते ।[६]

धर्म से ही अर्थ एवं काम की प्राप्ति होती है। उसी का सेवन क्यों नहीं करते ?

धारणाद् धर्म इत्याहुर्धर्मेण विधृताः प्रजाः ।[७]

धारण करने के कारण धर्म को धर्म कहा जाता है क्योंकि धर्म ही प्रजा को धारण करता है।

धर्मो माता पिता धर्मो धर्मो बन्धुः सुहृत्तथा ।[८]

धर्म माता है, धर्म पिता है, धर्म बन्धु है तथा धर्म मित्र है।

---

१ वि० ६८।४५
२ भाग० १।२।६
३ भाग० ४।२७।२६
४
५ शौ० नी० ५१
६ स्वर्गा० ५।६२
७ शान्ति० १०९।११
८

कारणाद् धर्ममन्वीच्छेन्न लोकचरितं चरेत् ।[१]

धर्म के कारण को समझकर उसका आचरण करना चाहिये। लोगों के देखा-देखी धर्म नहीं करना चाहिये।

धर्मज्ञ—

यश्चतुर्गुणसम्पन्नं धर्मं ब्रूयात् स धर्मवित् ।[२]

जो चारों गुणों अर्थात् आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता एवं दण्डनीति से सम्पन्न धर्म का उपदेश करता है वही धर्मज्ञ है।

सत्यानृते विनिश्चित्य ततो भवति धर्मवित् ।[३]

सत्य एवं असत्य का निश्चय हो जाने के बाद मनुष्य धर्म का जानकार होता है।

धर्मध्वजी—

धर्मवैतंसिकाः क्षुद्रा मुष्णन्ति ध्वजिनो जगत् ।[४]

दूसरों को फँसाने के लिये धर्म का जाल फैलाने वाले नीच धर्मध्वजी लोग जगत को लूटा करते हैं।

वध्या मे धर्मध्वजिनस्ते हि पातकिनोऽधिकाः ।[५]

धर्मध्वजी लोग मेरे लिए वध के योग्य हैं क्योंकि ये लोग ही अधिक पापी हैं। (ऋषियों के प्रति बलराम की उक्ति)।

धर्मात्मा—

धर्मात्मा लभते कीर्तिं प्रेत्य चेह यथासुखम् ।[६]

धर्मात्मा व्यक्ति इस लोक और परलोक में भी परम यशस्वी होता है।

---

१ शान्ति० २६२।५३
२ शांति० ३२।२०
३ कर्ण० ६९।३५
४ शांति० १५८।१८
५ भाग० १०।७८।२७
६ शांति० २७६।१३

अस्मिन् लोके परे चैव धर्मात्मा सुखमेधते ।[१]

धर्मात्मा व्यक्ति इस लोक और परलोक में भी सुखी रहता है।

मृत्युरपि धर्मिष्ठं रक्षति ।[२]

मृत्यु भी धर्मात्मा पुरुष की रक्षा करती है।

न धर्मवृद्धेषु वयः समीक्ष्यते ।[३]

जो धर्म की दृष्टि से बड़े होते हैं उनकी अवस्था नहीं देखी जाती है।

आत्मवत् सर्वभूतानि वीक्षन्ते धर्मबुद्धयः ।[४]

धार्मिक बुद्धि वाले व्यक्ति समस्त प्राणियों को अपने समान ही देखते हैं।

धर्मार्थ—

ब्राह्मे मुहूर्ते बुद्धेचत धर्मार्थौ चाऽनुचिन्तयेत् ।[५]

ब्राह्म मुहूर्त में जागना चाहिये और उठकर धर्म तथा अर्थ इन दोनों के विषय में चिन्तन करना चाहिये।

तस्मादुद्विजते लोको धर्मार्थाद् यो बहिष्कृतः ।[६]

उस व्यक्ति से सब लोग घबड़ा जाते हैं जो धर्म एवं अर्थ दोनों से रहित है।

धान्य—

मानेन रक्ष्यते धान्यम् ।[७]

नाप-तौलकर खर्च करने से अनाज की रक्षा होती है।

---

१ शांति० ९१।२५
२ चा० सू० ४।६
३ कु० सं० ५।१६
४ पंच० १।४०६
५ मनु० ४।९२
६ शांति० १६७।२५
७ उद्योग० ३४।४१

धी—देखिये "बुद्धि"

धीर—

धीराः कष्टमनुप्राप्य न भवन्ति विषादिनः ।[१]

धीर पुरुष कष्ट पाकर भी विषाद नहीं करते ।

निसर्गः स हि धीराणां यदापद्यधिकं दृढाः ।[२]

यह धीर पुरुषों का स्वभाव है कि वे आपत्ति के समय अधिक दृढ़ हो जाते हैं ।

विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः ।[३]

विकारजनक कारणों के उपस्थित हो जाने पर भी जिनके चित्त में विकार नहीं उत्पन्न होता है वे ही धीर हैं ।

न निश्चितार्थाद् विरमन्ति धीराः ।[४]

वीर पुरुष निश्चित किए हुए कर्तव्य से विरत नहीं होते ।

धृति—

न स्वधैर्यादृते कश्चिदभ्युद्धरति संकटात् ।[५]

अपने धैर्य के अलावा और किसी साधन से मनुष्य संकट से उद्धार नहीं पा सकता ।

नावं धृतिमयीं कृत्वा जन्मदुर्गाणि सन्तर ।[६]

धैर्य की नौका बनाकर जन्मरूपी दुर्ग को पार करो ।

धृत्या द्वितीयवान् भवति ।[७]

धैर्य मनुष्य का दूसरा साथी होता है ।

---

१ वृ० नी० ४।२४
२ क० स० ३।६।३१
३ क० स० १।५९
४ भ० नी० ८१
५ यो० वा० ५।२९।१०
६ उद्योग० ४०।२२
७ वन० २९७।२९

धृतिर्नाम सुखे दुःखे यया नाप्नोति विक्रियाम् ।[1]

धृति (धैर्य) वह वस्तु है जिससे मनुष्य में सुख या दुःख में कोई विकार नहीं आता ।

नपुंसक—देखिये—क्लीव

नम्र, नम्रता—

विचरत्यसमुन्नद्धः स सुखी स च पण्डितः ।[2]

जो व्यक्ति उद्धत न होकर अर्थात् नम्र होकर चलता है, वही सुखी है और वही बुद्धिमान है ।

अनुत्सेकः खलु विक्रमालंकारः ।[3]

नम्रता पराक्रम का अलंकार है ।

नर्म—

अतिनर्मा जायते सम्प्रहार ।[4]

बहुत व्यङ्ग्य बोलने तथा उपहास करने से युद्ध, मार-पीट और लड़ाई हो जाती है ।

नर्मैकसादरं हि नवं वयः ।[5]

नयी अवस्था में नर्म अर्थात् व्यङ्ग्य-विनोद अधिक प्रिय होता है ।

नाट्य—

त्रिवर्गसाधनं नाट्यम् ।[6]

नाटक धर्म, अर्थ एव काम इन तीनों का साधक है ।

---

१ शांति० १६२।१९
२ वि० १।३७
३ सो० नी० ५।२२
४ सभा० ६३।५
५ कु० सं० २।४।५६
६ अ० पु० ३३८।७

काव्येषु नाटकं रम्यम् ।[१]

काव्यों में नाटक रमणीय होता है।

नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाऽप्येकं समाराधनम् ।[२]

भिन्न रुचिवाले पुरुषों के लिए भी एकमात्र नाटक मनोरंजक साधन है।

देवानामिदमामनन्ति मुनयः कान्तं क्रतुं चाक्षुषम् ।[३]

इस नाटक को मुनि लोग देवों का रमणीय चाक्षुष यज्ञ मानते हैं।

नारी–देखिये—स्त्री

नायक–

नोदयाय विनाशाय बहुनायकता ध्रुवम् ।[४]

किसी समाज में बहुत लोगों का नायक हो जाना उसके विनाश का कारण होता है उदय का नहीं।

अनायका विनश्यन्ति नश्यन्ति बहुनायकाः ।[५]

वह समाज विनष्ट हो जाता है जिसका कोई नायक नहीं होता अथवा जिसके बहुत नायक हो जाते हैं।

नास्तिक–

नास्तिकस्य कुतो भक्तिः ।[६]

नास्तिक को भक्ति कहां?

नास्तिको वेदनिन्दक ।[७]

वेद की निन्दा करने वाला नास्तिक होता है।

१
२ मा० १।४
३ मा० १।४
४ व्या० सु० सं० ८४
५ चा० नी० शा० सं० ५४
६
७ मनु० २।११

निद्रा–

सम्यक् स्वापो वपुषः परमारोग्याय ।[१]

अच्छी निद्रा शरीर के आरोग्य का उत्तम साधन है।

आतुरस्य कुतो निद्रा ।[२]

जो मनुष्य आतुर होता है उसे निद्रा कहाँ ?

निन्दक–

आक्रोशकसमो लोके सुहृदन्यो न विद्यते ।[३]

निन्दा और शिकायत करनेवाले के समान दूसरा कोई मित्र नहीं होता।

नियति (भाग्य, प्रारब्ध, भवितव्यता) –

नियतिः कारणं लोके नियतिः कर्मसाधनम् ।[४]

लोक में नियति सबका कारण है तथा समस्त कर्मों का साधन है।

नियतिः केन लङ्घ्यते ।[५]

नियति का कौन उल्लंघन कर सकता है ?

नियतिः सर्वभूतानां नियोगेष्विह कारणम् ।[६]

इस ससार में समस्त प्राणियों के नियोग में नियति ही कारण है।

नियोग–

ऋते नियोगात् सामर्थ्यमवबोद्धुं न शक्यते ।[७]

काम में लगाये विना किसी की क्षमता नहीं जानी जा सकती।

---

१ का० नी० अ० १०
२ सौ० ४।२२
३ पद्म० सृ० १९।३४४
४ वा० रा० ४।२५।४
५ भ० सु० सं० ६२३
६
७ वा० रा० ६।१७।५२

निरक्षर—

किं जीवितेन पुरुषस्य निरक्षरस्य ।[1]

निरक्षर पुरुष के जीने से क्या लाभ ?

निर्बल—

सर्वैरपि गुणैर्युक्तो निर्वीर्यः किं करिष्यति ।[2]

सभी गुणों से युक्त होने पर भी निर्बल पुरुष क्या कर सकता है ?

निस्सार—

निस्सारस्य पदार्थस्य प्रायेणाडम्बरो महान् ।[3]

प्रायः निस्सार पदार्थ की बाहरी तड़क-भड़क बहुत अधिक होती है।

निर्गुण—

पिता सखायो गुरवः स्त्रियश्च न निर्गुणानां प्रभवन्ति लोके ।[4]

संसार में निर्गुण लोगों के लिए पिता, मित्र, गुरु तथा स्त्रियाँ कोई भी सहायक नहीं होता।

निर्वेद (निराशा, विषाद, अनुत्साह) —

नहि निर्वेदमागम्य कश्चित् प्राप्नोति शोभनम् ।[5]

मनुष्य विषाद में पड़कर, निराश होकर कुछ भी अपना हित नहीं कर सकता।

अनिर्वेदः सदा कार्यो निर्वेदाद्धि कुतः सुखम् ।[6]

मनुष्य को कभी भी निराश और विषण्ण नहीं होना चाहिये। निराशा होने में सुख कहाँ ?

---

१ चा० नी० शा० सं० १३६६
२ सभा० १६।१७
३ शा० प० ४८१
४
५ वन० २१६।२६
६ शांति० १५३।५१

निष्क्रिय—देखिये—"अकर्मा"

निःस्पृह—

निस्पृहस्य तृणं जगत् ।[१]

निस्पृह व्यक्ति के लिए सारा जगत तृण के तुल्य होता है।

निःस्पृहो नाधिकारी स्यात् ।[२]

स्पृहा से रहित व्यक्ति कहीं भी अधिकारी नहीं होता।

शौचमेव सदा तेषां येषां नोत्पद्यते स्पृहा ।[३]

जिनके मन में कोई लालच नहीं होती वे लोग सदा ही स्वच्छ एवं पवित्र हैं।

नीच—

उत्सवादपि नीचानां कलहोऽपि सुखायते ।[४]

नीच लोगों को उत्सव से बढ़कर कलह ही अधिक सुखदायक होता है।

प्रायेण नीचा व्यसनेषु मग्ना
निन्दन्ति दैवं कुकृतं न तु स्वम् ।[५]

नीच पुरुष जब संकट में पड़ जाते हैं तो दैव की निन्दा करते हैं, अपने कुकृत्य की नहीं।

नीचाः कलहमिच्छन्ति ।[६]

नीच पुरुष झगड़ा ही करना चाहते हैं।

घातयितुमेव नीचः परकार्यं वेत्ति न प्रसाधयितुम् ।[७]

नीच व्यक्ति किसी का काम विगाड़ना ही जानता है, बनाना नहीं।

---

१ चा० नी० ५।१४
२ पंच० १।१६५
३ पञ्च० १।१६५
४ योवा० उ० ७०।७६
५ कर्ण० ९।१।
६
७ प० त० १।३९४

अल्पां काश्चित् श्रियं प्राप्य नीचो गर्वायते लघु ।[१]

नीच पुरुष थोडी सम्पत्ति पाकर भी शीघ्र ही गर्व करने लगता है।

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः ।[२]

निम्न कोटि के लोग विघ्न-बाधाओं के भय से कोई कार्य प्रारम्भ नहीं करते।

नीचस्य गोचरगतैः सुखमास्यते कैः ।[३]

नीच पुरुषों की दृष्टि में आ जाने पर कौन सुख से रह सकता है ?

द्विषन्ति मन्दाश्चरितं महात्मनाम् ।[४]

नीच पुरुष महापुरुषों के चरित्र की निन्दा किया करते हैं।

वधेन नीचः समुपैति मार्दवम् ।[५]

नीच आदमी मारने से ही मुलायम होता है।

नीति—

नीतेः फलं धर्मार्थकामावाप्तिः ।[६]

धर्म, अर्थ एवं काम की प्राप्ति नीतिज्ञान का फल है।

काले खलु समारब्धाः फलं बध्नन्ति नीतयः ।[७]

नीतियाँ जब समय पर प्रयोग में लायी जाती हैं तभी वह फलप्रद होती हैं।

विपन्नायां नीतौ सकलमवशं सीदति जगत् ।[८]

नीति के समाप्त हो जाने पर सारा जगत विवश होकर दुःख भोगता है।

---

१ चा० नी० शा० सं० ११९३
२ भ० नी० २७
३ भ० नी० ५९
४ कु० सं० ५।७५
५ सु० सुधा० १८।१४
६ वृ० नी० २।२७
७ रघु० १२।६९
८ हि० २।८४

कातर्यं केवला नीतिः शौर्य्यं श्वापदचेष्टितम् ।[1]

केवल नीति कायरता है और केवल शूरता पशुता है।

नयज्ञः पृथिवीं भुंक्ते जयत्येव न हीयते ।[2]

नीतिज्ञ पुरुष पृथ्वी का भोग करता है, विजय प्राप्त करता है तथा वह दुर्बल नहीं होता।

न्याय—

यान्ति न्यायप्रवृत्तस्य तिर्यञ्चोऽपि सहायताम् ।[3]

'जो न्याय का पालन करता है उसकी पशु-पक्षी भी सहायता करते हैं।

न्यायेन चरतां लोक इहाऽमुत्र छविर्नृणाम् ।[4]

न्याय के अनुसार चलने वाले मनुष्यों की इस लोक तथा परलोक में भी शोभा होती है।

न्यास (धरोहर)—

दुःखं न्यासस्य रक्षणम् ।[5]

न्यास की रक्षा करना बहुत कठिन होता है।

पक्षपात—

पक्षपातो हि गुणदोषौ विपर्यासयति ।[6]

पक्षपात गुण और दोष को उलट-पलट देता है।

अहेतुः पक्षपातो यस्तस्य नास्ति प्रतिक्रिया ।[7]

जो पक्षपात विना कारण किया जाता है उसका कोई प्रतीकार नहीं।

---

१ रघु० १७।४७
२
३
४ नी० क० ३२।१
५ स्वप्न० १।१०
६ का० मी०
७ उ० रा० ५।१७

वीतस्पृहाणामपि मुक्तिभाजां भवन्ति भव्येष्विह पक्षपाताः ।[१]

जो लोग इच्छाओं से रहित हैं तथा मुक्ति प्राप्त कर चुके हैं उन लोगों में भी उत्तम पुरुष के प्रति पक्षपात का भाव होता है।

पठन—

पठतो नास्ति मूर्खत्वम् ।[२]

जो व्यक्ति सदा कुछ पढ़ता रहता है वह मूर्ख नहीं होता।

पण्डित—

गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ।[३]

पण्डित जन मृत अथवा जीवित पुरुषों के विषय में शोक नहीं करते।

पण्डिताः समदर्शिनः ।[४]

पण्डित समदर्शी होते हैं।

न पण्डितस्तृप्यति भाषितेन ।[५]

पण्डित जन बोलने से तृप्त नहीं होते।

विज्ञेन सह संयोगः सुधारससमः स्मृतः ।[६]

विद्वान के साथ संयोग अमृत के समान आनन्ददायी होता है।

प्राज्ञस्यानन्तरा वृत्तिरिह लोके परत्र च ।[७]

प्राज्ञ पुरुष की वृत्ति (जीविका) इस लोक तथा परलोक में भी निर्बाध होती है।

---

१ कि० ३।१२ — ५ गरुड़ १।१०९।७

२ चा०नी०शा० सं० १६६५ — ६ दे० भा० १।६।५

३ भ० गी० २।११ — ७ वन० २०९।४३

४ भ० गी० ५।१८

पुरतः क्रुच्छ्रकालस्य धीमान् जागर्ति पूरुषः ।[1]

बुद्धिमान पुरुष कष्टकारक समय के आने के पहले ही सावधान हो जाता है।

भवन्ति सुदुरावर्ता हेतुमन्तोऽपि पण्डिताः ।[2]

हेतुवादी विद्वानों को भी उनके मत से हटाना बहुत कठिन होता है।

दिष्टे न व्यथते बुधः ।[3]

अवश्यंभावी कठिनाइयों में विद्वान पुरुष व्यथित नहीं होते, डिगते नहीं।

यस्याग्रे न गलति संशयः समूलो
नैवासौ क्वचिदपि पण्डितोक्तिमेति ।[4]

जिसके आगे संशय समूल नष्ट न हो जाय वह कभी भी पण्डित नहीं कहला सकता।

प्राज्ञस्य मूर्खस्य च कार्ययोगे समत्वमभ्येति तनुर्न बुद्धिः ।[5]

ज्ञानी और मूर्ख मनुष्यों के कर्म करने में शरीर तो एक-सा रहता है परन्तु बुद्धि में भिन्नता रहती है।

प्राज्ञास्तात न मुह्यन्ति कालेनापि प्रपीडिताः ।[6]

प्राज्ञ पुरुष कालवश पीडित होने पर भी मोह में नहीं पड़ते।

विद्वान् सर्वेषु भूतेषु आत्मना सोपमो भवेत् ।[7]

समस्त प्राणियों में विद्वान् को अपनी जैसी ही दृष्टि रखनी चाहिये।

सर्वत्र रमते प्राज्ञः सर्वत्र च विराजते ।[8]

प्राज्ञ पुरुष सर्वत्र सानन्द रहता है और सर्वत्र विराजता रहता है।

---

१ आदि० २३२।१
२ शांति० १९।२३
३ कर्ण० २।२४
४ योवा० उ० ७९।३३
५ अवि० ५।५
६ वन० १९१।३८
७ शांति० २७६।१०
८ शांति० १३९।८७

निरर्थं कलहं प्राज्ञो वर्जयेन्मूढसेवितम् ।[१]

प्राज्ञ को मूर्ख जैसा निरर्थक कलह नहीं करना चाहिये।

प्रज्ञया निर्मितैर्धीरास्तारयन्त्यबुधान् प्लवैः ।[२]

विद्वान् पुरुष प्रज्ञा की नौका से अज्ञानियों को तार दिया करते हैं।

पण्डितो बन्धमोक्षवित् ।[३]

जो बन्धन एवं मोक्ष को समझता है, वही पण्डित है।

यो विद्वान् स गुरुर्हरिः ।[४]

जो विद्वान है वही गुरु है और वही भगवान है।

विदुषः कर्मसिद्धिः स्तात्तथा नाऽविदुषो भवेत् ।[५]

कर्मों में जितनी सफलता विद्वान् को मिलती है उतनी मूढ़को नहीं मिलती।

अनन्तसुखमाप्नोति तद् विद्वान् यस्त्वकिञ्चनः ।[६]

वह विद्वान् उस अनन्त सुख को प्राप्त करता है जो अकिञ्चन होता है।

विदुषां किमशोभनम् ।[७]

विद्वान् लोगों की कौन बात अच्छी नहीं होती ?

आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः ।[८]

जो अपने समान ही समस्त प्राणियों को देखता है, समझता है, वही पण्डित है।

---

१ उद्योग० ३८।३१
२ शांति० २३६।२
३ भाग० ११।१९।४१
४ भाग० ४।२९।५१
५ भाग० १०।२४।६
६ भाग० ११।९।१
७ भाग० ११।२२।२५
८ हि० १।१४

अनुक्तमप्यूहति पण्डितो जनः ।[१]

पण्डित लोग विना कहे भी बातों को समझ लेते हैं।

सारं गृह्णन्ति पण्डिताः ।[२]

पण्डित लोग सार वस्तु का ग्रहण करते हैं।

सकृज्जल्पन्ति पण्डिताः ।[३]

पण्डित लोग एकबार ही कोई बात बोलते हैं।

सर्वनाशे समुत्पन्ने अर्धं त्यजति पण्डितः ।[४]

जब सर्वनाश की समस्या उपस्थित हो जाय तो पण्डित आधे का परित्याग कर देता है।

सः पण्डितो यः करणैरखण्डितः ।[५]

जो इन्द्रियों द्वारा खण्डित न हो वही पण्डित है।

य क्रियावान् स पण्डितः ।[६]

जो विद्वान् होने के साथ क्रियावान् भी होता है वही पण्डित है।

आपत्स्वपि न मुह्यन्ति नराः पण्डितबुद्धयः ।[७]

जिन मनुष्यों में पण्डितों की तरह बुद्धि होती हैं वे आपत्ति में भी मोह में नहीं पड़ते।

नष्टं मृतमतिक्रान्तं नानुशोचन्ति पण्डिताः ।[८]

नष्ट हुई वस्तु के लिए, मरे हुए मनुष्य के लिए तथा बीती हुई बात के लिए पण्डित जन शोक नहीं करते।

---

१ हि० २।५१ ५

२ ६ वन० ३१३।११०

३ चा०नी०शा० सं० १०२२ ७ हि० १।१३६

४ पंच० ४।२८ ८ पंच० १।३३६

पण्डितो हि वरं शत्रुर्न मूर्खो हितकारकः ।[१]

पण्डित शत्रु हो तो अच्छा पर मूर्ख हितकारक नहीं अच्छा ।

बालस्याप्यर्थवद् वाक्यमुपयुञ्जीत पण्डितः ।[२]

बालक की भी उत्तम बात का पण्डित को ग्रहण करना चाहिये।

अधिगतपरमार्थान् पण्डितान् माऽवमंस्थाः
तृणमिव लघुलक्ष्मीर्नैव तान् संरुणद्धि ।[३]

परमतत्त्व पर पहुंके हुए पण्डितों का अपमान नहीं करना चाहिये। उनके लिए लक्ष्मी तिनके के समान तुच्छ होती है। वह उन्हें अपने वश में नहीं कर सकती।

को विदेशः सुविद्यानाम् ।[४]

जो अच्छे विद्वान् हैं उनके लिए विदेश क्या है ?

उदयास्तमनज्ञो हि न शोचति न हृष्यति ।[५]

संसार की उत्पत्ति और विनाश को जो समझता है वह न शोक करता है और न हर्षित होता है।

विद्वान् भवते नातिवादी ।[६]

बिद्वान् पुरुष अतिवादी नहीं होता। वह संक्षेप में ही सारवस्तु कहता है।

यस्यागमः केवलजीविकायै तं ज्ञानपण्यं वणिजं वदन्ति ।[७]

जिसका शास्त्रज्ञान केवल जीविका कमाने के लिए होता है वह ज्ञान की दूकान करने वाला अर्थात् ज्ञान बेचने वाला बनिया है ऐसा विद्वान लोग कहते हैं।

---

१ पंच० २।४३१
२ कौ० अर्थ० १।१०।१४
३ भा० वि० १७
४ चा० नी० २।१३
५
६ मु० रा० ३।१।४
७ माल० १।१७

विद्यावतां सकलमेव गिरां दवीयः ।[१]

विद्वान् लोगों की सब बातें अवर्णनीय होती हैं।

काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम् ।[२]

विद्वानों का समय काव्य एवं शास्त्रों के विनोद में व्यतीत होता है।

क्वचिद् बुधैरप्यपथेन गम्यते ।[३]

कभी विद्वान लोगों को भी रास्ता छोड़ कर चलना पड़ता है।

ननु वक्तृविशेष-निस्पृहा गुणगृह्या वचने विपश्चितः ।[४]

विद्वान लोग वक्ता की विशेषता से निरपेक्ष रहते हुए वक्तव्य की अच्छाई को ग्रहण करते हैं।

विद्वान् सर्वत्र पूज्यते ।[५]

विद्वान् पुरुष सब जगह सम्मान पाता है।

विद्वानेव विजानाति विद्वज्जनपरिश्रमम् ।[६]

विद्वानों के परिश्रम को विद्वान् ही जानता है।

विद्वांसो मत्सरग्रस्ताः ।[७]

विद्वान जन एक दूसरे के प्रति मत्सरग्रस्त होते हैं।

शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खा
यस्तु क्रियावान् पुरुषः स विद्वान् ।[८]

शास्त्रों को पढ़कर भी लोग मूर्ख हुआ करते हैं परन्तु जो पुरुष क्रियावान् होता है वही वास्तविक रूप में विद्वान है।

---

१ भा० वि० प्रा० ६७
२ हि० १।१
३ नै० ९।३६
४ कि० २।५
५ पंच० २।५७
६ कुव० ५१
७ म० नी० २
८ हि० १।१६७

अपथे पदमर्पयन्ति हि श्रुतवन्तोऽपि रजोनिमीलिताः ।[१]

विद्वान् पुरुष भी रजोगुण से अन्धे होकर वेरास्ते चला करते हैं।

शतं दद्यान्न विवदेदिति प्राज्ञस्य लक्षणम् ।[२]

सौ दे दे पर विवाद न करें, यह बुद्धिमान् का लक्षण है।

उपायं चिन्तयन् प्राज्ञो ह्यपायमपि चिन्तयेत् ।[३]

विद्वान् को किसी काम के लिये उपाय सोचते समय अपाय की भी चिन्ता करनी चाहिये।

पत्नी—

क्रियाणां खलु धर्म्याणां सत्पत्न्यो मूलकारणम् ।[४]

अच्छी पत्नियाँ धार्मिक क्रियाओं का मूलकारण होती हैं।

पत्नी धर्मार्थकामानां कारणं परमं मतम् ।
विशेषतश्च धर्मस्य ।[५]

पत्नी ही धर्म, अर्थ और काम का प्रधान कारण है और विशेषकर धर्म का।

रतिपुत्रफला दाराः ।[६]

पत्नीलाभ का फल संभोग और सन्तान है।

भवन्त्यव्यभिचारिण्यो भर्तुरिष्टे पतिव्रता ।[७]

पतिव्रता स्त्रियाँ पति की इच्छा से विपरीत आचरण नहीं करतीं।

---

१ रघु० ९।७४
२ हि० ३।३६
३ हि० ४।११
४ कु० सं० ६।१३
५ मार्क० ६८।९
६ सभा० ५।११२
७ कु० सं० ६।८६

पथ्य—

अप्रियस्यापि पथ्यस्य परिणामः सुखावहः ।[1]

अप्रिय पथ्य का भी परिणाम सुखकर होता है।

पदस्थ -

सर्वे पदस्थस्य भवन्ति मित्राः ।[2]

पद पर बैठे हुए व्यक्ति के सभी मित्र होते हैं।

परतन्त्र—

सुखं किं परतन्त्रस्य स्त्रीजितस्य विशेषतः ।[3]

जो मनुष्य परतन्त्र हो और विशेषकर स्त्री के अधीन रहता हो तो उसे सुख कहाँ ?

ये पराधीनकर्माणो जीवन्तोऽपि च ते मृताः ।[4]

जिनके सब कर्म पराधीन होते हैं वे जीते हुए भी मृत हैं, मरे हुए हैं।

परधन, परस्त्री—

परस्वं नरकायैव परदाराश्च मृत्यवे ।[5]

दूसरे का धन नरक में ले जाता है और दूसरे की स्त्री मृत्यु का कारण बनती है।

अनार्यः परदारव्यवहारः ।[6]

दूसरे की स्त्री से व्यवहार रखना आर्य-आचरण के विरुद्ध है।

पराक्रम—

हन्त्यनर्थं पराक्रमः ।[7]

मनुष्य का पराक्रम उसके सब अनर्थ दूर कर देता है।

---

१ हि० २।१४२
२ गरुड़० १।१०९।७
३ दे० भा० १।१४।३८
४ शौ० नी० ३७
५ वामन० १४।४४
६ अ० शा० ७
७ उद्योग० ३९।४२

पराभव—

सम्भावितस्य स्वजनात् पराभवो यदा स सद्यो मरणाय कल्पते ।[१]

सम्मानित व्यक्ति का जब अपने लोगों से पराभव होता है तो वह उसके लिए मरण का कारण बन जाता है ।

परिग्रह—

परिग्रहो हि दुःखाय यद् यत्प्रियतमं नृणाम् ।[२]

जो-जो अधिक प्रिय होता है उसका परिग्रह मनुष्य के लिए दुःख का ही कारण होता है ।

तन्मात्रमाद्याद् यावदत्र प्रयोजनम् ।[३]

मनुष्य को उतने ही धन का संग्रह करना चाहिये जितने की उसको आवश्यकता हो ।

नैनः प्राप्नोति वै विद्वान् यावदर्थपरिग्रहः ।[४]

बुद्धिमान पुरुष जब अपनी आवश्यकता के अनुरूप ही अर्थ का संग्रह करता है तो उसे पाप नहीं लगता ।

अलं परिग्रहेणैव दोषवान् सपरिग्रहः ।[५]

परिग्रह से दूर रहना चाहिये क्योंकि जो परिग्रही होता है वह दोषभागी होता है ।

परोपकार—

परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम् ।[६]

परोपकार पुण्य का तथा परपीडा पाप का कारण है ।

---

१ भाग० ४।३।२५
२ भाग० ११।९।१
३ शांति० २१७।१९
४ भाग० ८।२०।१७
५
६ पंच० ३।१०२

परोपकारशून्यस्य धिग् मनुष्यस्य जीवितम् ।[1]

परोपकार से शून्य मनुष्य के जीवन को धिक्कार है।

परोपदेश—

परोपदेशे पाण्डित्यं सर्वेषां सुकरं नृणाम् ।[2]

परोपदेश में पण्डिताई दिखाना सभी मनुष्य के लिए सुकर होता है।

सुखमुपदिश्यते परस्य ।[3]

दूसरों को उपदेश देना बड़ा सहज होता है।

पलायन—

अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यं रणे राजन् पलायनम् ।[4]

राजन्, युद्ध क्षेत्र से भागना आर्यपरम्परा के विरुद्ध तथा स्वर्ग का बाधक है।

अयुद्धेन व्यवस्थानं नैष धर्मः सनातनः ।[5]

युद्ध न करने का निश्चय रखना यह सनातन धर्म नहीं है।

न दैन्यं न पलायनम् ।[6]

युद्ध में न हीनता होनी चाहिये और न युद्ध से पलायन होना चाहिये।

पश्चात्ताप—

पश्चात्तापो हि सर्वेषामघानां निष्कृतिः परा ।[7]

पश्चात्ताप समस्त पापों का अन्तिम प्रायश्चित्त है।

विकर्मणा तप्यमानः पापाद् विपरिमुच्यते ।[8]

कुकर्म करने के बाद पश्चात्ताप करने से मनुष्य पाप से छूट जाता है।

१
२ हि० १।१०३
३ कादं०
४ शल्य० ३९।२४
५ शल्य० ५१।५०
६
७ स्क० ब्र० २२।८५
८ शांति० १५२।२३

परगृह—

परसदननिविष्टः को लघुत्वं न याति ।[१]

दूसरे के घर में जाने पर कौन व्यक्ति लघुता को नहीं प्राप्त होता।

कष्टादपि कष्टतरं परगृहवासः परान्नं च ।

दूसरे के घर का निवास तथा दूसरे के अन्न का भोजन कष्ट से भी बढ़कर कष्टदायी होता है।

पाण्डित्य—

पाण्डित्यं नाम तन्मौर्ख्यं यत्र नास्ति वितृष्णता ।[२]

वह पाण्डित्य मूर्खता है जिसमे तृष्णा का परित्याग न हो।

एतदात्मविज्ञानं पाण्डित्यम् ।[३]

यह जो आत्मज्ञान है वही पाण्डित्य है।

किं पाण्डित्यं परिच्छेदः ।[४]

पाण्डित्य क्या है ? भले-बुरे का विवेक करना ही पाण्डित्य है।

पाण्डित्यस्य विभूषणं सुजनता ।[५]

पाण्डित्य की शोभा सुजनता है।

एतदेव हि पाण्डित्यं यदायान्नाधिको व्ययः ।[६]

यही पण्डिताई और बुद्धिमानी है कि आय से अधिक व्यय न किया जाय।

एतदेव हि पाण्डित्यं यत् स्वल्पाद् भूरिरक्षणम् ।[७]

यही पाण्डित्य है कि थोड़े व्यय से अधिक आय बचाया जा सके।

---

१ चा॰ नी॰ १५।१४
२ स॰ प॰ मा॰ १०।४
३ योवा॰ नि॰ उ॰ १९४।३४
४ बृ॰ उ॰ शा॰ भा॰ ३।५।१
५ हि॰ २।१४७
६ सु॰ ३०५४
७
८ पंच॰ ११९

शुनः पुच्छमिवानर्थं पाण्डित्यं धर्मवर्जितम् ।[1]

धर्म से हीन जो पाण्डित्य होता है वह कुत्ते के पूँछ के समान व्यर्थ होता है।

पात्र—

दुःखेनासाद्यते पात्रम् ।[2]

सत्पात्र व्यक्ति बहुत कठिनाई से मिलता है।

अपात्रं पात्रतां याति यत्र पात्रं न विद्यते ।[3]

जहाँ कोई पात्र नहीं होता वहाँ अपात्र व्यक्ति ही पात्र बन जाता है।

विनयाद् याति पात्रताम् ।[4]

मनुष्य विनय होने से पात्रता को प्राप्त करता है।

पात्रत्वाद् धनमाप्नोति ।[5]

मनुष्य पात्र (योग्य) होने से धन-सम्पत्ति प्राप्त करता है।

पाप—

यथा श्वः प्रैष्यन् पापात् कर्मणो जुगुप्सते एवमेवाहरहः पापात् कर्मणो जुगुप्सेताकालात् ।[6]

जैसे मनुष्य कल अपने को मरने वाला समझ कर पापों से घृणा करता है इसी प्रकार प्रतिदिन मृत्युपर्यन्त पाप कर्मों से घृणा करनी चाहिये।

यः सकृत्पापकं कुर्यात् कुर्यादेनत्ततोऽपरम् ।[7]

जो व्यक्ति एकबार पाप कर देता है तो वह दूसरा भी पाप करने लगता है।

---

१ पंच० ३।९७
२ शांति० १११।६९
३ चा० नी० शा० सं० २१६०
४ हि० प्र० ६
५ हि० प्र० ६
६ चै० उ० ४।११।४।४
७ ऐ० ब्रा० ७।१७

नहि व्यवस्था भवति यदि पापो न वार्यते ।[१]

यदि पाप को न रोका जाय तो कोई व्यवस्था नहीं चल सकती ।

एकः पापानि कुरुते फलं भुंक्ते महाजनः।[२]

एक मनुष्य पाप करता है पर उसका फल बहुत लोग भोगते हैं ।

जानता तु कृतं पापं सर्वं गुरु भवत्युत ।[३]

जान-बूझकर किया हुआ सब पाप बड़ा पाप होता है ।

स्वयं पापं प्रकाशते ।[४]

पाप अपने आप ही प्रकाशित हो जाता है, प्रगट हो जाता है ।

कृत्वा पापं हि सन्तप्य तस्मात् पापात् प्रमुच्यते ।[५]

पाप करके मनुष्य उसके लिए पश्चात्ताप करने के बाद उस पाप से मुक्त हो जाता है ।

लोभमूलानि पापानि ।[६]

सभी पापों का लोभ ही मूल कारण होता है ।

यदा वै श्रियोऽन्तं गच्छत्यथ पापीयान् भवति ।[७]

जब मनुष्य के धन का अन्त हो जाता है तो वह पापी हो जाता है ।

पापी—

अभिनन्दन्ति भूतानि विनाशे पापकर्मणः ।[८]

पाप करने वाले व्यक्ति का विनाश हो जाने पर सब लोग प्रसन्न होते हैं ।

---

१ शांति० ९०।८

२

३ शांति० ३५।४०

४

५ मनु० ११।२३०

६ चा० नी० सा० सं० ८९३

७ मै० सं० २।२।९

८ वा० रा० ५।३१।१३

कथाऽपि खलु पापानामलमश्रेयसे यतः ।[1]

पापी लोगों की चर्चामात्र भी दुःख के लिये पर्याप्त होती है।

पारस्परिक सहयोग—

धारयध्वं परस्परम् ।[2]

परस्पर सहयोग रक्खो, एक दूसरे की रक्षा करो।

सर्वेषामेव भूतानामन्योन्येनोपजीवनम् ।[3]

सभी प्राणियों का पारस्परिक सहयोग से ही जीवन चलता है।

परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ।[4]

परस्पर के सद्विचार एवं सहयोग से ही परम कल्याण प्राप्त कर सकोगे।

ध्यायन्तु भूतानि शिवं मिथो धिया ।[5]

सभी प्राणी अन्तःकरण से परस्पर कल्याण का चिन्तन करें।

पिता—

पितुर्हि वचनं कुर्वन् न कश्चिन्नाम हीयते ।[6]

पिता के वचन का पालन करनेवाला कोई भी व्यक्ति दीन-हीन नहीं होता।

पितरि प्रीतिमापन्ने प्रीयन्ते सर्वदेवताः ।[7]

पिता के प्रसन्न होने पर सब देवता प्रसन्न हो जाते हैं।

ऋणकर्ता पिता शत्रुः ।[8]

ऋण करनेवाला पिता शत्रु होता है।

---

१ शि० व० २।४०
२ आश्व० २३।२४
३ भीष्म ४।२३
४ भ० गी० ३।११
५ भाग० ५।१८।९
६ वा० रा० २।२१।३७
७
८ हि० प्र० २२

पितृदोषेण मूर्खता ।[१]

पिता के दोष से सन्तान मूर्ख होती है।

माता शत्रुः पिता वैरी येन बालो न पाठितः ।

वह माता और पिता शत्रु हैं जिन्होंने बालकों को पढ़ायानहीं।

पुण्य—

पुण्यं कर्म सुकृतस्य लोकः ।[२]

पुण्य कर्म स्वर्ग लोक का दाता होता है।

यथा वृक्षस्य संपुष्पितस्य दूराद् गन्धो वात्येवं
पुण्यस्य कर्मणो दूराद् गन्धो वाति ।[३]

जैसे पुष्पित वृक्ष का गन्ध दूर से ही महकता है उसी प्रकार पुण्य कर्म का गन्ध भी दूसरे से ही महकता है।

दिवं स्पृशति भूमिं च शब्दः पुण्यस्य कर्मणः ।[४]

पुण्य कर्म का जो शब्द है वह आकाश और भूमि दोनो का स्पर्श करता है।

रक्षन्ति पुण्यानि पुराकृतानि ।[५]

पहले के किये हुए पुण्य संकटों में मनुष्य की रक्षा करते हैं।

पुण्यैर्यशो लभ्यते ।[६]

पुण्य कर्मों से यश प्राप्त होता है।

पुण्यैर्विना नहि भवन्ति समीहितानि ।[७]

पुण्य कर्मों के विना मनुष्य की इच्छाएँ पूरी नहीं होतीं।

---

१ चा० नी० शा० सं० ३४
२ हि० प्र० ३९
३ तै० ब्रा० ३।३।१०।१२
४ महाना० उ० ८।२
५ वरा० ३९३।१२०
६ भ० नी० ९७
७
८ सु० सु० ३१।२१

पुण्य-पाप—

सुकृतं दुष्कृतं चैव गच्छन्तमनुगच्छति ।[1]

पुण्य और पाप करनेवाले के पीछे-पीछे जाते हैं।

पूर्वं कर्तुर्गच्छति पुण्यपापं पश्चाच्चेदमनुयातीह कर्ता ।[2]

पुण्य और पाप करनेवाले के पहले ही पहुँच जाते हैं और कर्ता उनके पीछे पहुँचता है।

पुण्यकृत्—

एकं पुण्यं यन्तं बहवोऽनुयन्ति ।[3]

एक पुण्य करनेवाला आगे चलता है तो उसके पीके बहुत लोग चलने लगते हैं।

पुण्यं पूर्वं यन्तं पापीयान् पश्चादन्वेति ।[4]

पुण्य करनेवाला पहले जाता है और पाप करनेवाला पीछे जाता है।

ये हि जनाः पुण्यकृतः स्वर्गं लोकं यन्ति तेषामेतानि ज्योतींषि ।[5]

जो पुण्य करनेवाले लोग स्वर्ग में जाते हैं उन्हीं की ये ज्योतियाँ हैं जो आकाशमण्डल में जगमगाती हैं।

पुत्र—

पुत्रो हि हृदयम् ।[6]

पुत्र माता-पिता का हृदय होता है।

---

१ सु० सु० ३।१३
२
३ काठ० २७, १०
४ क० २।१८
५ माश० ६।५।४।८
६ तै० २।२।७।४

पुन्नाम नरकमनेकशततारं तस्मात् त्रातीति पुत्रः, तत्पुत्रस्य पुत्रत्वम् ।[१]

"पु" नाम का एक नरक है जिसमें सैकड़ों तार होते हैं उस नरक से पुत्र पिता का त्राण करता है अर्थात् बचाता है इसलिए पुत्र को पुत्र कहा जाता है।

सोऽयं मनुष्यलोकः पुत्रेणैव जय्यो नान्येन कर्मणा ।[२]

यह मनुष्य लोक पुत्र से ही अर्थात् पुत्र उत्पन्न करके ही जीता जा सकता है अन्य किसी कर्म से नहीं।

धन्यास्ते मानवा लोके सुपुत्रो यद्गृहे स्थितः ।[३]

वे मनुष्य धन्य हैं जिनके घर में कोई सुपुत्र रहता है।

अनपत्यतैकपुत्रत्वम् इत्याहुर्धर्मवादिनः ।[४]

एक पुत्रवाला व्यक्ति अनपत्य अर्थात् निस्सन्तान के ही समान होता है, ऐसा धर्मवादी लोग कहते हैं।

सन्तानं हि परो धर्म एवमाह पितामहः ।[५]

सन्तान होना परम धर्म है ऐसा पितामह ने कहा है।

पित्रा पुत्रो वयस्थोऽपि सततं वाच्य एव तु ।[६]

पुत्र वयस्क हो जाने पर भी पिता द्वारा सदा शिक्षणीय होता है।

प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रं मित्रमिवाचरेत् ।[७]

जब पुत्र सोलहवें वर्ष पर पहुँच जाय तो उससे मित्र जैसा व्यवहार करना चाहिये।

---

१ गो० ब्रा० १।१।२
२ मा० श० १४।४।३।२४
३ दे० भा० ४।५
४ आदि० ९००।६७
५ आदि० ४५।१४
६ आदि० ४२।४
७ चा० नी० शा० सं० ८८९

पुत्रस्पर्शात् सुखतरः स्पर्शो लोके न विद्यते ।[1]

पुत्र के स्पर्श से बढ़कर सुखप्रद स्पर्श संसार में और कोई नहीं।

आत्मात्मनैव जनितः पुत्र इत्युच्यते बुधैः ।[2]

अपने से ही उत्पन्न की हुई अपनी आत्मा पुत्र कहलाती है।

मूर्ध्नि पुत्रानुपाघ्राय प्रतिनन्दन्ति मानवाः ।[3]

पुत्र के शिर को सूँघकर अर्थात् उसे छाती से लगाकर मनुष्य आनन्दित होते हैं।

पुत्रलाभो हि कौरव्य सर्वलाभाद् विशिष्यते ।[4]

कौरव, पुत्र का लाभ सब लाभों से बढ़कर होता है।

निदेशवर्ती च पितुः पुत्रो भवति धर्मतः ।[5]

पुत्र धर्म के अनुसार पिता के निर्देश में रहनेवाला होता है।

पुत्रस्नेहस्तु बलवान् ।[6]

पुत्र का स्नेह बलवान होता है।

तत् किमपत्यं यत्र नास्त्यध्ययनं विनयो वा ।[7]

वह कैसी सन्तान है जिसमें न ज्ञान हो और न विनय हो।

प्रीणाति यः सुचरितैः पितरौ स पुत्रः ।[8]

जो अपने उत्तम चरित्रों से माता-पिता को प्रसन्न रखता है वही पुत्र है।

पुत्रः शत्रुरपण्डितः ।[9]

मूर्ख पुत्र शत्रु के समान होता है।

---

१ आदि० ७४।५८
२ आदि० ७४।४८
३ आदि० ७४।६१
४ अनु० ६८।३४
५ आश्रम० ४।८
६ स्त्री० १३।३३
७ शां० नी० २७ १८
८ भ० नी० ६८
९ हि० प्र० २२

वरमेको गुणी पुत्रो न च मूर्खशतान्यपि ।[1]

एक ही गुणवान पुत्र अच्छा, पर सैकड़ों मूर्ख पुत्र अच्छे नहीं ।

गुणवति पुत्रे कुटुम्बिनः स्वर्गः ।[2]

पुत्र के गुणवान हो जाने पर गृहस्थ को स्वर्ग मिल जाता है ।

कः सूनुर्विनयं विना ।[3]

विनय के विना पुत्र कैसा ?

कोऽर्थः पुत्रेण जातेन यो न विद्वान् न धार्मिकः ।[4]

उस पुत्र के उत्पन्न होने से क्या लाभ जो न विद्वान् हो और न धार्मिक हो ।

ते पुत्रा ये पितुर्भक्ताः ।[5]

वे ही पुत्र हैं जो पिता के भक्त होते हैं ।

कष्टं खलु अनपत्यता ।[6]

अपत्यहीन होना निश्चय ही कष्ट की बात है ।

अपुत्रता मनुष्याणां श्रेयसे न कुपुत्रता ।[7]

पुत्र न होना मनुष्य के लिए अच्छा है पर कुपुत्र होना अच्छा नहीं ।

पुत्रगात्रस्य संस्पर्शश्चन्दनादतिरिच्यते ।[8]

पुत्र के शरीर का स्पर्श चन्दन के स्पर्श से भी बढ़कर होता है ।

सुपुत्रः कुलदीपकः ।[9]

उत्तम पुत्र कुल को दीपक के समान प्रकाशमान करता है ।

---

१ हि० प्र० १८
२ चा० सू० ६।१२
३
४ हि० प्र० ९३
५ चा० नी० शा० सं० ४२६
६ अ० शा० ६।२२
७ मार्क० १९ ७
८ पंच० ५।२०
९ नी० शा० ३६

पुरुष—

पुरुषो वाव सुकृतम् ।[१]

पुरुष ही विधाता की कृतियों में उत्तम कृति है।

पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम् ।[२]

पुरुष ही प्रजापति का अत्यन्त समीपवर्ती जीव है।

प्रभवन् योऽनहंवादी स वै पुरुष उच्यते ।[३]

जो समर्थ होते हुए भी अहंकारी न हो वही पुरुष है।

एतावानेव पुरुषो यदमर्षी यदक्षमी ।[४]

पुरुष इतने से ही पुरुष कहलाता है कि वह अन्यायियों के लिये अमर्षी और अक्षमी होता है।

परं विषहते यस्मात् तस्मात् पुरुष उच्यते ।[५]

पुरुष इसीलिए पुरुष कहलाता है कि वह पर को सहन नहीं करता।

श्रीमान् स यावद् भवति तावद् भवति पूरुषः ।[६]

पुरुष जब तक श्रीमान् रहता है तभी तक पुरुष कहलाता है।

अयोग्यः पुरुषो नास्ति योजकस्तत्र दुर्लभः ।[७]

कोई भी पुरुष अयोग्य नहीं होता परन्तु उसे उसके योग्य काम में लगाने वाला पुरुष दुर्लभ होता है।

सुदुःखं पुरुषज्ञानं चित्तं येषां चलाचलम् ।[८]

पुरुषों को ठीक-ठीक पहचान लेना बहुत कठिन है। क्योंकि इनका चित्त एक समान नहीं होता। कभी चंचल होता है तो कभी स्थिर।

---

१ ऐ० उ० २।३
२ शत० २।५।१।१
३ अनु० १४६।१४
४ उद्योग० १३३।३३
५ उद्योग० १३३।३५
६ उद्योग० ७२।१६
७ सु० र० भा० पृ० १५६।१५८
८ शांति० १११।८१

समुद्रकल्प. पुरुषो न कदाचन पूर्यते ।[1]

पुरुष समुद्र के समान अगाध होता है। वह कभी पूरा नहीं होता।

नाम यस्याभिनन्दन्ति द्विषोऽपि स पुमान् पुमान् ।[2]

जिस पुरुष के नाम का शत्रु भी अभिनन्दन करते हैं वही पुरुष पुरुष है।

ऋद्धियुक्ता हि पुरुषा न सहन्ते परस्तवम् ।[3]

समृद्धिशाली पुरुष दूसरों की प्रशंसा को सहन नहीं करते।

पुरुषार्थ—

कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः ।[4]

यदि मेरे दाहिने हाथ में पुरुषार्थ है तो विजय बायें हाथ में रखा हुआ है।

विद्या तपो वा विपुलं धनं वा
सर्वं ह्येतद् व्यवसायेन शक्यम् ।[5]

विद्या, तप अथवा विपुल सम्पत्ति यह सब कुछ व्यवसाय से ही प्राप्त किया जा सकता है।

इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तं न स्वप्नाय स्पृहयन्ति ।[6]

देवगण कर्मशील पुरुष को चाहते हैं। वे आलसी पुरुष को नहीं चाहते।

धर्मार्थकाममोक्षाख्याः पुरुषार्थाः सनातनाः ।[7]

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष नाम के चारो पुरुषार्थ सनातन हैं।

१
२ किरात० ११।७३
३ वा० रा० २।२६।२५
४ अथर्व० ७।५२।८
५ शांति० १२०।४५
६ ऋग्० ८।२।१८
७ बृ० ना० ४।१

पुरुषकारमनुवर्तते दैवम् ।[1]

दैव पौरुष का अनुसरण करता है।

जितक्लेशस्य पौरुषम् ।[2]

जो क्लेशों को सह लेता है उसी का पौरुष सिद्ध होता है।

दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या ।[3]

दैव की चिन्ता न कर अपनी शक्ति के अनुसार पुरुषार्थ करो।

देखिये—उद्यम, उद्योग

पूर्णता—

न पूर्णोऽस्मीति मन्येत धर्मतः कामतोऽर्थतः ।[4]

धर्म, काम या अर्थ किसी में भी अपने को पूर्ण नहीं मानना चाहिये।

पूर्णता गौरवाय ।[5]

मनुष्य का पूर्ण होना उसके गौरव का कारण होता है।

पृथिवी—

इयं पृथिवी सर्वेषां भूतानां मधु, अस्यै पृथिव्यै सर्वाणि भूतानि मधु ।[6]

यह पृथ्वी सब प्राणियों के लिये मधु है और इस पृथ्वी के लिये सब प्राणी मधु हैं।

पृथिव्यां त्रीणि रत्नानि जलमन्नं सुभाषितम् ।[7]

जल, अन्न और मधुर वचन ये तीन पृथ्वी के रत्न हैं।

पूर्णा मही सुन्दर-सुन्दरेण ।[8]

पृथ्वी सुन्दर से सुन्दर वस्तुओं से भरी है।

---

१ चा० सू० २।६
२ चा० नी० २।१
३ पंच० २।१३७
४ श० नी०
५ मे० पू० २०
६ बृ० उ० २।५।१
७ चा० नी० १३।२१
८

बहुरत्ना वसुन्धरा ।[१]

पृथ्वी बहुत रत्नों से भरी हुई है।

वीरभोग्या वसुन्धरा ।[२]

पृथ्वी का भोग वीर पुरुष ही कर सकते हैं।

बह्वाश्चर्या हि मेदिनी ।[३]

पृथ्वी अनेक आश्चर्यों से भरी हुई है।

पौरुष—देखिये—पुरुषार्थ

प्रकृति—

प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ।[४]

मनुष्य अपनी प्रकृति के अनुसार चलता है, उस पर किसी का निग्रह क्या करेगा ?

सतीव योषित् प्रकृतिश्च निश्चला
पुमांसमभ्येति भवान्तरेष्वपि ।[५]

सती स्त्री के समान मनुष्य की प्रकृति भी निश्चल होती है और वह दूसरे जन्मों में भी अपने पूर्व पुरुष को ही प्राप्त होती है।

स्वभावो दुरतिक्रमः ।[६]

स्वभाव का बदलना बहुत कठिन होता है।

स्वभावो मूर्ध्नि तिष्ठति ।[७]

स्वभाव मनुष्य के शिर पर विराजमान रहता है।

---

१ चा० नी० १४।८
२ सो० नी० २९।६१
३
४ गीता० ३।३३
५ शि० व० ९।६२
६ वा० रा० ६।३६।११
७ हितो० १।२०

प्रजनन—

प्रजननं वै प्रतिष्ठा लोके। साधु प्रजायास्तन्तुं तन्वानः पितृणामनृणो भवति।[1]

सन्तान की उत्पत्ति ही लोक में प्रतिष्ठा का कारण है। मनुष्य उत्तम सन्तान को उत्पन्न करता हुआ पितृ-ऋण से उऋण हो जाता है।

प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः।[2]

प्रजनन की तन्तु को—परम्परा को मत तोड़ो।

प्रज्ञा—

प्रज्ञानेत्रो लोकः। प्रज्ञा प्रतिष्ठा। प्रज्ञानं ब्रह्म।[3]

प्रज्ञान ही लोगों को प्रेरित करता है। प्रज्ञान ही सबका आधार है। प्रज्ञान (चैतन्य) ही ब्रह्म है।

प्रज्ञाशरेणाभिहतस्य जन्तो—
श्चिकित्सकाः सन्ति न चौषधानि।[4]

प्रज्ञा के बाण से जो मनुष्य मार दिया जाता है उसके लिये न कोई चिकित्सक होता है और न कोई औषधि ही।

न शोचन्ति कृतप्रज्ञाः पश्यतः परमां गतिम्।[5]

प्रज्ञावान् पुरुष परम गति को देखते हुए किसी बात के लिये शोक नहीं करते हैं।

ये प्रज्ञाबलमारूढास्ते तीर्णा ब्रुडिताः परे।[6]

जिनके पास प्रज्ञा का बल होता है वे तो पार हो जाते हैं पर दूसरे लोग डूब जाते हैं।

---

१ महाना० उ० २२।१
२ तै० उ० १।११।१
३ ऐ० उ० ५।३
४ उद्योग० ३७।५८
५ वन० २१६।२८
६ योगा० स्थिति० ४६।२८

प्रज्ञा प्रतिष्ठा भूतानां प्रज्ञालाभः परो मतः ।[1]

प्रज्ञा प्राणियों की प्रतिष्ठा (आधार) है और प्रज्ञा का लाभ सबसे बड़ा लाभ है ।

प्रज्ञा प्रगल्भं कुरुते मनुष्यम् ।[2]

प्रज्ञा मनुष्य को प्रगल्भ—कार्यकुशल बनाती है ।

प्रज्ञाप्रासादमारुह्य मुच्यन्ते महतो भयात् ।[3]

प्रज्ञा के प्रासाद पर चढ़कर मनुष्य बड़े-बड़े भयों से मुक्त हो जाते हैं ।

यद् बलानां बलं श्रेष्ठं तत् प्रज्ञाबलमुच्यते ।[4]

बलों में जो बल सबसे श्रेष्ठ माना जाता है वह प्रज्ञा ही है ।

प्रज्ञया मानसं हन्याद् दुःखं शारीरमौषधैः ।[5]

प्रज्ञा से मानसिक दुःख को तथा औषधों से शारीरिक दुःख को दूर करना चाहिए ।

कर्मणि व्यज्यते प्रज्ञा ।[6]

कर्म में ही मनुष्यों की प्रज्ञा की अभिव्यक्ति होती है ।

यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किम् ।[7]

जिसके पास अपनी प्रज्ञा नहीं उसे शास्त्र क्या लाभ पहुँचा सकता है ?

---

१ शांति १८०।२
२ शांति० ६८।५८
३ वन० २०८।१८
४ उद्योग० ३७।२५
५ वन० २१६।१७
६ हितो० ३।१२९
७ चा० नी० १०।१

महाबल इवाऽक्षोभ्यः प्रज्ञातृप्तः प्रसीदति ।[1]

प्रज्ञा से परिपूर्ण व्यक्ति महाबलवान के समान अडिग होता है और प्रसन्न रहता है।

प्रतिज्ञा—

लक्षणं हि महत्त्वस्य प्रतिज्ञापरिपालनम् ।[2]

प्रतिज्ञा का पालन करना मनुष्य के महत्त्व का लक्षण है।

मिथ्या प्रतिज्ञां कुरुते को नृशंसतरस्ततः ।[3]

जो झूठी प्रतिज्ञा करता है उससे बढ़कर नीच कौन होगा ?

प्रत्युपकार—

धर्मलोपो महांस्तस्य कृते ह्यप्रतिकुर्वतः ।[4]

जो उपकार करने वाले के प्रति प्रत्युपकार नहीं करता वह महान् अधर्म करता है।

प्रत्युपकुर्वन् बह्वपि न याति पूर्वोपकारिणा तुल्यः ।[5]

बहुत प्रत्युपकार करने पर भी मनुष्य पहले उपकार करने वाले के तुल्य नहीं होता।

नरः प्रत्युपकाराणामापत्स्वायाति पात्रताम् ।[6]

मनुष्य आपत्ति के समय ही प्रत्युपकार का पात्र बनता है।

प्रमाद—

प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि तथाऽप्रमादममृतत्वं ब्रवीमि ।[7]

मैं प्रमाद को ही मृत्यु कहता हूं और अप्रमाद को ही अमरता कहता हूं।

---

१ शांति० २२०।१४
२ ,, ,,
३ वा० रा० ४।३४।८
४ वा० रा० ४।३३।४६
५ शांति० १३८।८२
६ वा० रा० ७। ४०।२२
७ उद्योग० ४२।४

न हि प्रमादात् परमोस्ति कश्चिद् वधो नराणामिह जीवलोके।[1]

इस जीवलोक में प्रमाद से बढ़कर मनुष्यों का कोई बध नहीं है।

उपायमास्थितस्यापि नश्यन्त्यर्थाः प्रमाद्यतः।[2]

उपाय का सहारा लेनेवाले व्यक्ति के भी काम प्रमाद करने के कारण बिगड़ जाते हैं।

अप्रमत्तः सदा भवेत्।[3]

सदा प्रमाद से बचना चाहिये, सावधान रहना चाहिये।

प्रमादात् सर्वभूतानि विनश्यन्ति न संशयः।[4]

प्रमाद करने से सभी प्राणी विनष्ट हो जाते हैं इसमें कोई सन्देह नहीं।

प्रमत्त—

नहि प्रमत्तेन नरेण शक्यं विद्या तपः श्रीर्विपुलं यशो वा।[5]

प्रमादी मनुष्य विद्या, तप, श्री, अथवा विपुल यश कुछ भी नहीं प्राप्त कर सकता है।

प्रयत्न—

स्वभावाद् यत्नमातिष्ठेद् यत्नवान्नावसीदति।[6]

स्वभाव से ही मनुष्य को प्रयत्नशील होना चाहिये। प्रयत्नशील मनुष्य कष्ट नहीं पाता।

धिग् जन्म यत्नरहितम्।[7]

प्रयत्नरहित जन्म को धिक्कार है।

१
२ शि० व० २।१००
३ शांति० १४०।६०
४ प० पु० सृ० १८।३६१
५ सौप्तिक० १०।२८
६ शांति० ३३१।२
७ स्कन्द० वै० २०।९

यत्नवान् सुखमेधते ।[१]

प्रयत्नशील मनुष्य सुखपूर्वक बढ़ता जाता है।

यत्नयुक्तिविहीनस्य गोष्पदं दुस्तरं भवेत् ।[२]

जो व्यक्ति यत्न और युक्ति दोनों से हीन हो उसके लिए गोष्पद (गौ के खुर इतनी जमीन) भी दुष्पार हो जाती है।

यदुपगताः पदमुत्तमं महान्तः प्रयतनकल्पतरोर्महाफलं तत् ।[३]

महान पुरुषों ने जो उत्तम पद प्राप्त किया वह प्रयत्नरूपी कल्पतरु का ही महान फल है।

यत्नेन पुंस्त्वं सफलीकुरुष्व ।[४]

प्रयत्न करके अपने पुरुषजन्म को सफल करो।

यत्नैः शुभैः पुरुषता भवतीह नृणां
दैवं विधानमनुगच्छति कार्यसिद्धिः ।[५]

अच्छे प्रयत्नों के करने से पुरुषों का पुरुषत्व प्रकट होता है पर कार्यसिद्धि तो दैवी विधान के अनुसार ही होती है।

यत्ने कृते यदि न सिध्यति कोऽत्र दोषः ।[६]

यत्न करने पर भी यदि कार्यसिद्धि न हो तो मनुष्य का क्या दोष ?

प्रयोग—

प्रयोगे शिक्षायाः परीक्षा भवति ।[७]

प्रयोग में शिक्षा की परीक्षा होती है।

---

१ —

२ योवा० उप० ७५।५३

३ योवा० उप० ७५।५

४ वि० चू० ४।१२

५ अवि० ३।१२

६ पंच० २।१३७

७ दी० मा०.२।२८

कार्येष्वदृष्टकर्मा यः शास्त्रज्ञोऽपि विमुह्यति ।[१]

कार्यों में जिसने अपने ज्ञान का प्रयोग नहीं किया वह शास्त्रज्ञ होने पर भी अज्ञानी जैसा रहता है।

प्रलाप—

शोकक्षोभे च हृदयं प्रलापैरेव धार्यते ।[२]

शोक से विह्वल होने पर हृदय प्रलाप से ही स्थिर हो पाता है।

बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः ।[३]

उत्तम रूप से शिक्षा प्राप्त किये हुए लोगों का भी अपने विषय में विश्वास नहीं होता।

प्रयोजन—

तृणेनापि प्रयोजनमस्ति किं पुनर्न पाणिपादवता मनुष्येण ।[४]

तृण की भी मनुष्य को जरूरत पड़ती है फिर हाथ-पैर वाले मनुष्य की जरूरत के विषय में क्या कहना ?

प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते ।[५]

गँवार आदमी भी विना प्रयोजन के कोई काम नहीं करता।

प्रवास -

देशान्तरप्रवासेन जितक्लेशो भवति।[६]

विभिन्न स्थानों में प्रवास करने से मनुष्य क्लेश सहन करने का अभ्यासी हो जाता है।

१

२ उत्तर० ३।२९

३ अ० शा० प्र० २

४ सो० नी० ३२।२९

५

६ वा० नी० ३।२

प्रशंसा—

स्तोत्रं कस्य न तुष्टये ।[१]

अपनी प्रशंसा सुनकर किसको प्रसन्नता नहीं होती ।

प्रभवो ह्यात्मनः स्तोत्रं जुगुप्स्यन्त्यपि विश्रुताः ।[२]

महान पुरुष विख्यात होते हुए भी अपनी स्तुति को पसन्द नहीं करते ।

प्रसन्न—

प्रसन्नाकारेषु सर्वोऽपि मुह्यति ।[३]

प्रसन्न मुखमुद्रा वाले पुरुषों पर सब लोग मुग्ध हो जाते हैं ।

प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठति ।[४]

प्रसन्न चित्तवाले पुरुष की बुद्धि शीघ्र ही स्थिर हो जाती है ।

प्रसन्नता—

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।[५]

चित्त के प्रसन्न होने पर मनुष्य के समस्त दुःखों का विनाश हो जाता है ।

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ।[६]

सुख में मैत्री, दुःख में करुणा, पुण्य मे मुदिता और अपुण्य के विषय में उपेक्षा की भावना करने से मनुष्य का चित्त प्रसन्न रहता है ।

---

१ कु० सं० १०।९

२ भाग० ४।१५।२५

३

४ गीता २।६५

५ गीता २।६५

६ पा० यो० १।३

प्राचीन—

पुराणमित्येव न साधु सर्वम्[१]।

केवल पुरानी होने से ही सब चीजें अच्छी नहीं होती।

तातस्य कूपोऽयमिति ब्रुवाणाः
क्षारं जलं कापुरुषाः पिबन्ति।[२]

यह मेरे पिता का कूआ है यह कहते हुए कायर लोग खारा पानी पिया करते हैं।

प्राज्ञ—देखिये—पण्डित

प्राण—

अवश्यं प्राणिनां प्राणा रक्षितव्या यथाबलम्।[३]

प्राणियों के प्राणों की अवश्य ही यथाशक्ति रक्षा करनी चाहिए।

प्राणदानात् परं दानं न भूतं न भविष्यति।[४]

प्राणदान से बढ़कर कोई दान न हुआ है न होगा।

प्राणो हि परमो धर्मः स्थितो देहेषु देहिनाम्।[५]

देहधारियों के देहों में अवस्थित जो प्राण है वही परम धर्म है।

प्राणस्यान्नमिदं सर्वं जगत् स्थावरजङ्गमम्।[६]

यह जो सब स्थावर एवं जंगम जगत है वह प्राण का अन्न है, उपभोग्य है।

नहि प्राणात् परतरं लोके किञ्चन विद्यते।[७]

प्राण से बढ़कर लोक में दूसरी कोई वस्तु श्रेष्ठ नहीं है।

---

१ मालः प्र० २
२
३ वा० रा० ६।९।१४
४ अनु० ११६।३६
५ आश्व०-९।५९
६
७ अनु० ११६।१२

प्रार्थना—

कालप्रयुक्ता खलु कालविद्भिर्विज्ञापना भर्तृषु सिद्धिमेति ।[१]

काल को पहचानने वाले पुरुषों द्वारा समुचित समय पर जो प्रभुओं से निवेदन किया जाता है वही सिद्ध होता है।

प्रिय—

न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति ।[२]

शरीर के रहते हुए मनुष्य प्रिय-अप्रिय के सम्बन्ध से मुक्त नहीं हो सकता।

प्रियो भवति दानेन प्रियवादेन चापरः ।[३]

कुछ लोग दान देने से प्रेम करते हैं और कुछ लोग बोलने से प्रेम करते हैं।

सर्वः कार्यवशाज्जनोऽभिरमते तत् कस्य को वल्लभः ।[४]

सब लोग अपने-अपने कार्यवश हो किसी से प्रेम करते हैं। कौन किसका प्यारा है?

तत् तस्य किमपि द्रव्यं यो हि तस्य प्रियो जनः ।[५]

जो जिसका प्रिय होता है वह उसके लिए कोई अनोखी वस्तु होती है।

यस्य स्वल्पं प्रियं लोके ध्रुवं तस्याल्पमप्रियम् ।[६]

संसार में जिसको प्रिय वस्तुयें अल्प हैं उसे अप्रिय अर्थात् कष्ट भी अल्प होता है।

यस्य यावन्ति प्रियाणि तस्य तावन्ति दुःखानि ।[७]

जिसको जितने प्रिय होते हैं उसे उतने ही दुःख होते हैं।

---

१ बु० सं०
२ छा० उ० ८।१२।१
३ उद्योग० ३९।३
४
५ उ० रा० २।१९
६
७ वि० सू०

अप्रियाण्यपि कुर्वाणो यः प्रियः प्रिय एव सः ।[1]

जो मनुष्य प्रिय होता है वह अप्रिय काम करने पर भी प्रिय ही रहता है।

अमृतं प्रियदर्शनम् ।[2]

प्रिय जनों का दर्शन अमृत के समान सुखद होता है।

सर्वो हि लोको ह्रियते प्रियेण ।[3]

सब लोग प्रिय वस्तु से आकृष्ट हो जाते हैं, खिंच जाते हैं।

प्रियवादी—

करः परः प्रियवादिनाम् ।[4]

प्रिय वचन बोलने वालों से उत्तम और कौन हैं ?

प्रियवादिनो न शत्रुः ।[5]

प्रिय वचन बोलने वाले व्यक्ति के शत्रु नहीं होते।

प्रेम—

अकृत्रिमसुखं प्रेम ।[6]

प्रेम अकृत्रिम सुख है।

पश्यतो जायते प्रीतिर्नास्ति प्रीतिरपश्यतः ।[7]

देखते रहने पर प्रीति होती है, आंखों से ओझल हो जाने पर प्रीति नहीं रहती।

१

२ पंच १।१२१

३ सु० सुधा० १३५।६९

४ चा० नी० ३।१३

५ चा० सू० ६।७२

६ योवा० उ० ६१।२६

७

अनित्यत्वात्तु चित्तानां प्रीतिरल्पेऽपि भिद्यते ।[१]

चित्तों के अनित्य होने के कारण थोड़ी बात के लिए भी प्रीति में फरक पड़ जाता है।

कस्यचिन्नाभिजानामि प्रीतिं निष्कारणामिह ।[२]

किसी के भी प्रेम को मैं निष्कारण नहीं समझता।

वृक्षा अपि प्रेमरसानुविद्धा शृङ्गारचेष्टाकुलिता भवन्ति ।[३]

वृक्ष भी जब प्रेम रस से अनुविद्ध होते हैं तो शृंगारमयी चेष्टाओं से भर जाते हैं।

अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम् । मूकास्वादनवत् ।[४]

प्रेम का स्वरूप उसी प्रकार अनिर्वचनीय होता है जैसा कि गूगों का आस्वादन।

समाने शोभते प्रीतिः ।[५]

समान व्यक्तियों में जो प्रेम होता है वही अच्छा होता है।

हृदयं त्वेव जानाति प्रीतियोगं परस्परम् ।[६]

परस्पर के प्रेमसम्बन्ध को हृदय ही जानता है।

न खलु बहिरुपाधीन् प्रीतयः संश्रयन्ते ।[७]

प्रेम बाहरी उपाधियों के कारण नहीं होता।

वसन्ति हि प्रेम्णि गुणा न वस्तुषु ।[८]

प्रेम में गुण निवास करते हैं, वस्तुओं में नहीं।

---

१ — ५ चा० नी० २।२०

२ शांति० १३८ १५३ — ६ उत्तर० ६।३८

३ योवा० उ० ९०।१४ — ७ उत्तर० ६।१२

४ ना० भ० ५१, ५२ — ८

प्रेम युक्तमितरेतराश्रयम् ।[१]

वही प्रेम उत्तम है जो दोनों में समान रूप से होता है।

बन्धनानि किल सन्ति बहूनि प्रेमरज्जुकृतबन्धनमन्यत् ।[२]

बन्धन बहुत तरह के हैं पर प्रेम की रस्सी का जो बन्धन होता है वह कुछ और ही तरह का है।

प्रेम पश्यति भयान्यपदेऽपि ।[३]

प्रेम को विना भय के स्थान पर भी भय हुआ करता है।

प्रकृष्टस्य प्रेम्णः स्खलितमविषह्यं हि भवति ।[४]

उत्कृष्ट प्रेम का खंडित हो जाना असहनीय होता है।

किमशकनीयं प्रेम्णः ।[५]

प्रेम के लिए क्या अशक्य है ?

दुःखं त्यक्तुं बद्धमूलोऽनुरागः ।[६]

बद्धमूल अनुराग (प्रेम) को छोड़ना बहुत कठिन होता है।

परस्परप्रीतिनिराशयोर्वरं शरीरनाशोऽपि समानुरागयोः ।[७]

समान अनुराग रखनेवाले लोगों का, परस्पर के प्रेम में निराश हो जाने के बाद, मर जाना भी अच्छा होता है।

तत् किं प्रेम यत्र विस्मरणम् ।[८]

वह प्रेम कैसा जिसमें प्रेमी जन एक दूसरे को भूल जाँय।

---

१ किराता० १३।५७
२ चा० नी० १५।१७
३ किराता० ९।७०
४ रत्ना० ३।१५
५ आर्या० कका० १०
६ स्वप्न० ४।६
७ माल० ३।१५
८ पु० प०

भिन्नश्लिष्टा तु या प्रीतिर्न सा स्नेहेन वर्धते ।[1]

जो प्रीति एक बार टूट जाने पर फिर जुड़ती है वह स्नेह से नहीं बढ़ती है।

बल—

स्ववीर्यं बलवत्तरम् ।[2]

अपना बल सबसे बड़ा बल होता है।

अयथाबलमारंभो निदानं क्षयसम्पदः ।[3]

अपने बल से अधिक काम करना क्षय का कारण होता है।

बलवान—

सर्वं बलवतां पथ्यं सर्वं बलवतां शुचि ।[4]

बलवान लोगों के लिए सब अच्छा होता है और सब पवित्र होता है।

वशे बलवतां धर्मः सुखं भोगवतामिव ।[5]

धर्म उसी प्रकार बलवान लोगों के वश में होता है जिस प्रकार सुख भोगविलास वालों के वश में होता है।

ये तु बुद्ध्या हि बलिनस्ते भवन्ति बलीयसः ।[6]

जो बुद्धि से बलवान होते हैं वे अधिक बलवान होते हैं।

बलवन्तो ह्यनियमा नियमा दुर्बलीयसाम् ।[7]

बलवानों के लिए नियम नहीं होते, नियम दुर्बलों के लिए होते हैं।

---

१ पंच० ३।१३१
२ मनु० ११।३२
३ शि० व० २।९४
४ शांति० १३४।८
५ .
६ शांति० १५६।१२
७ आश्व० २२।२३

सर्वं बलवतां धर्मः सर्वं बलवतां स्वकम् ।[१]

बलवानों के लिए सब काम धर्म होता है और उनके लिए दूसरों का भी सब कुछ अपना ही होता है।

बलिना विग्रहो यस्य कुतो राज्यं कुतः सुखम् ।[२]

बलवान के साथ जो लड़ता है उसे सम्पत्ति और सुख कहाँ ?

अहो दुरन्ता बलवद्विरोधिता ।[३]

बलवान लोगों के साथ विरोध करने का परिणाम बड़ा दुःखदायी होता है।

बन्धु—

अबन्धुर्बन्धुतामेति नैकट्याभ्यासयोगात् ।[४]

बार-बार मिलने के सम्बन्ध से अबन्धु भी बन्धु बन जाता है।

यावदर्जयते द्रव्यं तावदेव हि बान्धवाः ।[५]

मनुष्य जब तक द्रव्य कमाता है तभी तक लोग उसके भाई-बन्धु होते हैं।

स्नेहानुबन्धो बन्धूनां मुनेरपि सुदुस्त्यजः ।[६]

भाई-बन्धुओं का स्नेह-सम्बन्ध मुनियों के लिए भी दुस्त्यज होता है।

राजद्वारे श्मशाने च यस्तिष्ठति स बान्धवः ।[७]

राजद्वार और श्मशान में जो साथ रहता है वही बन्धु है।

स बन्धुर्यो विपन्नानामापदुद्धरणक्षमः ।[८]

जो विपत्तिग्रस्त लोगों को विपत्ति से बचाने में समर्थ हो वही बन्धु है।

---

१ आश्व० ३०।२४
२ शांति० १३९।११
३ किराता० १।२३
४ योवा० नि० उ० ६७।२९
५ बृ० ना० ३५।४१
६ भाग० १०।४७।५
७ हि० १।७३
८ हि० १।३१

यावद् द्रव्योपार्जनसक्तस्तावत् निजपरिवारो रक्तः ।[1]

मनुष्य जब तक धन-दौलत कमाने में समर्थ है तभी तक अपने परिवार के लोग प्रेम करते हैं ।

न बन्धुमध्ये धनहीनजीवितम् ।[2]

बन्धुओं के बीच में धनहीन जीवन अच्छा नहीं ।

बहुभाषी—

बहुभाषिणं न श्रद्धधति लोकाः ।[3]

बहुत बोलने वालों पर लोग श्रद्धा नहीं रखते ।

बहुसन्तति—

बहुप्रजा निर्ऋतिमाविवेश ।[4]

बहुत संतति वाला व्यक्ति कष्ट में पड़ जाता है ।

बहुप्रजाः कृच्छ्रमापद्यते ।[5]

अधिक संतानवाला व्यक्ति कष्ट और कठिनाई में पड़ता है ।

बालक—

बालानां क्षुद् बलवती ।[6]

बालकों की भूख बड़ी बलवती होती है ।

बालानां रोदनं बलम् ।[7]

रोना ही बच्चों का बल है ।

---

१ भ० गी० ५
२ पंच० ५।२६
३
४
५
६ आश्व० ९०।६१
७ नी० शा० ६७

बुद्धि —

नहि बुद्ध्या समं किञ्चिद् विद्यते पुरुषे नृप ।[१]

राजन्, मनुष्य में बुद्धि के समान कोई उत्तम चीज नहीं ।

बुद्धिर्बुद्धिमतो याति तृणेष्विव हुताशनः ।[२]

जैसे तृणों में आग फैल जाती है उसी प्रकार बुद्धिमान व्यक्ति को बुद्धि भी ज्ञातव्य विषयों में फैल जाती है ।

बुद्धिश्रेष्ठानि कर्माणि ।[३]

बुद्धि से विचारकर किये हुए कर्म ही श्रेष्ठ होते हैं ।

ये तु बुद्ध्या हि बलिनस्ते भवन्ति बलीयसः ।[४]

जो बुद्धि से बलवान होते हैं वे सबसे बड़े बलवान होते हैं ।

यतो बुद्धिस्ततः शांतिः ।[५]

जहाँ बुद्धि है वहाँ शांति है ।

न बुद्धिर्धनलाभाय न जाड्यमसमृद्धये ।[६]

बुद्धि का फल धनलाभ नहीं होता और मूर्खता का फल दरिद्रता नहीं होती ।

बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्ध्यति ।[७]

बुद्धि ज्ञान से शुद्ध होती है ।

नष्टप्रज्ञः पापमेव नित्यमारभते नरः ।[८]

जिस व्यक्ति की बुद्धि नष्ट हो जाती है वह सदा पाप ही किया करता है ।

---

१ शांति० १५७।१२
२ शांति० १५७।११
३ उद्योग० ३५।७५
४ शांति० १५६।१२
५ सभा० ७३।६५
६ उद्योग० ३८।३३
७ मनु० ५।१०९
८ उद्योग ३५।६२

प्राय समासन्नपराभवाणां धियो विपर्यस्ततरा भवन्ति ।[1]

जिनका पराभव आसन्न होता है उनकी बुद्धि प्रायः विपर्यस्त हो जाती है-उल्टी-पल्टी हो जाती है।

प्रायः समापन्नविपत्तिकाले धियोऽपि पुंसां मलिना भवन्ति ।[2]

विपत्तिकाल के आसन्न होने पर मनुष्यों की बुद्धि मलिन हो जाती है।

बुद्धिर्यस्य गरीयसी स बलवान् स्थूलेषु कः प्रत्ययः ।[3]

जिसकी बुद्धि बड़ी होती है वही बलवान है। केवल शरीर से मोटे लोगों का क्या विश्वास ?

बुद्धयः कुब्जगामिन्यो भवन्ति महतामपि ।[4]

महान लोगों की भी बुद्धि कभी-कभी वक्र हो जाती है—विपरीत हो जाती है।

विवेकानुसारेण हि बुद्धयो मधु निस्यन्दन्ते ।[5]

बुद्धि, विवेक के अनुसार ही मधु देती है, फल देती है।

सर्वं बुद्धौ प्रतिष्ठितम् ।[6]

संसार का सब व्यवहार बुद्धि के उपर ही प्रतिष्ठित है, आधारित है।

बुद्ध्या वै विन्दते महत् ।[7]

बुद्धि से ही मनुष्य महत् तत्त्व को अथवा महान लक्ष्य को प्राप्त करता है।

---

१ सभा० ७६।५

२ हि० १।२८

३ चा० नी० शा० सं० १११४

४

५ का० मी० अ० ४

६ शांति० १४।२४

७ शांति० १९।२६

सा धीर्या मधुरोदारा ।[१]

वही बुद्धि उत्तम है जो मधुर और उदार हो ।

बुद्धिर्यस्य बलं तस्य ।[२]

जिसके पास बुद्धि है उसके पास बल है ।

विद्याया बुद्धिरुत्तमा ।[३]

बुद्धि विद्या से बढ़कर होती है ।

परेङ्गितज्ञानफला हि बुद्धयः ।[४]

दूसरों के इंगितों का ज्ञान हो जाना ही बुद्धि का फल है ।

बुद्धेः फलमनाग्रहः ।[५]

आग्रह न करना बुद्धि का फल है ।

शुद्धा हि बुद्धिः किल कामधेनुः ।[६]

शुद्ध बुद्धि निश्चय ही कामधेनु के समान होती है ।

स्वस्थे चित्ते बुद्धयः संस्फुरन्ति ।[७]

जब चित्त स्वस्थ रहता है तो बुद्धि और स्फुरित होती हैं ।

बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ।[८]

बुद्धि का नाश हो जाने से मनुष्य का नाश हो जाता है ।

जीवत्यर्थदरिद्रोऽपि धीदरिद्रो न जीवति ।[९]

अर्थ से दरिद्र मनुष्य जी सकता है पर बुद्धि से दरिद्र मनुष्य नहीं जीवित रह सकता है ।

---

१ योवा० नि० उ० ६५।६
२ हि० २।१३०
३ पंच० ५।३६
४ पंच० १।४३
५
६
७ स० प० मा० स० ८५
८ भ० गी० २।६३
९ चा० नी० शा० सं ३७१

बुद्धिर्नाम च सर्वत्र मुख्यं मित्रं न पौरुषम् ।[1]

बुद्धि ही सब जगह के लिए मुख्य मित्र है, पौरुष नहीं।

बुद्धिसाध्येषु कार्येषु किं विदध्यात् पराक्रमः ।[2]

जो कार्य बुद्धिसाध्य होते हैं उसके लिए पराक्रम क्या करेगा ?

अनारम्भो हि कार्याणां प्रथमं बुद्धिलक्षणम् ।[3]

कोई काम आरम्भ ही न करना यह बुद्धि की पहली पहचान है।

प्रारब्धस्यान्तगमनं द्वितीयं बुद्धिलक्षणम् ।[4]

काम आरम्भ कर देने पर उसे अन्त तक पूरा करना यह बुद्धि की दूसरी पहचान है।

बुद्धिमान—

कार्याणां कर्मणां पारं यो गच्छति स बुद्धिमान् ।[5]

जो कर्तव्य कार्यों के पार चला जाता है वही बुद्धिमान है।

नित्यं बुद्धिमतामर्थः स्वल्पकोऽपि विवर्धते ।[6]

बुद्धिमान लोगों का छोटा भी काम बराबर बढ़ता ही रहता है।

बुद्धेर्बुद्धिमतां लोके नास्त्यगम्यं हि किञ्चन ।[7]

संसार में बुद्धिमानों की बुद्धि के लिए कुछ भी अगम्य नहीं होता।

दीर्घौ बुद्धिमतो बाहू ।[8]

बुद्धिमानों की बाहें बहुत लम्बी होती हैं।

ये तु बुद्ध्या हि बलिनस्ते भवन्ति बलीयसः ।[9]

जो बुद्धि से बलवान होते हैं वे ही बड़े बलवान हैं।

१
२
३ पंच० ३।१२७
४ पंच० ३।१२७
५ वा० रा० ६।८८।१४
६ शांति० १३९।८८
७
८ शांति० १४०।६८
९ शांति० १५६।१२

चलत्येकेन पादेन तिष्ठत्येकेन बुद्धिमान् ।[१]

बुद्धिमान व्यक्ति एक पैर से चलता है और एक पैर से रुकता है। अर्थात् सोच-विचार कर आगे पैर रखता है।

नास्ति बुद्धिमतां शत्रुः ।[२]

बुद्धिमान् लोगों का कोई शत्रु नहीं होता है।

न खलु धीमतां कश्चिदविषयो नाम ।[३]

कोई ऐसी बात नहीं जो बुद्धिमानों के लिए अज्ञेय हो।

तिर्यक्ष्वपि गतो भावो धीमतां नास्ति दुर्घटः ।[४]

बुद्धिमानों के लिए पशु-पक्षियों के भाव भी दुर्ज्ञेय नहीं होते।

पुरतः कृच्छ्रकालस्य धीमान् जागर्ति पूरुषः ।[५]

बुद्धिमान पुरुष कष्टकर समय के आने के पूर्व ही सावधान हो जाते हैं।

सर्वनाशे समुत्पन्ने अर्धं त्यजति पण्डितः ।[६]

जब सर्वनाश की स्थिति उत्पन्न हो जाती है तो बुद्धिमान पुरुष आधा छोड़ने को तैयार हो जाता है।

कृत्स्नो हि लोको बुद्धिमतामाचार्यः शत्रुश्चाबुद्धिमताम् ।[७]

सब लोग बुद्धिमानों के मित्र तथा बुद्धिहीनों के शत्रु होते हैं।

बुद्धिपूर्वकारिणो हि पुरुषा यावत्प्रशस्तोऽयमिति नावबुध्यन्ते तावन्न प्रवर्तन्ते ।[८]

बुद्धिपूर्वक काम करने वाले पुरुष जब तक यह नहीं समझ लेते हैं कि यह काम अच्छा है तब तक उस काम में नहीं लगते हैं।

---

१ हि० १।१०२
२ चा० सू० ८।१७
३ अ० शा० ४।१७
४ नी० क० २२।१
५ आदि० २३१।१
६ प० त० ५।४१
७ च० सं० वि० ८।१४
८ त० वा० १।२।१

स बुद्धिमान् यो न करोति पापम् ।[१]

वही बुद्धिमान है जो पाप न करे।

सुखात् सुखतरं प्राप्तिमाप्नुते मतिमान्नरः ।[२]

बुद्धिमान पुरुष सुख से सुखतर स्थिति को प्राप्त होता है।

बुभुक्षित—

नास्ति ह्रीरशनार्थिनः ।[३]

भूखे आदमी को लज्जा नहीं होती।

बुभुक्षितः किं न करोति पापम् ।[४]

भूखा आदमी कौन सा पाप नहीं करता ?

बुभुक्षितं न प्रतिभाति किञ्चित् ।[५]

भूखे आदमी को कुछ नहीं सूझता।

बुभुक्षितैर्व्याकरणं न भुज्यते पिपासितैः काव्यरसो न पीयते ।[६]

भूखे लोगों को भूख व्याकरण पढ़ने से नहीं मिटती और प्यासे लोगों की प्यास काव्यरस के पान से नहीं मिटती।

बुधानपि क्षुधा बाधते ।[७]

विद्वानों को भी भूख सताती है।

ब्रह्म—

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ।[८]

ब्रह्म सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप एवं अनन्त है।

---

१ शौ० नी० ५१
२ अनु० १२०।२०
३ शांति० १४१।५१
४ पंच० ४।१६
५
६ भ० सु० सं० ६२१
७ दी० मा० १।१७७
८ तै० उ० २।१

रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।[१]

निश्चय ही वह (ब्रह्म) रसस्वरूप है। रस को ही पाकर यह मनुष्य आनन्दित होता है।

ब्रह्मज्ञानी—

स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति।[२]

वह व्यक्ति जो पर ब्रह्म को जानता है, ब्रह्म ही हो जाता है।

ब्रह्म सर्वं जगद् वस्तु पिण्डमेकमखण्डितम्।[३]

यह जो जगतरूपी एक अखण्डित पिण्डरूप वस्तु है वह सब कुछ ब्रह्म ही है।

य एतद् विदुरमृतास्ते भवन्ति।[४]

जो उस ब्रह्म को जानते हैं वे अमर हो जाते हैं।

नैतद् ब्रह्म त्वरमाणेन लभ्यम्।[५]

यह ब्रह्म जल्दी बाजी करने वाले व्यक्ति को प्राप्त नहीं होता।

तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिह्ममनृतं न माया।[६]

शुद्ध निर्मल ब्रह्मलोक उन्हीं को प्राप्त होता है जिनमें कुटिलता अनृत और माया नहीं होती।

निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः।[७]

जो ब्रह्मज्ञानी जन निर्गुण पथ में विचरण करते हैं उनके लिए क्या विधि है और क्या निषेध है?

---

१ तै० उ० २।७
२ मु० उ० ३।२।९
३ योवा० उ० ६७।३६
४ उद्योग० ४४ ३१
५ उद्योग० ४४।२
६ प्र०-उ० १।१६
७ मु० र० भा० पृ० ३६९

तृणं ब्रह्मविदः स्वर्गम् ।[1]

ब्रह्मवेत्ता पुरुष के लिए स्वर्ग तृण के समान होता है।

आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कदाचन ।[2]

ब्रह्म के आनन्द को जानने वाला पुरुष कभी नहीं डरता।

न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत् ।[3]

वह ब्रह्म ध्रुव है, नित्य है। वह अध्रुव, अनित्य वस्तुओं से प्राप्त नहीं होता।

ब्राह्मण—

वेदैः पश्यन्ति ब्राह्मणाः ।[4]

ब्राह्मण वेदों के द्वारा पाप-पुण्य एवं शुभाशुभ का ज्ञान करते हैं।

मन्त्रज्येष्ठा द्विजातयः ।[5]

ब्राह्मण वेदमन्त्रों के ज्ञान के कारण ज्येष्ठ माने जाते हैं।

ब्राह्मणस्याश्रुतं मलम् [6]

श्रुति (वेद) का ज्ञान न होना ब्राह्मण का महान दोष है।

अदान्तो ब्राह्मणोऽसाधुः ।[7]

इन्द्रियनिग्रह न रखने वाला ब्राह्मण असाधु होता है, अधम होता है।

तपः श्रुतं च योनिश्चाप्येतद् ब्राह्मणकारणम् ।[8]

तपस्या, ज्ञान एवं योनि ये तीनों ही ब्राह्मण होने के कारण हैं।

---

१ चा० नी० ५।१४
२ तै० उ० २।४
३ क० उ० १।२।१०
४ उद्योग० ३४।३४
५ उद्योग० १६८।१७
६ कर्ण० ४५।२३
७ सौप्तिक० ३।२०
८ अनु० १२१।७

ध्रुवं वै ब्राह्मणे सत्यम् ।[1]

ब्राह्मण में सचाई होना निश्चित है।

भक्त—

भक्तत्यागं प्राहुरत्यन्तपापम् ।[2]

अपने भक्त के त्याग को बहुत बड़ा पाप माना जाता है।

भय—

द्वितीयाद्वै भयं भवति ।[3]

दूसरे से भय होता है (जो आत्मस्वरूप ही है उससे क्या भय होगा?)

यदा ह्येवैष एतस्मिन् उदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति ।[4]

जब मनुष्य इस आत्मा में (जो समस्त प्राणियों में एक ही है) थोड़ा भी भेद करता है तो उसे भय उत्पन्न होता है।

भये सर्वे हि बिभ्यति ।[5]

भय का कारण उपस्थित होने पर सब लोग भयभीत होते हैं।

येन क्षराक्षरे वित्ते भयं तस्य न विद्यते ।[6]

जिसने विनाशी एवं अविनाशी दोनों तत्वों को जान लिया उसे भय नहीं होता।

नाऽभीतः पुरुषः कश्चित् समये व्यवतिष्ठते ।[7]

विना भय के कोई पुरुष अपने कर्तव्य या बात पर स्थिर नहीं रहता।

---

१ द्रोण० ७६।२५
२ महाप्रस्थान० ३।११
३ तै० उ० १।४।२
४ तै० उ० २।७
५ वा०रा० ४।८।३५
६ शांति० ३०९।४७
७ शांति० १५।१४

भवितव्य—

भवितव्यं भवत्येव कर्मणामीदृशी गतिः ।[1]

जो भवितव्य होता है, वह अवश्य होता है, कर्मों की ऐसी गति ही है।

यद्भावि न तद्भावि भावि चेन्न तदन्यथा ।[2]

जो नहीं होनेवाला है वह नहीं होगा और जो होने वाला है उसे कोई टाल नहीं सकता।

भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र ।[3]

जो होनहार होता है उसके लिए सब जगह द्वार खुले होते हैं।

अवश्यंभाविनो भावा भवन्ति महतामपि ।[4]

जो अवश्य भवितव्य होता है वह बड़े लोगों के साथ भी होता है।

नहि भवति यन्न भाव्यं भवति च भाव्यं विनापि यत्नेन ।[5]

जो होगहार नहीं होता वह नहीं होता है और जो होनहार होता वह बिना प्रयत्न के भी हो जाता है।

सहायास्तादृशा एव यादृशी भवितव्यता ।[6]

जैसी भवितव्यता (होनहार) होती है वैसे ही सहायक मिल जाते हैं।

यद् भावि तद् भवति नात्र विचारहेतुः ।[7]

जो होने वाला है वह होकर ही रहेगा, इस विषय में विचार करने का कोई कारण नहीं।

---

१ सु० र० भा० पृ० ९१
२ हि० ४।१०
३ अ० शा० १।१३
४ हि० प्र० २९
५ पंच० २।१२८
६ चा० नी० ३।५१
७ पंच० १।३७६

भविष्णु (होनहार)—

भवति च मतिः श्लाघ्ये कृत्ये नरस्य भविष्यतः ।[१]

जो मनुष्य होनहार होता है उसकी बुद्धि अच्छे कामों में लगा करती है।

भविष्य—

परिमितं वै भूतम् । अपरिमितं भव्यम् ।[२]

भूत परिमित है और भविष्य अपरिमित है।

नहि श्वः श्व उपासीत । को हि मनुष्यस्य श्वो वेद ।[३]

"कल कल" कहते हुए नहीं बैठे रहना चाहिए। मनुष्य के कल को कौन जानता है। अर्थात् "यह काम कल होगा कल होगा" ऐसा कहते हुए समय नहीं बिताना चाहिए।

यद्भविष्यो विनश्यति ।[४]

"जैसा होने वाला होगा वैसा होगा" इस प्रकार सोचने वाला व्यक्ति विनष्ट हो जाता है।

भाग्य—

आस्ते भग आसीनस्य ऊर्ध्वं तिष्ठति तिष्ठतः ।[५]

बैठे रहने वाले व्यक्ति का भाग्य बैठा रहता है और उठकर खड़े होने वाले व्यक्ति का भाग्य भी उठ खड़ा होता है।

चराति चरतो भगः ।[६]

चलनेवाले का भाग्य चलता रहता है।

---

१ पंच० ३।१८१
२ ऐ० ब्रा० ४।६
३ निरुक्त०
४ हि० ४।६
५ ऐ० ब्रा० ३३।३
६ ऐ० ब्रा० ३३।३

भाग्यं फलति सर्वत्र न विद्या न च पौरुषम् ।[1]

भाग्य ही सर्वत्र फल देता है, विद्या और पौरुष नहीं ।

भाग्यक्रमेण हि धनानि भवन्ति यान्ति ।[2]

धन-सम्पत्तियाँ भाग्य के अनुसार आती हैं और जाती हैं ।

कालक्रमेण जगतः परिवर्तमाना
चक्रारपंक्तिरिव गच्छति भाग्यपंक्तिः ।[3]

चक्के के आरे के समान भाग्य की पंक्ति (ऊपर-नीचे) होती रहती है ।

यद् धात्रा लिखितं ललाटफलके तन्मार्जितुं कः क्षमः ।[4]

जो विधाता ने ललाट में लिख दिया है उसे कौन मिटा सकता है ?

स्थानान्तरितानि भाग्यानि ।[5]

मनुष्य का भाग्य भिन्न-भिन्न स्थानों पर फलता है, एक ही स्थान पर नहीं ।

नाऽभागधेयः प्राप्नोति धनं सुबलवानपि ।[6]

अच्छा बलवान् भी बिना भाग्य के धन नहीं पाता ।

भाग्यानि पूर्वतपसा खलु सञ्चितानि
काले फलन्ति पुरुषस्य समीहितानि ।[7]

पूर्वजन्म की तपस्या से संचित जो भाग्य होता है वही समय आने पर पुरुषों की कामनाओं को फलीभूत करता है ।

---

१ सु० र० भा० पृ० ९१
२
३ स्वप्न० १।४
४ भ० नी० ९४
५ क० र०
६ अनु० १६३।१
७ सु० सु० ३१।२४

देखिये—दैव

भाग्यवान—

भाग्यवन्तं प्रसूयेथा मा शूरं मा च पण्डितम् ।[१]

भाग्यवान को उत्पन्न करना शूर और पण्डित को नहीं।

क्व भोगमाप्नोति न भाग्यवान् जनः ।[२]

भाग्यवान व्यक्ति को कहाँ नहीं सुखभोग प्राप्त होता है?

चाण्डालो वा द्विजो वापि भाग्यवानेव पूज्यते ।[३]

चाण्डाल हो या ब्राह्मण जो भाग्यवान होता है वही पूजित होता है, आदर पाता है।

भाग्यहीन—

प्रायो गच्छति यत्र भाग्यरहितस्तत्रैव यान्त्यापदः ।[४]

भाग्यहीन व्यक्ति जहीं जाता है वहीं आपत्तियाँ चली जाती हैं।

अभव्य एव निर्दोषं प्राप्तमर्थमुपेक्षते ।[५]

कोई अभागा व्यक्ति ही निर्दोष रूप से प्राप्त अर्थ की उपेक्षा करता है।

भार—

स भारः सौम्य भर्तव्यो यो नरं नाऽवसादयेत् ।[६]

सौम्य, वही भार ढोना चाहिये जो मनुष्य को गिरा न दे।

कोऽतिभारः समर्थानाम् ।[७]

समर्थ व्यक्ति के लिए क्या अधिक भार है?

---

१ सु० भा० र० पृ० ९०
२
३ वृ० ना० ११।१४६
४ भ० नी० ९१
५ उत्पत्ति० ७७।२३
६ वा० रा० ५०।२७
७ पंच० २।५६

अतिभारः पुरुषमवसादयति ।[१]

अत्यधिक भार पुरुष को गिरा देता है।

भार्या—

नास्ति भार्यासमो बन्धुर्नास्ति भार्यासमा गतिः ।[२]

न तो भार्या के समान कोई बन्धु है और न भार्या के समान कोई साधन है।

धर्मार्थकामकालेषु भार्या पुंसः सहायिनी ।[३]

धर्म, अर्थ एवं काम के साधन के समय भार्या पुरुष की सहायक होती है।

नास्ति भार्यासमं किञ्चिन्नरस्यार्तस्य भेषजम् ।[४]

आर्त मनुष्य के लिए भार्या के समान कोई औषध नहीं।

भार्याहीनं गृहस्थस्य शून्यमेव गृहं मतम् ।[५]

गृहस्थ का भार्याहीन गृह शून्य ही माना जाता है।

अर्धं भार्या मनुष्यस्य भार्या श्रेष्ठतमः सखा ।[६]

भार्या मनुष्य का आधा भाग है और भार्या श्रेष्ठतम मित्र है।

भार्या मूलं त्रिवर्गस्य भार्या मूलं तरिष्यतः ।[७]

भार्या त्रिवर्ग का मूल है और भार्या संकटों को पार करने के इच्छुक व्यक्ति के लिए प्रधान साधन है।

भार्यावन्तः प्रमोदन्ते भार्यावन्तः क्रियान्विताः ।[८]

भार्यावाले ही पुरुष प्रमुदित रहते हैं और वे ही क्रियाशील भी होते हैं।

---

१ चा० सू० २।५४
२ शांति० १४४।१६
३ शांति० १४४।१६
४ शांति० १४४।१२
५ शांति० १४४।५
६ आदि० ७४
७ आदि० ७४।४१
८ आदि० ७४।४२

भार्या दैवकृतः सखा ।[1]

भार्या दैव का बनाया हुआ सखा है, साथी है।

भार्या मित्रं गृहेषु च ।[2]

घर में रहने वाले व्यक्ति अर्थात् गृहस्थ के लिए उसकी भार्या ही मित्र होती है।

सा किं भार्या या अर्थेन प्रणयिनी ।[3]

वह कैसी भार्या जो अर्थ के कारण प्रेम करे ?

देखिये—नारी, स्त्री ।

भाव—

भावशुद्धिः परं शौचं प्रमाणं सर्वकर्मसु ।[4]

भावशुद्धि मनुष्य की सबसे बड़ा पवित्रता है और सब कर्मों की पवित्रता का प्रमाण है।

भावशुद्धिविहीनानां समस्तं कर्म निष्फलम् ।[5]

जो व्यक्ति भावशुद्धि से विहीन होता है उसका सब पुण्य कार्य निष्फल होता है।

भावे हि विद्यते देवस्तस्माद् भावो हि कारणम् ।[6]

भाव में देवता निवास करते हैं अतः भाव ही (उत्तम) साधन है।

भावी—देखिये "भवितव्य"

भावना—

यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी ।[7]

जिसको जैसी भावना होती है उसे वैसी ही सिद्धि प्राप्त होती है।

---

१ वन० ३१३।७२
२ चा० नी० २।१५
३ सो० नी० २७।९
४ पद्म० भूमि० ६६।६८
५ वृ० ना० ३१।१०३
६ चा० नी० ८।११
७ पंच० ५।९६

यादृगिच्छेच्च भवितुं तादृग् भवति पूरुषः ।[1]

मनुष्य जैसा होना चाहता है वैसा हो जाता है।

भाषण—

अर्थवच्च विचित्रं च न शक्यं बहु भाषितुम् ।[2]

जो सारगर्भित भी हो और चमत्कारपूर्ण भी हो ऐसा अधिक भाषण करना सम्भव नहीं।

देशमाख्याति भाषणम् ।[3]

मनुष्य की भाषा उसके देश को बतलाती है।

भिन्न (आपसी फूटवाले)—

स्वास्तीर्णानि शयनानि प्रपन्ना न वै भिन्ना जातु निद्रां लभन्ते ।[4]

जिन लोगों में फूट हो जाती है उन्हें अच्छी तरह विछाये हुए विछौने पर भी नींद नहीं आती।

न वै भिन्ना जातु चरन्ति धर्मं न वै सुखं प्राप्नुवन्तीह भिन्नाः ।[5]

आपस में फूटवाले लोगों के घर धार्मिक क्रियाएँ नहीं होती है और वे लोग सुखी भी नहीं रहते हैं।

न वै भिन्ना गौरवं प्राप्नुवन्ति न वै भिन्नाः प्रशमं रोचयन्ति ।[6]

आपसी फूटवाले लोगों का गौरव नहीं होता और उन्हें शांति से रहना भी अच्छा नहीं लगता।

---

१ योवा० नि० उ० १५७।३१
२ उद्योग० ३४।७७
३ चा० नी० ३।२
४ उद्योग० ३६।५५
५ ,, ३६।५६
६ ,, ३६।५६

न वै तेषां स्वदते पथ्यमुक्तं योगक्षेमं कल्पते नैव तेषाम् ।[1]

फूटवालों को हितकर बात भी कहने पर अच्छी नहीं लगती और उनका योगक्षेम भी ठीक तरह से नहीं चलता ।

भिन्नानां वै मनुजेन्द्र परायणं न विद्यते किञ्चिदन्यद् विनाशात् ।[2]

फूटवालों का अन्तिम परिणाम विनाश से भिन्न और कुछ नहीं होता ।

भृत्य—

शुचिर्दक्षोऽनुरक्तश्च भृत्यः खलु सुदुर्लभः ।[3]

ईमानदार, दक्ष एवं अनुरागी भृत्य बहुत दुर्लभ होता है ।

स्वस्वामिना बलवता भृत्यो भवति गर्वितः ।[4]

जब अपना स्वामी बलवान होता है तो भृत्य गर्वीला हो जाता है ।

स्वामिनो गुणदोषाभ्यां भृत्याः स्युर्नात्र संशयः ।[5]

स्वामी के ही गुण-दोष से भृत्य भी गुणी और दोषी हो जाते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं ।

पीडयन् भृत्यवर्गं हि आत्मानमपकर्षति ।[6]

जो स्वामी भृत्यवर्ग को कष्ट पहुँचाता है वह अपनी ही हानि करता है ।

भीरु—

भीरुः सर्वत्र हन्यते ।[7]

भीरु मनुष्य सब जगह मारा जाता है, सब जगह असफल होता है ।

---

१ उद्योग० ३६।५७
२ ,, ३६।५७
३ हि० ३।१४८
४ चा० नी० शा० सं० ११७९
५ स्त्री० ८।३३
६ अनु० ३७।३
७ श० र० श० ४८

भोग—

परिज्ञायोपभुक्तो हि भोगः भवति तुष्टये ।[1]

जो भोग अच्छी तरह समझकर किया जाता है वही तुष्टिकर होता है।

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः ।[2]

हमलोगों ने भोगों को नहीं अपितु भोगों ने ही हमलोगों को भोगा।

शुभाशुभं च यत् कर्म विना भोगान्न च क्षयः ।

शुभाशुभ कर्मों का बिना भोग किये क्षय नहीं होता।

भोगे रोगभयम् ।[3]

भोग में रोग का भय बना रहता है।

भोगवान—

स विभक्ता च दाता च भोगवान् सुखवान् नरः ।[4]

जो मनुष्य सबको बाँटकर और दानकर धन का भोग करता है वह सुखी रहता है।

भोजन—

सर्वेषु सौख्येष्वशनं प्रधानम् ।[5]

सभी सुखों में भोजन प्रधान सुख है।

कदन्नता चोष्णतया विराजते ।[6]

खराब भी भोजन यदि गर्म रहता है तो अच्छा लगता है।

वपुराख्याति भोजनम् ।[7]

मनुष्य का शरीर ही उसके भोजन बतलाता है।

---

१ योवा०
२ वै० श० १२
३ ब्र० वै० क० ८५।४०
४ वै० श० ३३
५ वन० २५९।२४
६ चा० नी० ९।४
७ चा० नी० ९।१४
८ चा० नी० ३।२

सर्वारम्भास्तण्डुलप्रस्थमूलाः ।[१]

एक सेर चावल होने के बाद ही सब काम होते हैं।

अजीर्णे भोजनं विषम् ।[२]

अजीर्ण अवस्था में किया हुआ भोजन विष तुल्य होता है।

बुभुक्षाकालो भोजनकालः ।[३]

भूख लगने का समय ही भोजन करने का समय है।

फलशाकमपि श्रेयो भोक्तुं ह्यकृपणं गृहे ।[४]

विना याचना के घर में फल और साग खा लेना भी श्रेयस्कर है।

काले शुद्धाऽल्पभोजनम् ।[५]

समय पर शुद्ध एवं अल्प भोजन करना उत्तम होता है।

सायं प्रातर्मनुष्याणां भोजनं वेदनिर्मितम् ।[६]

मनुष्यों के लिए केवल प्रात एवं सायं (दो बार) का ही भोजन वेद सम्मत हैं।

नाभोजनेन कायाग्निर्दीप्यते नातिभोजनात् ।[७]

मनुष्य की जठराग्नि भोजन न करने से भी दीप्त नहीं होती और अधिक भोजन करने से भी दीप्त नहीं होती।

कुभोज्येन दिनं नष्टम् ।[८]

खराब भोजन मिलने से पूरा दिन ही खराब हो जाता है।

---

१ सु० र० भा० पृ० ९६
२ चा० नी० ४।१५
३ सो० नी० २५।२९
४ वन० १९३।२९
५ मनु० ११।२४४ वें श्लोक में प्रक्षिप्त
६ शान्ति० १७३।१०
७ च० सं०
८ चा० नी० शा० सं० १३७७

भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ।[१]

जो लोग केवल अपने लिए ही भोजन बनाते हैं और स्वयं ही अकेले खाते हैं वे अन्न नहीं खाते पाप खाते हैं।

अनारोग्यमनायुष्यम् अस्वर्ग्यं चाऽतिभोजनम् ।[२]

अतिभोजन आरोग्यनाशक, आयुनाशक तथा स्वर्गप्राप्ति में बाधक होता है।

पूजितं ह्यशनं नित्यं बलमूर्ज्जं च यच्छति ।[३]

प्रेम और सराहना के साथ किया हुआ भोजन सदा ही बल और ऊर्जा प्रदान करता है।

अनैक्षवमगव्यं च भोजनं मृतभोजनम् ।[४]

बिना गुड़ और बिना गोरस का भोजन मृतभोजन है, अधम भोजन है।

बिना गोरसं को रसो भोजनानाम् ।[५]

बिना गोरस के भोजन का रस कैसा ?

यात्रार्थमन्नमाद्यात् व्याधितो भेषजं यथा ।[६]

जैसे रोगी व्यक्ति थोड़ी सी औषधि खाता है उसी प्रकार मनुष्यों को जीवनयात्रा के लिए उपयोगी थोड़ा सा ही अन्न खाना चाहिये।

भोजनस्यादरो रसः ।[७]

भोजन का रस आदर है। अर्थात् आदर के साथ जो भोजन मिलता है वही रसयुक्त है।

---

१ गीता० ३।१३
२ मनु० २।५१
३ मनु० २।५५
४ गन्धर्वतन्त्र० ३४।४
५ वै० सु० सा० पृ० ८५
६
७ प्रि० नृ० ९३

केवलाघो भवति केवलादी ।[1]

केवल अपने ही भोजन करनेवाला व्यक्ति केवल पाप का भागी होता है।

भ्राता—

यथैवाऽत्मा तथा भ्राता न विशेषोऽस्ति कश्चन ।[2]

जैसे अपनी आत्मा है वैसे ही अपना भाई भी है। अपने और भाई में कोई भेद नहीं।

मद्यपान—

एकतः सर्वपापानि मद्यपानं तथैकतः ।[3]

एक ओर सब पाप हैं और एक ओर केवल मद्यपान है।

पानादर्थश्च कामश्च धर्मश्च परिहीयते ।[4]

मद्यपान से अर्थ, काम और धर्म सब कुछ नष्ट हो जाता है।

मद्यपाः किं न जल्पन्ति ।[5]

मद्य (शराब) पीने वाले क्या-क्या नहीं बकते हैं।

मधुर—

तस्य तदेव हि मधुरं यस्य मनो यत्र संलगति ।[6]

उसके लिए वही वस्तु मधुर है जिसका मन जिसमें लगता है।

मति—

मतिरेव बलाद् गरीयसी ।[7]

बुद्धि ही बल से भी श्रेष्ठ होती है।

---

१ ऋग्० १०।११७।६
२ स्त्री० १५।१५
३
४ वा० रा० ४।३३।४६
५ चा० नी० १०।४
६ सु० र० भा० पृ० १७०
७ हि० २।९२

मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना ।[1]

मुण्ड-मुण्ड में मति भिन्न होती है।

गर्ते मत्तः प्रपतति प्रमत्तः स्थाणुमृच्छति ।[2]

मतवाला आदमी गड्ढे में गिरता है और मतवाला आदमी पेड़ से जाकर टकराता है।

या मतिः सा गतिर्भवेत् ।[3]

मनुष्यों की जैसी मति होती है वैसी ही उनकी गति भी होती है।

मध्यवर्ती—

मध्यमः क्लिश्यते जनः ।[4]

मध्यम वर्ग के लोग या मध्यम स्थिति के लोग क्लेश पाया करते हैं।

क्लिश्यत्यन्तरितो जनः ।[5]

निम्न एवं उच्चकोटि के बीच में रहनेवाला व्यक्ति क्लेशभागी होता है।

मन—

यद् वा अहं किंचन मनसा धारयति तथैव तद् भविष्यामि ।[6]

जिसे मैं मनसे जैसा समझता हूँ वह वैसा ही होगा।

अद्भिर्गात्राणि शुद्ध्यन्ति मनः सत्येन शुद्ध्यति ।[7]

शरीर के अन्य अंग पानी से शुद्ध होते हैं और मन सत्य से शुद्ध होता है।

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।[8]

मन ही मनुष्यों के बन्धन एवं मोक्ष का कारण होता है।

---

१ चा० नी० शा० सं० १७९७
२ सभा० ६५।१९
३ अ० गी० १।११
४ शांति० २५।२८
५ भाग० ३।७।१७
६ गो० ब्रा० १।१।९
७ मनु० ५।१०९
८ मै० आ० ६।३४।११

मन एव सम्राट् ।[१]

मन ही सम्राट् है, बादशाह है।

अनन्तं वै मनः ।[२]

मन अनन्त प्रकार का होता है।

मनो हि जगतां कर्तृ मनो हि पुरुषः परः ।[३]

मन ही जगत का स्रष्टा है और मन ही परम पुरुष है।

मनोज्ञया मनोवृत्या सुखतो याति रौरवम् ।[४]

मनोवृत्ति के उत्तम होने से रौरव भी सुखमय हो जाता है।

मनः कर्तृ मनो भोक्तृ मानसं विद्धि मानवम् ।[५]

मन ही कर्ता है और मन ही भोक्ता है तथा मन से ही मानव बना हुआ है।

पूर्णे मनसि सम्पूर्णं जगत् सर्वं सुधाद्रवैः ।[६]

जब मन पूर्ण हो जाता है तो सम्पूर्ण जगत् अमृतरस से परिपूर्ण हो जाता है।

अशान्तस्य मनो भारो भारोऽनात्मविदो वपुः ।[७]

अशान्त मनुष्य का मन भार होता है और जिसे आत्मज्ञान नहीं उसका शरीर भार हो जाता है।

तद् वै दैवं मनो येनानन्द्येव भवति, अथो न शोचति ।[८]

वह दैव (दैव-गुण सम्पन्न) मन है जिससे मनुष्य आनन्दित रहता है और शोक नहीं करता।

---

१ वृ० उ० ४।१।६
२ वृ० उ० ३।१।९
३ योवा० उप० ८९।११
४ योवा० उप० ११०।२३
५ योवा० उप० ११५।२४
६ योवा० स्थि० २१।१४
७ महो० ३।१५
८ वृ० उ० १।५।१९

मनः शीघ्रतरं वातात् ।[१]

मन वायु से भी बढ़कर शीघ्रगामी होता है।

मनसैकेन योद्धव्यम् ।[२]

(लड़ना हो तो) एकमात्र मन से ही लड़ना चाहिये।

आत्मनैकेन योद्धव्यम् ।[३]

एकमात्र अपने से ही लड़ना चाहिये।

मानसेन हि दुःखेन शारीरमुपतप्यते ।[४]

मन के दुःखी होने से शरीर भी दुःखी होता है।

मनो जित्वा ध्रुवो जयः ।[५]

मन को जीत लेने पर मनुष्य का सर्वत्र विजय सुनिश्चित है।

मनसश्चेन्द्रियाणां चाऽप्यैकाग्र्यं परमं तपः ।[६]

मन और इन्द्रियों का एकाग्र हो जाना सबसे बड़ा तप है।

मनसो निग्रहो नास्ति वृथा कायस्य मुण्डनम् ।[७]

यदि मन पर निग्रह नहीं तो काय का मुण्डन बेकार है।

बद्धेन मनसा बद्धो मुक्तो मुक्तेन चेतसा ।[८]

विषयों से मन के बद्ध हो जाने पर मनुष्य बद्ध हो जाता है और मुक्त हो जाने पर मनुष्य मुक्त हो जाता है।

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं परम् ।[९]

महाबाहु, मन बहुत कठिनाई से पकड़ में आता है इसमें कोई सन्देह नहीं।

---

१ वन० ३१।६०
२ आश्व० १२।१३
३ आश्व० १२।१४
४ वन० २।२५
५ आश्व० ३०।५
६ शांति० २५०।४
७
८ बोधसार० ६२।३
९ गीता० ६।३५

मन एव सदा बन्धुर्मन एव सदा रिपुः ।[१]

मन ही मनुष्य का शाश्वत बन्धु है और मन ही मनुष्य का शाश्वत शत्रु है।

मनसा तारिताः केचिन्मनसा पातिताश्च के ।[२]

मन ने ही कुछ लोगों को तार दिया और मन ने ही कुछ लोगों को डुबा दिया है।

अभिन्नेष्वपि कार्येषु भिद्यते मनसः क्रिया ।[३]

कार्यों में भेद न होने पर भी मन की क्रिया भिन्न-भिन्न हो जाती है।

मनसि व्याकुले चक्षुः पश्यन्नपि न पश्यति ।[४]

मन के व्याकुल होने पर नेत्र देखता हुआ भी नहीं देखता है।

यद् बद्धपीठमभितो मनसि प्ररूढं,
तद्रूपमेव पुरुषो भवतीह नाऽन्यत् ।[५]

जिस मनुष्य के मन में जो बात बद्धमूल और प्ररूढ़ हो जाती है वह मनुष्य उसी रूप का हो जाता है।

निर्मलं न मनो यावत् तावत् सर्वं निरर्थकम् ।[६]

मनुष्य का मन जब तक निर्मल न हो तब तक पूजा-पाठ आदि सब धर्मकार्य निरर्थक है।

नानाभावं मनो यस्य तस्य मुक्तिर्न विद्यते ।[७]

जिसका मन नाना भावों में विचरण करता है उसकी मुक्ति नहीं होती।

---

१ पद्म०
२ ,,
३ ,,
४ शान्ति० ३११।१८
५ योग० उ० ८८।२१
६ दे० भा०
७ ज्ञा० सं० ८४

मनः परं कारणमामनन्ति,
संसारचक्रं परिवर्तयेद् यत् ।[१]

संसार-चक्र को चलाने का मुख्य कारण मन ही माना जाता है।

दु खिते मनसि सर्वमसह्यम् ।[२]

मन के दुःखी होने पर सब कुछ असह्य हो जाता है।

मनो हि जन्मान्तरसङ्गतिज्ञम् ।[३]

मन मनुष्य के जन्मान्तर के भी सम्बन्ध को जानता है।

क इप्सितार्थस्थिरनिश्चयं मनः
पयश्च निम्नाभिमुखं प्रतीपयेत् ।[४]

अपने अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति के लिए स्थिर निश्चय वाले मन को तथा नीचे की ओर बहते हुए पानी को कौन बदल सकता है ?

मनन—

नाऽमत्वा विजानाति, मत्वैव विजानाति ।[५]

विना मनन किये मनुष्य को ज्ञान नहीं होता, मनन करने से ही ज्ञान होता है।

मनस्वी—

मनस्वी कार्यार्थी गणयति न दुःखं न च सुखम् ।[६]

काम करनेवाला मनस्वी व्यक्ति न दुःख की परवाह करता है न सुख की।

मनस्वी म्रियते कामं कार्पण्यं तु न गच्छति ।[७]

मनस्वी व्यक्ति भले ही मर जाता है पर दीन बन कर नहीं रहता।

---

१ भाग० ११।२३।४३
२ किरात० ९।३०
३ रघु० ७।१५
४ कु० सं० ५।५
५ छा० उ० १७।१
६ भ० नी० ७३
७ हि० १।१३१

मनुष्य—

गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि न मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित् ।[1]

मैं यह बहुत ही रहस्यपूर्ण बात बतला रहा हूँ कि संसार में मनुष्य से बढ़कर कोई वस्तु श्रेष्ठ नहीं है।

अहो नृजन्माखिलजन्मशोभनम् ।[2]

अहो, मनुष्य का जन्म सभी जीवों के जन्म से सुन्दर है, उत्तम है।

मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुषसंश्रयः ।[3]

मनुष्य होना, उसमें भी मुक्ति की इच्छा करना तथा महापुरुषों की संगति करना यह तीनों दुर्लभ बातें हैं।

मनोरथ—

मनोरथानां न समाप्तिरस्ति ।[4]

मनोरथों की समाप्ति नहीं है, अन्त नहीं है।

मनोरथानामतटाः प्रवाहाः ।[5]

मनोरथों का प्रवाह विना तट के, चारों ओर स्वेच्छया वहता रहता है।

पूर्णेषु पूर्णेषु मनोरथानामुत्पत्तयः सन्ति पुनर्नवानाम् ।[6]

मनोरथों के पूर्ण होने पर भी नये-नये मनोरथों की उत्पत्ति होती रहती है।

मनोरथानामगतिर्न विद्यते ।[7]

मनोरथों की गति में कहीं भी पहुँचने में कोई बाधा नहीं होती।

निस्वो वष्टि शतं शती दशशतं लक्षं सहस्राधिपः ।[8]

विना रुपया वाला सौ रुपया चाहता है और सौ रुपया वाला दस सौ चाहता है और दस सौ वाला एक लाख चाहता है।

---

१ शांति० २९९।२०
२ भाग० ५।१३।२१
३ वि० चू० ३
४ विष्णु० ४।२।११६
५ अ० शा० ६।१०
६ विष्णु० ४।२।५६
७ कु० सं० ४।६४
८ अ० र० ८

मन्त्र—

षट्कर्णो भिद्यते मन्त्रः ।[1]

जो मन्त्र (सलाह) छ कानों तक पहुँच जाता है वह टूट जाता है, गुप्त नहीं रह पाता ।

ममता—

ममेति च भवेन्मृत्युर्न ममेति च शाश्वतम् ।[2]

"मम" ऐसा समझना ही मृत्यु है और "न मम' ऐसा समझना ही मोक्ष है ।

ममता यस्य द्रव्येषु मृत्योरास्ये स वर्तते ।[3]

सांसारिक पदार्थों में जिसकी ममता है वह मृत्यु के मुँह में है ।

ममत्वं यस्य नैव स्यात् किं तत् तस्य करिष्यति ।[4]

जिस वस्तु में मनुष्य की ममता न हो वह उसका क्या कर सकता है ?

मरण—

सहैव मृत्युर्व्रजति सह मृत्युर्निषीदति ।[5]

मनुष्य के साथ ही मृत्यु चलती है और मनुष्य के साथ ही बैठती है ।

मृत्युर्जन्मवतां वीर देहेन सह जायते ।[6]

प्राणियों के जन्म के साथ ही मृत्यु भी पैदा होती है ।

मृत्युर्बुद्धिमतापोह्यो यावत् बुद्धिबलोदयम् ।[7]

बुद्धिमान् को चाहिए कि वह बुद्धि और बल के द्वारा मृत्यु से बचे ।

आसन्नतरतामेति जन्तोर्मृत्युर्दिने दिने ।[8]

मृत्यु दिन-प्रतिदिन मनुष्य के अधिक निकट होती जाती है ।

---

१ हितो० ३।४१
२ आश्व० १३।३
३ आश्व० १३।७
४
५ वा० रा० २।१०६।२२
६ भाग० १०।१।३८
७ भाग० १०।१।४८
८ हितो० ४।६८

सर्वं जिह्मं मृत्युपदम् आर्जवं ब्रह्मणः पदम् ।[१]

सब प्रकार का छल-कपट मृत्यु का स्थान है और सरलता ब्रह्म का, मोक्ष का स्थान है।

मरणान्तानि वैराणि ।[२]

मरण के बाद आपसी वैर की समाप्ति हो जाती है।

ध्रुवं ह्यकाले मरणं न विद्यते ।[३]

निश्चय ही अकाल में किसी का मरण नहीं होता।

द्रव्येषु यस्य ममता मृत्योरास्ये स वर्तते ।[४]

द्रव्यों में जिसकी ममता होती है वह सदा मृत्यु के ही मुँह में रहता है।

नाऽकाले विहितो मृत्युर्मर्त्यानां (पुरुषर्षभ) ।[५]

मनुष्यों की अकाल मृत्यु का विधान नहीं है।

पक्वानां हि वधे सूत वज्रायन्ते तृणान्यपि ।[६]

जिनका अन्त समय समीप आ जाता है उनके लिए तृण भी वज्र के समान हो जाते हैं।

अनिष्टं सर्वभूतानां मरणं नाम (भारत) ।[७]

मरण समस्त प्राणियों के लिए दुःखदायी होता है।

सत्यधर्माभिरक्तानां नास्ति मृत्युकृतं भयम् ।[८]

जो लोग सत्य एवं धर्म का पालन करते हैं उन्हें मृत्यु का भय नहीं होता।

---

१ शान्ति० १८९।२१
२ वा० रा० ६।११२।१८
३ वा० रा० २।२१।५१
४ शांति० १३।१०
५ वन० ६३।७
६ द्रोण० ११।४८
७ स्त्री० ७।२७
८ वा० रा० ६।४६।३२

अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते ।[१]

जो आत्मतत्व अनादि, अनन्त, महान् से भी पर और ध्रुव है उसको जानकर मनुष्य मृत्यु के मुख से मुक्त हो जाता है, छूट जाता है।

मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवनमुच्यते बुधैः ।[२]

मरण तो शरीरधारियों की प्रकृति है, स्वभाव है और जो जीवन है वही विकृति है, ऐसा विद्वानों का कहना है।

सम्मीलने नयनयोर्नहि किञ्चिदस्ति ।[३]

जब आँखें बंद हो जाती हैं तो कुछ नहीं रह जाता।

जातस्य हि ध्रुवं मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।[४]

उत्पन्न व्यक्ति की मृत्यु निश्चित है और मृत व्यक्ति का जन्म निश्चित है।

नहि प्रतीक्षते मृत्युः कृतमस्य न वाऽकृतम् ।[५]

मृत्यु इस बात की प्रतीक्षा नहीं करती कि मनुष्य ने अपना काम पूरा किया या नहीं।

दुर्वृत्ते वा सुवृत्ते वा मृत्योः सर्वत्र तुल्यता ।[६]

दुर्जन हो अथवा सुजन, सबके लिए मृत्यु समान है।

न कालस्यास्ति बन्धुत्वम् ।[७]

काल की किसी के साथ बन्धुता नहीं है।

प्राप्तकालो न जीवति ।[८]

जब काल पहुँच जाता है तो मनुष्य जीवित नहीं रहता।

---

१ कठो० १।३।१५
२ रघु० ८।८७
३ म० सु० स० ४९९
४ गीता० २।२७
५ शांति० १७५।१५
६ नार० १।७।५९
७ वा० रा० ४।२५।१७.
८

कृतकृत्याः प्रतीक्षन्ते मृत्युं प्रियमिवातिथिम् ।[1]

जो मनुष्य अपने सारे कर्तव्य पूरे कर लेते हैं वे प्रिय अतिथि के समान मृत्यु की प्रतीक्षा करते हैं।

न कृतार्थानां मरणभयम् ।[2]

जिनकी भौतिक तथा आध्यात्मिक सभी कामनायें पूरी हो जाती हैं उन्हें मृत्यु का भय नहीं रहता।

महात्मा—

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ।[3]

सब कुछ भगवान का ही स्वरूप है ऐसा समझने वाले महात्मा बहुत दुर्लभ होते हैं।

महात्मानोऽनुगृह्णन्ति भजमानान् रिपूनपि ।[4]

महात्मा लोग भक्ति रखनेवाले शत्रुओं पर भी अनुग्रह किया करते हैं।

मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम् ।[5]

महात्माओं के मन में, वचन में तथा कर्म में एकरूपता होती है, भिन्नता नहीं।

वरं विरोधोऽपि समं महात्मभिः ।[6]

महात्मा पुरुषों के साथ विरोध भी होना अच्छा है।

महान्—

न महान्तो निमज्जन्ति प्राकृते गुणसंकटे ।[7]

महान पुरुष साधारण सांसारिक संकटों में निमग्न नहीं होते।

१
२ चा० सू० ४।३१
३ भ० गी० ७।१९
४ शि० व० २।१०४
५ चा० नी० सा० सं० ७५४
६ कि० १।८
७ योवा० उप० ३६।४१

न कालमतिवर्तन्ते महान्तः स्वेषु कर्मसु ।[१]

महान पुरुष अपने कार्यों में समय का अतिक्रमण नहीं करते।

प्रजानुरागो महतां प्रकृतिः करुणात्मनाम् ।[२]

जनता पर अनुराग रखना कृपालु महापुरुषों का स्वभाव होता है।

हन्ति श्रेयांसि सर्वाणि पुंसो महदतिक्रमः ।[३]

महान पुरुषों का अनादर करना मनुष्य के सभी अभ्युदय को नष्ट कर देता है।

महापुरुषपूजायाः सिद्धिः काऽप्यनुषङ्गिणी ।[४]

महापुरुषों की पूजा के साथ-साथ सिद्धि की प्राप्ति स्वाभाविक है।

संस्तवे चापि निन्दायां कथं क्षुभ्येन्महाशयः ।[५]

महान पुरुष प्रशंसा और निन्दा में कैसे क्षुब्ध हो सकते हैं।

अहो चरित्रं महतां सर्वलोकसुखावहम् ।[६]

महान पुरुषों का चरित्र सब लोगों के लिए सुखावह होता है।

न केवलं यो महतोऽपभाषते शृणोति तस्मादपि यः स पापभाक् ।[७]

जो महान पुरुषों की निन्दा करता है केवल वही पापभागी नहीं होता अपितु उससे जो सुनता है वह भी पापभागी होता है।

अलोकसामान्यमचिन्त्यहेतुकं द्विषन्ति मन्दाश्चरितं महात्मनाम् ।[८]

नीच पुरुषों का यह स्वभाव है कि वे महापुरुषों के अलौकिक एवं अद्भुत चरित्र की निन्दा किया करते हैं।

---

१ योवा० ५।१०।९
२ भाग० ४।२१।५०
३ भाग० १०।४।४६
४ भाग० ६।१८।७३
५ अ० गी० ३।१०
६ वृ० ना० ९।१३१
७ कु० सं० ५।७५
८ कु० सं० ५।७५

महत्सेवां द्वारमाहुर्विमुक्तेः ।[१]

महान पुरुषों की सेवा मुक्ति का द्वार कही गयी है ।

महतामर्थिनो व्यर्था न कदाचन केचन ।[२]

महान पुरुषों से की हुई किसी भी प्रार्थी की प्रार्थना कभी निष्फल नहीं होती ।

महान्तस्ते समचित्ताः प्रशान्ता
विमन्यवः सुहृदः साधवो ये ।[३]

वे महान पुरुष हैं जो सबके लिये समचित्त, शान्त, क्रोधरहित, सहृदय तथा साधु (सज्जन) होते हैं ।

महाजनस्य सम्पर्कः कस्य नोन्नतिकारकः ।[४]

महान् पुरुषों का सम्पर्क किसके लिए उन्नतिकारक नहीं होता ।

महीयांसः प्रकृत्या मितभाषिणः ।[५]

महान् पुरुष स्वभाव से ही मितभाषी होते हैं ।

व्यपदेशेन महतां सिद्धिः सञ्जायते परा ।[६]

महान् लोगों के व्यपदेश से परम सिद्धि प्राप्त होती है ।

महान् महत्येव करोति विक्रमम् ।[७]

महान् पुरुष महान् पुरुषों पर ही अपना पराक्रम दिखाते हैं ।

भक्त्या हि तुष्यन्ति महानुभावाः ।[८]

महान् पुरुष भक्ति से ही सन्तुष्ट हो जाते हैं ।

सम्पत्तौ च विपत्तौ च महतामेकरूपता ।[९]

सम्पत्ति और विपत्ति में भी महान् पुरुष एकरूप होते हैं ।

---

१ भाग० ५।५।२
२ योवा० नि० उ० ६५।२४
३ भाग० ५।५।२
४ सु० र० भा० पृ० ८६।२
५ शि० व० २।१३
६ पंच० ३।८१
७ हि० २।१४
८ सु० र० भा० पृ० ४९।१७८
९ पंच० २।७

चिन्ता यशसि न वपुषि प्रायः परिदृश्यते महताम् ।[1]

महापुरुषों की चिन्ता प्रायः यश की ही होती है शरीर की नहीं।

मानो हि महतां धनम् ।[2]

मान ही महान् पुरुषों का धन है।

महान्त एव महतामर्थं साधयितुं क्षमाः ।[3]

महान् पुरुष ही महान् पुरुषों का कार्य सिद्ध कर सकते हैं।

क्षुद्रेऽपि नूनं शरणं प्रपन्ने महत्त्वमुच्चैः शिरसां सतीव ।[4]

महान् पुरुष क्षुद्र जन के भी शरण में आ जाने पर उसको बड़े लोगों के समान ही महत्त्व देते हैं।

सम्पदो महतामेव महतामेव चापदः ।[5]

बड़े लोगों के पास ही सम्पत्तियाँ होती हैं और उन्हीं पर आपत्तियाँ भी आती हैं।

अश्मापि याति देवत्वं महद्भिः सुप्रतिष्ठित ।[6]

महान् पुरुषों द्वारा प्रतिष्ठित होने पर पत्थर भी देवता हो जाता है।

सर्वं हि महतां महत् ।[7]

महान् पुरुषों की सब बातें महान् होती हैं।

भवति विपद्यपि महतामङ्गीकृतवस्तुनिर्वाहः ।[8]

महान् पुरुष विपत्ति में भी अपनी स्वीकृत बात का निर्वाह करते हैं।

---

१ का० प्र० १०।५२४
२
३ पं० तं० ५।३५
४ कु० सं० १।१२
५ सु० र० भा० पृ० ४५।८
६
७
८ सु० र० भा० पृ० ४७।९२

अहह महतां निस्सीमानश्चरित्रविभूतयः ।[1]

महान् पुरुषों की चारित्रिक विभूतियाँ असीम होती हैं।

प्रकृतिः किल सा महीयसां
सहते नाऽन्यसमुन्नतिं यया ।[2]

महान् पुरुषों की ऐसी प्रकृति होती है जिससे वे दूसरों की उन्नति का सहन नहीं करते।

महिमा—

प्रायः स्वं महिमानं क्षोभात् प्रतिपद्यते जन्तुः ।[3]

प्रायः क्षोभ होने पर ही प्राणी अपने तेज को दिखाता है।

माता—

सहस्रं हि पितॄन् माता गौरवेणातिरिच्यते ।[4]

माता गुरुता में पिता से सहस्र गुना बढ़कर होती है।

गुरूणामेव सर्वेषां माता गुरुतरा स्मृता ।[5]

सभी गुरुओं (श्रेष्ठजनों) में माता सर्वश्रेष्ठ गुरु मानी जाती है।

न मातुरुपकाराणां कोऽपि स्यादनृणः पुमान् ।[6]

माता के उपकारों से कोई मनुष्य अनृण नहीं हो सकता।

कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति ।[7]

कुपुत्र हो सकता है पर कहीं भी कुमाता नहीं हो सकती।

न मातुः परदैवतम् ।[8]

माता से बढ़कर कोई देवता नहीं।

---

१ भ० नी० ३५
२ किरात० २।२१
३ अ० शा० ६।३१
४ मनु० २।१४५
५ स्क० अ० ७७।२२
६
७ देव्य० ४
८

माता गुरुतरा भूमेः ।[1]

माता भूमि से भी बढ़कर श्रेष्ठ होती है।

नहि मातृसमो देवो नहि पितृसमो गुरुः ।[2]

माता के समान कोई देवता नहीं और पिता के समान कोई गुरु नहीं।

माता शत्रुः पिता वैरी येन बालो न पाठितः ।[3]

वह माता और वह पिता वैरी है जिसने अपने बच्चों को नहीं पढ़ाया।

मान—

मानं हित्वा प्रियो भवेत् ।[4]

मान छोड़कर मनुष्य सबका प्रिय हो जाता है।

मानं हि महतां लोके धनमक्षयमुच्यते ।[5]

मान महान लोगों के लिए अक्षय धन होता है।

जन्मिनो मानहीनस्य तृणस्य च समा गतिः ।[6]

मानहीन मनुष्य तथा तृण की समान गति होती है।

नान्यस्य गन्धमपि मानभृतः सहन्ते ।[7]

मानी व्यक्ति दूसरे के गन्ध को भी सहन नहीं करती।

माने म्लाने कुतः सुखम् ?[8]

मान के म्लान हो जाने पर सुख कहाँ ?

---

१ वन० ३१।६०
२ औ० स्मृ० १।३६
३ चा० नी० २।११
४ वन ३१३।७८
५ वृ० ना० ११।१५०
६ पंच० १।१०६
७ शि० व० ५।४२
८

मानो हि महतां धनम् ।[१]

मान ही महान् पुरुषों का धन है।

मानेन तृप्तिर्नतु भोजनेन ।[२]

मनुष्य को मान से तृप्ति होती है न कि भोजन से।

मानहीनं सुरैः सार्द्धं विमानमपि सन्त्यजेत् ।[३]

देवताओं के साथ यदि विमान पर भी मानहीन स्थान मिले तो उसका परित्याग कर देना चाहिये।

मानव—देखिये "मनुष्य"।

मानी—

सहते विपत्सहस्रं मानी नैवाऽवमानलेशमपि ।[४]

मानी मनुष्य हजारों विपत्ति सह लेता है पर अपमान लेशमात्र भी नहीं सहता।

मार्ग—

मार्गस्थो नाऽवसीदति ।[५]

जो सही रास्ते पर रहता है वह कष्ट में नहीं पड़ता।

मार्गारब्धाः सर्वयत्ना फलन्ति ।[६]

अच्छे ढंग से आरंभ किये गये सभी यत्न सफल होते हैं।

सन्मार्ग एव सर्वत्र पूज्यते नाऽपथः क्वचित् ।[७]

सन्मार्ग ही सर्वत्र अच्छा माना जाता है कुमार्ग कहीं नहीं।

---

१ चा० नी० ८।१
२ चा० नी० १७।१२
३ भ० सु० सं० ६४५
४
५ व्या० सु० सं० पृ० ४१
६ प्र० यो० १।१८
७

अपन्थानं तु गच्छन्तं सोदरोऽपि विमुञ्चति ।[1]

कुमार्ग पर चलनेवाले को सहोदर भाई भी छोड़ देता है।

महाजनो येन गतः स पन्थाः ।[2]

बड़-बड़े सदाचारी पुरुष जिस रास्ते से चलते हैं वही रास्ता ठीक है।

अपथे पदमर्पयन्ति हि श्रुतवन्तोऽपि रजोनिमीलिताः ।[3]

ज्ञानी लोग भी जब रजोगुण के कारण अन्धे हो जाते हैं तो कुमार्ग पर पैर रख देते हैं।

मित्र—

द्वितीयवान् हि वीर्यवान् ।[4]

जिसका कोई साथी होता है वही बलवान् है।

निर्दोषश्च सदोषश्च वयस्यः परमा गतिः ।[5]

मित्र निर्दोष हो या सदोष वही परम सहायक होता है, अवलंबन होता है।

दुःखितः सुखितो वापि सख्युर्नित्यं सखा गतिः ।[6]

मित्र दुःखी हो या सुखी वह सदा मित्र का परम आश्रय होता है।

सर्वथा सुकरं मित्रं दुष्करं प्रतिपालनम् ।[7]

मित्र बना लेना सुकर है पर मित्रता का पालन करना दुष्कर है।

आर्तिरार्ते प्रिये प्रीतिरेतावन्मित्रलक्षणम् ।[8]

मित्र के दुखी होने पर दुख होना और सुखी होने पर सुख होना बस, इतना ही मित्र का लक्षण है।

---

१ सु० र० भा० पृ० १५५
२ वन० ३१३।१७
३ रघु० ९।२४
४ श० ब्रा० ३ ७।३।८
५ वा० रा० ४।८।८
६ वा० रा० ४।८।४०
७ वा० रा० ४।३२।७
८ शांति० १०३।४९

बहुमित्रकरः सुखं वसते ।[१]

बहुत मित्र बनानेवाला व्यक्ति सुखी रहता है।

न दरिद्रो वसुमतो नाऽविद्वान् विदुषः सखा ।[२]

धनी आदमी का दरिद्र तथा विद्वान् का मूर्ख मित्र नहीं होता।

नराणां सर्वदुःखानि हीयन्ते मित्रदर्शनात् ।[३]

मित्रों का दर्शन करने से मनुष्यों के सब दुःख नष्ट हो जाते है।

न तन्मित्रं यस्य कोषाद् विभेति ।
यद् वा मित्रं शङ्कितेनोपचर्यम् ।[४]

वह मित्र नहीं जिसके कोप से डर हो अथवा जिसके साथ रहने में किसी प्रकार की शंका हो।

यस्मिन् मित्रे पितरीवाश्वसीत
तद् वै मित्रं सङ्गतानीतराणि ।[५]

जिस मित्र पर पिता के समान विश्वास होता है वही वास्तविक मित्र है। शेष मित्र तो केवल मिलने-जुलनेवाले होते हैं।

सर्वे पदस्थस्य भवन्ति मित्राः ।[६]

पद पर रहनेवाले व्यक्ति के सब मित्र होते हैं।

तस्करस्य वधो दण्डः कुमित्रस्याल्पभाषणम् ।[७]

तस्कर का वध दण्ड है और कुमित्र का वध उसके साथ अल्प भाषण करना है।

---

१ वन० ३१३।१३
२ आदि० १३१।९
३ वृ० ना० ९।७
४ उ० प० ३६।३७
५ उ० प० ३६।३७
६ वृ० नी० २।७
७ वृ० नी० २।३०

तिष्ठते हि सुहृद् यत्र बन्धुस्तत्र न तिष्ठते।[१]

जिस संकटावस्था में मित्र साथ देता है उसमें बन्धु साथ नहीं देता।

यो यस्य मित्रं नहि तस्य दूरम्।[२]

जो जिसका मित्र होता है वह उससे दूर नहीं होता।

तन्मित्रं यदकृत्रिमम्।[३]

वह मित्र है जो कृत्रिमन हो, बनावटी न हो।

आपदि मित्रपरीक्षा।[४]

आपत्ति में मित्र की परीक्षा होती है।

सर्वाणि मित्राणि समृद्धिकाले।[५]

समृद्धि के समय सब लोग मित्र हो जाते हैं।

मैत्री साम्यमपेक्षते।[६]

मित्रता बराबरी को अपेक्षा रखती है।

असन्मैत्री च दोषाय कूलच्छायेव सेविता।[७]

तट की छाया में रहने के समान ही दुष्टों की मैत्री भी कष्टकारक होती है।

स सुहृद् व्यसने यः स्यात्।[८]

जो संकट के समय उपस्थित रहे वही मित्र है।

मित्रेण किं व्यसनकालपराङ्मुखेन।[९]

उस मित्र से क्या लाभ जो संकट के समय विमुख हो जाय।

---

१ उद्योग० १०६।५
२ नी० सा० १
३ हितो० २।१५०
४ सु० र० भा० पृ० १७०
५
६ वृ० प्र० १०।१२
७ किरात० ११।२५
८ पञ्च १।३४१
९ वृ० नी० २।६

आपत्काले तु सम्प्राप्ते यन्मित्रं मित्रमेव तत् ।[१]

आपत्ति के आने पर जो मित्र उपस्थित रहता है वही वास्तविक मित्र है।

मित्रता —

जायते दर्शनादेव मैत्री विमलचेतसाम् ।[२]

निर्मल चित्तवाले पुरुषों के दर्शनमात्र से ही उनसे मित्रता हो जाती है।

सौहृदान्यपि जीर्यन्ते कालेन परिजीर्यतः ।[३]

मनुष्य के समयानुसार जीर्ण होने के साथ-साथ सौहार्द भी जीर्ण हो जाता है।

विद्या शौर्यं च दाक्ष्यं च बलं धैर्यं च पञ्चमम् ।[४]

मित्राणि सहजान्याहुः ।

विद्या, शूरता, दक्षता, बल और पाँचवाँ धैर्य ये गुण मनुष्यों के सहज मित्र कहे गये हैं।

सतां साप्तपदं मैत्रमाहुः सन्तः कुलोचिताः ।[५]

कुलीन सज्जन पुरुष सत्पुरुषों की मैत्री को साप्तपदीन कहते हैं।

न सख्यमजरं लोके वर्तते जातु कस्यचित् ।[६]

संसार में किसी की मित्रता कभी अजर नहीं होती।

नास्ति मैत्री स्थिरा नाम न च ध्रुवमसौहृदम् ।[७]

न तो मैत्री ही स्थिर होती है और न अमैत्री ही स्थिर होती है।

---

१ पञ्च २।११५
२ योवा० उ० ७८।३५
३ आदि० १३१
४ शांति० १३९।८५
५ वन० २६०।३५
६ आदि० १३१।६७
७

स्वरूपसदृशं मित्रं कस्मै नाम न रोचते ।[१]

अपने स्वरूप के समान मित्र किसे नहीं अच्छा लगता है।

दिनस्य पूर्वार्धपरार्धभिन्ना छायेव मैत्री खल-सज्जनानाम् ।[२]

खलों की मैत्री दिन के पूर्वार्ध की छाया के समान घटनेवाली तथा सज्जनों की मैत्री दिन के परार्ध की छाया के समान बढ़नेवाली होती है।

समानशीलव्यसनेषु सख्यम् ।[३]

शील और स्वभाव के समान होने पर मनुष्य में मित्रता होती है।

मुक्ति, देखिये "मोक्ष" -

मुखरता—

मुखरताऽवसरे हि विराजते ।[४]

अधिक बोलना अवसर पर ही अच्छा लगता है।

मूढ़-मूर्ख—

मूढस्य नाऽयं न परोऽस्ति लोकः ।[५]

मूढ़ के लिए न यह लोक काम का होता है और न परलोक।

न लोके राजते मूर्खः केवलात्मप्रशंसया ।[६]

लोक में मूर्ख केवल अपनी प्रशंसा करने से सम्मानित नहीं होता।

अकुर्वन्नपि संक्षोभात् व्यग्रो भवति मूढधीः ।[७]

मूढ़ व्यक्ति कुछ काम न करते हुए भी घबड़ाहट से व्यग्र रहता है।

आरभन्तेऽल्पमेवाज्ञाः कामं व्यग्रा भवन्ति च ।[८]

अज्ञ लोग छोटा ही काम आरंभ करते हैं फिर भी काफी व्यग्र रहते हैं।

---

१ योवा० उ० ७०।६७
२ भ० जी० ६०
३ पंच० १।३०५
४ किरात० ५।१६
५ शांति० २८६।१२
६ वन० २०७।४९
७ अ० गी० १८।५८
८ शि० व०

तावच्च शोभते मूर्खो यावत् किञ्चिन्न भाषते ।[१]

मूर्ख तभी तक शोभा पाता है जब तक कुछ बोलता नहीं।

अर्थानारभते बालो नानुबन्धमपेक्षते ।

मूढ व्यक्ति काम करता है पर उसके परिणाम पर ध्यान नहीं देता।

भूतं हित्वा च भाव्यर्थे योऽवलम्बेत् स मूढधीः [२]।

वर्तमान में उत्पन्न अर्थात् प्राप्त अर्थ को छोड़कर जो भावी अर्थ का भरोसे रहता है वह मूर्ख है।

मूर्खेण सह संयोगो विषादपि सुदुर्जरः ।[३]

मूर्ख के साथ संयोग विष से भी बढ़कर भयंकर होता है।

अलभ्यमिच्छन्नैष्कर्म्यान्मूढबुद्धिरिहोच्यते ।[४]

कर्म न करते हुए भी अलभ्य वस्तु की इच्छा रखनेवाला व्यक्ति मूर्ख कहा जाता है।

सर्वशास्त्रातिगो मूढः शं जन्मसु न विन्दति ।[५]

सब शास्त्रों के विपरीत चलनेवाला मूर्ख किसी भी जन्म में सुख-शान्ति को नहीं प्राप्त करता है।

शुष्ककाष्ठानि मूर्खाश्च भिद्यन्ते न नमन्ति च ।[६]

सूखे काठ और मूर्ख टूट जाते हैं पर झुकते नहीं हैं।

विशेषतः सर्वविदां समाजे विभूषणं मौनमपण्डितानाम् ।[७]

विद्वानों के समाज में मूर्खों का मौन रहना ही विशेष शोभा की बात होती है।

पण्डितोऽपि वरं शत्रुर्न मूर्खो हितकारकः ।[८]

विद्वान् यदि शत्रु भी हो तो अच्छा पर मूर्ख हितकारक भी हो तो नहीं अच्छा।

---

१ हितो० प्र० ४१
२ सभा० १५।१४
३ आदि० ४।९०
४ दे० भा० १।६।५
५ उद्योग० ३३।३८
६ वन० ३१।२१
७ व्या० सु० सं० २३
८ भ० नी० ७
९ पंच० १।४५

स्वगृहे पूज्यते मूर्खः ।[१]

मूर्ख अपने ही घर में आदर पाता है।

विना हेतुमपि द्वन्द्वमेतन्मूर्खस्य लक्षणम् ।[२]

विना कारण के भी झगड़ते रहना, यह मूर्ख का लक्षण है।

मूर्खस्य किं शास्त्रकथाप्रसङ्गैः ।[३]

मूर्ख को शास्त्र की कथाओं एवं चर्चाओं से क्या काम ?

मूर्खस्य नास्त्यौषधम् ।[४]

मूर्ख के लिये कोई दवा नहीं।

आत्मनः कर्मदोषं हि न विजानात्यपण्डितः ।[५]

मूर्ख व्यक्ति अपने कर्म के दोष को नहीं समझता।

मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः ।[६]

मूढ आदमी की बुद्धि दूसरों के विश्वास पर चलती है।

मूढो दुःखाय जीवति ।[७]

मूढ आदमी कष्ट भोगने के लिए जीता है।

उपदेशो हि मूर्खाणां प्रकोपाय न शान्तये ।[८]

मूर्ख लोगों को उपदेश देने से उनका क्रोध ही बढ़ता है न कि वे शान्त होते हैं।

विद्याशास्त्रविनोदगीतरहितो मूर्खः सुखं जीवति ।[९]

विद्या, शास्त्र, विनोद एवं गीत आदि गुणों से रहित जो मूर्ख होते हैं वे बड़े सुख से जीते हैं।

---

१ ६ माल० १।२
२ हितो० ३।३६ ७ योवा० उ० ७७।२०
३ चा० नी० शा० सं० १३७२ ८ पञ्च० १।३९३
४ भ० नी० ११ ९ भ० सु० सं० ६५९
५

मूर्खता—

न मौर्ख्यादधिको लोके कश्चिदस्तीह दुःखदः ।[१]

संसार में मूर्खता से बढकर कोई दूसरी वस्तु दुःखद नहीं होती ।

मृजा—

मृजया रक्ष्यते रूपम् ।[२]

सफाई रखने से रूप की रक्षा होती है ।

मृत्यु—देखिये—"मरण"—

मृदु—

मृदुर्हि परिभूयते ।[३]

कोमल स्वभाव का मनुष्य प्रायः दबाया जाता है ।

मृदुना दारुणं हन्ति मृदुना हन्त्यदारुणम् ।[४]

मृदु स्वभाव से मनुष्य कठोर को भी दबा सकता है और कोमल को भी ।

आश्रितैरप्यवमन्यते मृदुस्वभावः ।[५]

मृदु स्वभाववाले व्यक्ति का आश्रित जन भी अपमान करते हैं ।

नाऽसाध्यं मृदुना किञ्चित् ।[६]

ऐसा काई काम नहीं जो मृदुता से या मृदु स्वभाव के व्यक्ति से सिद्ध न हो जाता हो ।

---

१ योवा० उ०
२ वि० नी० ३४।३९
३ वा० रा० २।२१।११
४ शांति० १४०।६६
५ चा० नी० २।५०
६ शांति० १४०।६६

मैत्री— देखिये–"मित्रता"—

मोक्ष—

मोक्षो हि चेतो विमलं सम्यग् ज्ञानविबोधितम् ।[१]

विशुद्ध ज्ञान से प्रबुद्ध एवं निर्मल चित्त ही मोक्ष है।

गृहेऽपि मोक्षः पुरुषोत्तमानाम् ।[२]

उत्तम पुरुषों के लिए घर में ही मोक्ष संभव है।

कस्यैषा वाग् भवेत् सत्या मोक्षो नास्ति गृहादिति ।[३]

घर में रहने से मोक्ष नहीं हो सकता यह किसकी बात सही मानी जा सकती है।

मोक्षो हि चेतसो धर्मः चेतस्येव स तिष्ठति ।[४]

मोक्ष चित्त के एक विशेष धर्म का नाम है और वह चित्त में ही रहता है।

अज्ञानहृदयग्रन्थिमोक्षो मोक्ष इति स्मृतः ।[५]

हृदय में जो अज्ञान की ग्रन्थि है उसका खुल जाना ही मोक्ष कहा जाता है।

देखिये मुक्ति तथा अमरता ।

मौन—

यन्मौनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तत् ।[६]

जिसे मौन कहते हैं वह एक प्रकार का ब्रह्मचर्य ही है।

वाग्जन्मवैफल्यमसत्यशल्यं गुणाद्भुते वस्तुनि मौनिता चेत् ।[७]

यदि किसी अद्भुत गुणशाली वस्तु या व्यक्ति के विषय में भरपूर उसकी प्रशंसा न कर मौन धारण कर लिया जाय तो वाणी का होना ही बेकार है और यह असहनीय पीड़ा की बात है।

---

१ योग० उ० ७३।३५
२ गरुड़० १।१०९।४३
३ शांति० ५६९।१०
४ योवा० उ० ७३।३५
५ शि० गी० १३।३२
६ छा० उ० ८।५।२
७ नै० च० ८.३२

मौनं सम्मतिलक्षणम् ।[१]

मौन धारण कर लेना सम्मति का लक्षण है।

विभूषणं मौनमपण्डितानाम् ।[२]

मूर्ख लोगों के लिए मौन धारण करना ही भूषण है।

मौनं सर्वार्थसाधनम् ।[३]

मौन धारण कर लेना सब काम का साधक होता है।

मौनिनः कलहो नास्ति ।[४]

मौनी आदमी का किसी से झगड़ा नहीं होता।

वरं मौनं कार्यं न च वचनमुक्तं यदनृतम् ।[५]

मौन धारण कर लेना अच्छा पर वह वचन बोलना अच्छा नहीं ज झूठा हो।

यज्ञ -

यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।[६]

यज्ञार्थक कर्म के अतिरिक्त जो कर्म किये जाते हैं वे लोगों के लिए बन्धन के कारण होते हैं।

यज्ञशिष्टाशनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।[७]

यज्ञ से बचे हुए वस्तु का भोजन करनेवाले व्यक्ति समस्त पापों से छूट जाते हैं।

नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः पुरुषोत्तम ।[८]

यज्ञ न करनेवाले के लिए यह लोक ही सिद्ध नहीं होता तो परलोक कैसे सिद्ध हो सकता है?

१
२ भ० नी० ७
३ पंच० ४।४५
४ चा० नी० ३।११
५ हितो० १।१३६
६ भ० गी० ३।९
७ भ० गी० ३।१३
८ गीता० ४।३१

श्रेयान् द्रव्यमयाद् यज्ञाज् ज्ञानयज्ञः (परन्तप) ।[1]

द्रव्यमय यज्ञ की अपेक्षा ज्ञानमय यह श्रेष्ठ होता है।

अनुयज्ञं जगत् सर्वं यज्ञश्चानुजगत् सदा ।[2]

यज्ञ से सारा संसार चलता है और संसार से यज्ञ चलता है।

यज्ञाय सृष्टानि धनानि धात्रा ।[3]

विधाता ने यज्ञ के लिए धन की सृष्टि है।

प्लवा ह्येते अदृढ़ा यज्ञरूपाः ।[4]

ये जो यज्ञरूपी प्लव (नौका) हैं वे मनुष्यों को संसार से पार कराने में कमजोर होते हैं।

पुरुषो वाव यज्ञः ।[5]

पुरुष ही यज्ञ है।

अथ यत् तपो दानमार्जवमहिंसा सत्यवचनमिति ता अस्य दक्षिणाः ।[6]

तप, दान, आर्जव, अहिंसा तथा सत्यवचन वे सब इस यज्ञ की दक्षिणा हैं।

यत्न—देखिये—"प्रयत्न"—

यथार्थता—

याथार्थ्यान्नहि भुवने किमप्यसाध्यम् ।[7]

यदि मनुष्य में यथार्थता (सच्चाई) हो तो संसार में कोई काम असाध्य नहीं होता।

---

१ गीता० ४।३२
२ शांति० २७४।३७
३ शांति० २६।२५
४ मु० उ० १।२।७
५ छा० उ० ३।१६।१
६ छा० उ० ३।१७।४
७ भा० मा० ६।१०३

प्रयत्नः सर्वथा कार्यो यथार्थत्वविनिश्चये ।[१]

यथार्थता को समझने के लिए सब प्रकार से प्रयत्न करना चाहिये।

यश—

यशोधनानां हि यशो गरीयः ।[२]

यश को ही धन समझनेवालों के लिए यश ही सबसे बड़ी वस्तु है।

यशोवधः प्राणवधाद् गरीयान् ।[३]

किसी के यश का वध प्राणवध से भी गुरुतर होता है।

कुकर्मान्तं यशो नृणाम् ।[४]

कुकर्म करने से मनुष्य के यश का अन्त हो जाता है।

देखिये—"कीर्ति"—

याचक—

याचको याचकं दृष्ट्वा श्वानवद् घुर्घुरायते ।[५]

याचक याचक को देखकर कुत्ते की तरह गुर्राता है।

लुब्धानां याचको रिपुः ।[६]

लोभी लोगों के लिए याचक शत्रु के समान होता है।

तृणाल्लघुतरं तूलं तूलादपि च याचकः ।[७]

तृण से भी हल्की रूई होती है और रूई से भी हल्का याचक होता है।

---

१ वृद्धत्रयी पृ० ४९८ श्लोक० ४२
२ रघु० १४।३५
३ सो० नी० ३०।१०५
४ पंच० ५।७२
५ स० प० मा० पृ०५८
६ चा० नी० १०।६
७ चा० नी० शा० सं० ४२३

दुर्लभोऽप्यथवा नास्ति योऽर्थी धृतिमवाप्नुयात् ।[1]

ऐसा पाचक जो धैर्यशाली हो, दुर्लभ है अथवा बिलकुल ही नहीं है।

याचना—

याचनान्तं हि गौरवम् ।[2]

याचना करने से मनुष्य का गौरव समाप्त हो जाता है।

तत् सौभाग्यं पुंसां यदेतदप्रार्थनं नाम ।[3]

मनुष्य के लिए यही सौभाग्य है कि उसे किसी बात के लिए किसी से प्रार्थना न करनी पड़े।

याच्ञा मोघा वरमधिगुणे नाऽधमे लब्धकामा ।[4]

श्रेष्ठ पुरुष से याचना का बेकार हो जाना अच्छा पर अधम पुरुष से याचना की पूर्ति हो जाना नहीं अच्छा।

गुणशतमप्यर्थिता हरति ।[5]

याचना मनुष्य के सैकड़ों गुणों को हर लेती है।

युवा—

युवा स्यात् साधुयुवाऽध्यायकः । आशिष्ठो बलिष्ठो द्रढिष्ठः । तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात् ।[6]

यदि कोई मनुष्य युवा हो और उत्तम युवा हो, वेदों का अध्ययन कर चुका हो, आशिष्ठ (आशावान्) हो, बलिष्ठ हो तथा द्रढिष्ठ अर्थात् (दृढ़ संकल्प) हो तो उस युवक के लिए सारी पृथ्वी धन-धान्य से परिपूर्ण होती है।

युवैव धर्मशीलः स्यादनिमित्तं हि जीवितम् ।[7]

युवावस्था में ही मनुष्य को धर्मशील होना चाहिए क्योंकि जीवन का कोई ठिकाना नहीं है।

---

१ शांति० १२६।२९
२ स० प० मा० पृ० ५९
३
४ मे० घ० ६
५ हि० १।१३७
६ तै० उ० २।८
७ शांति० २७७।१५

युद्ध—

अयुद्धेन व्यवस्थानं नैष धर्मः सनातनः ।[१]

युद्ध न करने का विचार रखना यह सनातन धर्म नहीं है।

अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यं रणे राजन् पलायनम् ।[२]

राजन्, रण से भागना अनार्यों का काम है और स्वर्ग में प्राप्ति की बाधक है।

विग्रहासक्तचित्तानां न रतिः क्वापि जायते ।[३]

जिनका चित्त सदा लड़ाई-झगड़े में ही लगा रहता है उन्हें और कहीं नहीं अच्छा लगता।

बलिना विग्रहो राजन् न कदाचित् प्रशस्यते ।[४]

राजन्, बलवान से युद्ध करना कभी भी अच्छा नहीं माना जाता।

बलिना विग्रहो यस्य कुतो राज्यं कुतः सुखम् ।[५]

जिसका बलवान् से युद्ध हो उसको कहाँ राज्य और कहाँ सुख ?

योग—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ।[६]

चित्तवृत्तियों का निरोध योग कहलाता है।

समत्वं योग उच्यते ।[७]

सिद्धि और असिद्धि में समभाव रखना योग कहलाता है।

एष योगविधिः कृत्स्नो यावदिन्द्रियधारणम् ।[८]

इन्द्रियों के वश में रखना ही समस्त योग का सार है।

अयं तु परमो धर्मो यद् योगेनात्मदर्शनम् ।[९]

योग के द्वारा आत्मदर्शन करना ही सबसे बड़ा धर्म है।

---

१ शल्य० ३१।२४
२ शल्य० ३१।२४
३ पंच० ३।१२९
४ शांति० १३९।११
५ ,, ,,
६ वन० २११।२०
७ याज्ञ० १।८
८ पा० पो० १।२
९ गीता० २।४८

योगः कर्मसु कौशलम् ।[१]

समस्त कर्मों में कौशल होना योग कहलाता है।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।[२]

जो अत्यधिक भोजन करता है उसका भी योग सिद्ध नहीं होता और जो अत्यन्त कम भोजन करता है उसका भी योग सिद्ध नहीं होता।

परो हि योगो मनसः समाधिः ।[३]

मन को एकाग्र रखना ही सबसे बड़ा योग है।

योगी—

भ्रमन् संपूज्यते योगी ।[४]

योगी भ्रमण करने से ही पूजा जाता है।

योग्य—

योग्यः सर्वत्र युज्यते ।[५]

योग्य मनुष्य सब जगह के लिए उपयुक्त होता है।

योग्यता—

श्रद्धा ज्ञानं ददाति
नम्रता मानं ददाति
योग्यता स्थानं ददाति ।[६]

श्रद्धा ज्ञान देती है, नम्रता मान देती है और योग्यता स्थान देती है।

---

१ गीता० २।५०
२ गीता० ६।१६
३ भाग० ११।२३।४६
४ चा० नी० ६।४
५ दी० मा० २।३८
६ दी० मा० ३।६९

चकास्ति योग्येन हि योग्यसंगमः ।[1]

योग के साथ योग्य का समागम उत्तम होता है।

यौवन—

तारुण्यमेव जीवस्य जीवनं तद् विवेकि चेत् ।[2]

यौवन यदि विवेकी हो तो वही मनुष्य का वास्तविक जीवन है।

यौवनेन न ये नष्टा नष्टा नान्येन ते जनाः ।[3]

जो लोग जवानी से नष्ट नहीं हुए वे फिर और किसी कारण से नष्ट नहीं होते।

धन्यः कोऽपि न विक्रियां कलयति प्राप्ते नवे यौवने ।[4]

नये यौवन के आ जाने पर भी जिनके मन में विकार नहीं उत्पन्न होता ऐसे लोग धन्य हैं।

यौवनाज्ञानयामिन्या विभेति भगवानपि ।[5]

यौवनरूपी अज्ञान की अँधेरी रात से भगवान् भी डरते हैं।

हरति मनो मधुरा हि यौवनश्रीः ।[6]

यौवन की मधुर शोभा मन को हर लेती है।

कस्य नेष्टं हि यौवनम् ।[7]

यौवन किसको अच्छा नहीं लगता।

यौवनमनिवर्ति यातं तु ।[8]

गया हुआ यौवन फिर नहीं लौटता।

---

१ नै० च० ९।५६
२
३ योवा० वे० २०।६
४ शृ० श० ७२
५ योवा० वे० २०।१५
६ किरांता० १०।१७
७
८ सुभाषितावलि १६११

रजोगुण—

अपथे पथमर्पयन्ति हि श्रुतवन्तोऽपि रजोनिमीलिताः ।[१]

ज्ञानवान् जनों की भी जब रजोगुण से आँखें बन्द हो जाती हैं तो वे बेरास्ते पैर रखते हैं।

रत्न—

न रत्नमन्विष्यति मृग्यते हि तत् ।[२]

रत्न किसी को नहीं ढूँढ़ता प्रत्युत वह दूसरों के द्वारा ढूँढ़ा जाता है।

रमणीय—

अत्यन्तरमणीयानां सुचिरस्थायिता कुतः ।[३]

अत्यन्तरमणीय वस्तुओं में चिरकाल तक स्थायित्व नहीं रहता।

देखिये —"सुन्दर"

रस—

नहि रसादृते कश्चिदप्यर्थः प्रवर्तते ।[४]

विना किसी रस के अर्थात् नैसर्गिक राग के कोई काम नहीं होता। कहीं मनुष्य की प्रवृत्ति नहीं होती।

राग—

मूर्खाणामतिरस एव संक्षयाय ।[५]

अज्ञानी लोगों का भोगों में अत्यन्त राग ही उनके विनाश का कारण होता है।

---

१ रघु० ९।७४

२ कु० सं० ५।४५

३ रा० त० १६ (जोनराजकृत)

४ ना० शा० अ० ६ ३१ वें श्लोक के

५ योवा० उ० ७९।३५

रागाभिभूतः पुरुषः कामेन परिगम्यते ।[१]

जो व्यक्ति राग से अभिभूत होता है वही काम का शिकार बनता है।

रागी—

निवृत्तरागस्य गृहं तपोवनम् ।[२]

जिसके मन से रागद्वेष निवृत्त हो जाता है उसके लिए वन ही तपोवन है।

वनेऽपि दोषाः प्रभवन्ति रागिणाम् ।[३]

जो लोग राग-द्वेषयुक्त होते हैं उनसे वन में भी दोष हो जाते हैं।

राजधर्म—

सर्वे धर्मा राजधर्मप्रधानाः ।[४]

सभी धर्मों में राजधर्म प्रधान होता है।

निराशिषो जीवलोकाः क्षात्रधर्मेऽव्यवस्थिते ।[५]

राजधर्म जब अव्यस्थित हो जाता है तो सभी लोग निराश एवं दुःखी हो जाते हैं।

नश्यतां सर्वधर्माणां राजधर्मः प्रवर्तकः ।[६]

जब सभी धर्म नष्ट होने लगते हैं तो राजधर्म उन्हें जीवन और गति प्रदान करता है।

राजविद्या—

प्रभुत्वं समदृष्टित्वं तच्च स्याद् राजविद्यया ।[७]

समदर्शिता ही प्रभुत्व है और वह राजविद्या (अध्यात्मविद्या) से प्राप्त होती है।

---

१ वन० २।३४
२ हितो० ४।८५
३ हितो० ४।८५
४ शांति० ६२।२७
५ शांति० ६४।२
६ कौ० अ० ३।१२।१
७ योवा० उत्पत्ति० ७८।४१

राजा—

विशि राजा प्रतिष्ठितः ।[१]

जनता ही राजा की स्थिति का आधार है।

राजा हि युगमुच्यते ।[२]

राजा ही युग कहलाता है अर्थात् वही युग का विधाता होता है।

जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः ।[३]

जो राजा जितेन्द्रिय होता है वही प्रजा को वश में रख सकता है।

राजा कालस्य कारणम् ।[४]

राजा ही भले या बुरे काल का कारण होता है।

राजमूला महाराज योगक्षेमसुवृष्ठयः
प्रजासु व्याधयश्चैव मरणं च भयानि च ।[५]

प्रजा के योगक्षेम, सुवृष्टि, व्याधि, मरण एवं भय आदि का मूल कारण राजा ही होता है।

लोकरञ्जनमेवात्र राज्ञां धर्मः सनातनः ।[६]

लोगों को प्रसन्न रखना ही राजाओं का सनातन धर्म है।

धर्मः शुभं वा पापं वा राजमूलं प्रवर्तते ।[७]

धर्म हो, या पुण्य हो, या पाप हो, सबका मूलकारण राजा ही होता है।

राजवृत्तिरसङ्कीर्णा न नृपाः कामवृत्तयः ।[८]

राजाओं का कर्तव्य निश्चित एवं निर्धारित है। राजा मनमाने नहीं चलते।

---

१ यजु० २०।२
२ मनु० ९।३०१
३ मनु० ७।४४
४ उद्योग० १३२।१६
५ शांति० १३९।९
६ शांति० ५७।११
७ वा० रा० ३।५०।१०
८ वा० रा० ३।५०।२७

राजा वै सगुणो येषां कुशलं तेषु सर्वशः ।[१]

जिनका राजा गुणवान् होता है वे सदा ही सकुशल रहते हैं।

चारैः पश्यन्ति राजानः ।[२]

गुप्तचरों के द्वारा राजा राज्य की स्थिति का अवलोकन करता है।

पुत्रस्यापि न मृष्येच्च स राज्ञो धर्म उच्यते ।[३]

पुत्र के भी अपराध को क्षमा न करना, यह राजा का धर्म कहा जाता है।

यद्यदाचरते राजा तत् प्रजानां स्म रोचते ।[४]

राजा जो-जो करता है वही प्रजाओं को भी अच्छा लगता है।

योगक्षेमो हि राष्ट्रस्य राजन्यायत्त उच्यते ।[५]

राष्ट्र का योगक्षेम राजा के अधीन होता है।

राजन्यसति लोकस्य कुतो भार्या कुतो धनम् ।[६]

यदि राजा न हो तो लोगों की स्त्री कैसे बच सकती है और कैसे उनका धन बच सकता है ?

नाऽदण्ड्यो नाम राज्ञोऽस्ति यः स्वधर्मे न तिष्ठति ।[७]

राजा के लिए ऐसा कोई व्यक्ति अदण्डनीय नहीं होता जो अपने कर्तव्य का पालन न करता हो, अपने धर्म पर स्थित न हो।

यद्वृत्ताः सन्ति राजानस्तद्वृत्ताः सन्ति हि प्रजाः ।[८]

जैसा आचरण राजाओं का होता है वैसा ही आचरण प्रजाओं का भी होता है।

---

१ — ५ शांति० ७५।१

२ उद्योग० ३४।३४ — ६ शांति० ५७।४१

३ शांति० ९१।३२ — ७ शांति० १२१।६०

४ शांति० ७५।४१ — ८ वा० रा० २।१०९।९

यथा हि कुरुते राजा प्रजा तमनुवर्तते ।[1]

राजा जैसा आचरण करता है प्रजा उसी का अनुसरण करती है।

राजदोषैर्विपद्यन्ते प्रजा ह्यविधिपालिताः ।[2]

राजा के दोष से जब प्रजा का विधिपूर्वक पालन नहीं होता तो प्रजा नष्ट हो जाती है।

राजा कालस्य कारणम् ।[3]

राजा ही (भले या बुरे) काल का कारण होता है।

पार्थिवानामधर्मत्वात् प्रजानामभवः सदा ।[4]

राजाओं के अधार्मिक होने से सदा ही प्रजाजनों की अधोगति होती है।

कालज्ञाता पार्थिवानां वरिष्ठः ।[5]

राजाओं में वही राजा वरिष्ठ होता है जो समय को पहचानता है।

धर्माय राजा भवति न कामकरणाय तु ।[6]

धर्म के अनुसार चलने के लिए राजा बनाया जाता है स्वेच्छाचार के लिए नहीं।

यादृशो जायते राजा तादृशोऽस्य धनं भवेत् ।[7]

जैसा राजा होता है वैसा ही उसका धन होता है।

अभिचारान्नरेन्द्राणां धर्मः सङ्कीर्यते महान् ।[8]

राजाओं के दोष से महान् होता हुआ भी धर्म संकीर्ण हो जाता है, कलंकित हो जाता है।

---

१ वा० रा० ७४३।१९
२
३ शांति० ६९ ७९ उद्योग० १३२।१६
४ वन० २०७।३७
५ शांति० १२०।३९
६ शांति० ९०।३
७ स्त्री० ८।३२
८ वन० २०७।३५

राजा प्रजानां हृदयं गरीयो गतिः प्रतिष्ठा सुखमुत्तमं च ।[1]

प्रजाजनों के विशाल हृदय, गति, प्रतिष्ठा और उत्तम सुख का राजा ही कारण होता है।

राज्ञा विहीना न भवन्ति देशा देशैर्विहीना न नृपा भवन्ति ।[2]

राजा से रहित देश नहीं होते और देशों से रहित राजा नहीं होते।

अप्रधानः प्रधानः स्याद् यदि सेवेत पार्थिवम् ।[3]

यदि कोई उचित रूप से राजकीय सेवा करे तो वह अप्रधान होता हुआ भी प्रधान हो जाता है।

राज्य—

क्लीवस्य हि कुतो राज्यं दीर्घसूत्रस्य वा पुनः ।[4]

नपुंसक अथवा दीर्घसूत्री के लिए राज्य चलाना कहाँ सम्भव ?

राज्यं तिष्ठति दक्षस्य संगृहीतेन्द्रियस्य च ।[5]

उस व्यक्ति का राज्य रहता है जो दक्ष होता है और जितेन्द्रिय होता है।

राज्यं हि सुमहत्तन्त्रं धार्यते नाऽकृतात्मभिः ।[6]

राज्य एक ऐसा बड़ा भारी कार्यभार है जिसे सामान्य लोग नहीं वहन कर सकते।

राज्यं स्वहस्तधृतदण्डमिवातपत्रम् ।[7]

राज्य उस छत्र के समान है जिसके दण्ड को अपने हाथ में बराबर रखे रहना पड़ता है। अर्थात् यदि उससे कुछ सुख है तो कुछ कष्ट भी सहन करना पड़ता है।

---

१ शांति० ६८।५९
२ शांति० ६८ का परिशिष्ट
३ चा० नी० शा० सं० ११६७
४ शांति० ८।५
५ शांति० ११२।१९
६ शांति० ५८।२१
७ अ० शा० ५।६

राष्ट्र—

कुराजान्तानि राष्ट्राणि ।[1]

कुशल राजा के न रहने से राष्ट्रों का अन्त हो जाता है।

राजानमुत्तिष्ठमानमनुतिष्ठन्ते भृत्याः । प्रमाद्यन्तमनुप्रमाद्यन्ति ।[2]

राज्य के कर्मचार राजा के ही अनुसारी दक्ष या प्रमादी होते हैं।

राष्ट्रस्यारक्षमाणस्य कुतो भूतिः कुतः सुखम् ।[3]

सुरक्षा के अभाव में राष्ट्र की समृद्धि और सुख कैसे संभव है?

रिक्त—

रिक्तः सर्वो भवति हि लघुः पूर्णता गौरवाय ।[4]

प्रत्येक वस्तु खाली होने पर हल्की हो जाती है। गौरव तो पूर्णता से ही है।

रुचि—

भिन्नरुचिर्हि लोकः ।[5]

लोग भिन्न-भिन्न रुचि के होते हैं।

रूप—

न रम्यमाहार्यमपेक्षते गुणम् ।[6]

उत्तम रूप कृत्रिम गुणों की अपेक्षा नहीं करता।

तद् रूपं यत्र गुणाः ।[7]

वही उत्तम रूप है जिसमें गुण हों।

यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति ।[8]

जहाँ उत्तम आकृति होती है वहाँ गुण निवास करते हैं।

---

१ पञ्च० ५।७२
२ कौ० अ० १।१९।१।२
३ वन० १५४।११
४ मे० पू० २०
५ र० वं० ६।३०
६ किराता० ४।२३
७

रूपेण किं गुणपराक्रमवर्जितेन ।[1]

उस रूप से क्या जिसमें न कोई गुण हो और न कुछ पराक्रम ही हो।

कुरूपता शीलयुता विराजते ।[2]

कुरूप व्यक्ति भी शीलवान् होने से शोभित होता है।

अहो सर्वास्ववस्थासु रमणीयत्वमाकृतिविशेषाणाम् ।[3]

अहो, कुछ विशेष आकृतियाँ ऐसी होती हैं जो प्रत्येक अवस्था में रमणीय ही दीखती हैं।

मृजया रक्ष्यते रूपम् ।[4]

सफाई से रूप की रक्षा होती है।

रोग—

शत्रोरपि विशिष्यते व्याधिः ।[5]

रोग शत्रु से भी बढ़कर दुःखदायी होता है।

रोगी—

मृतकल्पा हि रोगिणः ।[6]

रोगी लोग मृतक के समान होते हैं।

लज्जा—

लज्जा मातेव रक्षति ।[7]

लज्जा माता के समान रक्षा करती है।

---

१ वृ० नी० २।६
२ चा० नी० ९।१४
३ अ० शा० ६।५
४ उद्योग० ३४।४९
५ चा० सू० ३।५६
६ चा० नी० ३।५५
७ उद्योग० ३६।६७

ह्रीमान् हि पापं प्रद्वेष्टि तस्य श्रीरभिवर्धते ।[1]

लज्जाशील मनुष्य पाप से द्वेष करता है और इसीलिए उसकी श्री की वृद्धि होती है।

य आत्मनाऽपत्रपते भृशं नरः स सर्वलोकस्य गुरुर्भवत्युत ।[2]

जो मनुष्य अपने आप बुरे कामों के करने से लजाता है वह सब लोगों का गुरु हो जाता है, माननीय हो जाता है।

लाभ—

लाभात् लोभः प्रवर्तते ।[3]

लाभ से लोभ उत्पन्न होता है बढ़ता है।

सर्वे लाभाः साभिमाना इति सत्यवती श्रुतिः ।[4]

सभी लाभ अभिमान के पोषक होते हैं यह श्रुति का सत्य वचन है।

प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यो देवोऽपि तं लंघयितुं न शक्तः ।[5]

प्राप्तव्य वस्तु मनुष्य को प्राप्त होती ही है। उसे देव भी नहीं रोक सकता है।

लालन—

लालने बहवो दोषास्ताडने बहवो गुणाः ।[6]

बच्चों के लाड़-प्यार में बहुत दोष होते हैं और उन्हें ताड़ना देते रहने में बहुत गुण होते हैं।

लिपि—

लिपिः प्रशस्ता सुमनोलतेव केषां न चेतांसि मुदा विभर्ति ।[7]

सुन्दर लिपि फूलों की लता के समान किसके मन को मुदित नहीं कर देती।

---

१ उद्योग० ७२।३६
२ उद्योग० ३३।१०२
३
४ शांति० १८०।१०
५ पञ्च० २।११२
६ चा० नी० शा० सं० ८८५
७

लोक—लोकस्वभाव—

सम्यञ्चो वा इमे लोकाः ।[१]

सब लोग आवास में परस्पर आश्रित होते हैं।

स्वकर्मसूत्रग्रथितो हि लोकः ।[२]

सब लोग अपने-अपने किए हुए कर्म के सूत्र में गुँथे हुए हैं।

अनपेक्ष्य गुणागुणौ जनः स्वरुचिं निश्चयतोऽनुधावति ।[३]

गुण और अवगुण पर ध्यान न देकर सब लोग अपनी-अपनी रुचि के अनुसार ही काम करते हैं, यह निश्चित है।

नान्तस्तत्त्वविचारणप्रणयिनो लोका बहिर्बुद्धयः ।[४]

लोग भीतरी तत्त्व का विचार नहीं करते। वे बाहरी बातों को ही महत्त्व देते हैं।

अश्वसधर्माणो हि मनुष्याः नियुक्ताः कर्मणि विकुर्वते ।[५]

लोग प्रायः घोड़ों के समान होते हैं और इसी लिये काम में कभी-कभी अकड़ जाया करते हैं।

चिरनिरूपणीयो हि व्यक्तिस्वभावः ।[६]

व्यक्ति का स्वभाव बहुत देरी से परख में आता है।

कृत्स्नो हि लोको बुद्धिमतामाचार्यः शत्रुश्चाबुद्धिमताम् ।[७]

बुद्धिमानों के लिये सब लोग ही शिक्षक होते हैं और मूर्खों के लिये शत्रु होते हैं।

---

१ ऐ० ब्रा० ४।२५

२ अ० रा० अयोध्या० ६।६

३ शि० व० १६।४४

४ को० अ० २।२५।९

५ पु० प० ४१वीं कथा

६ च० सं० वि० ८।१४

को लोकमाराधयितुं समर्थः ।[१]

सब लोगों को कौन प्रसन्न रख सकता है।

गतानुगतिको लोको न लोकः पारमार्थिकः ।[२]

लोग गतानुगतिक होते हैं अर्थात् देखादेखी काम करते हैं, वास्तविकता का पता नहीं लगाते।

निरङ्कुशो लोकः ।[३]

लोग निरङ्कुश होते हैं।

नवनवगुणरागी प्रायशः सर्वलोकः ।[४]

प्रायः सब लोग नये-नये गुणों के अनुरागी होते हैं।

सर्वो हि मन्यते लोक आत्मानं निरुपद्रवम् ।[५]

सब लोग अपने को भला आदमी मानते हैं।

सर्वो दण्डजितो लोको दुर्लभो हि शुचिर्नरः ।[६]

सब लोग दण्ड के भय से ठीक रहते हैं। ईमानदार मनुष्य तो दुर्लभ ही होता है।

नास्ति लोक अनिन्दितः ।[७]

कोई ऐसा व्यक्ति नहीं जिसकी निन्दा न होती हो।

ज्ञात्वापि दोषमेव करोति लोकः ।[८]

लोग जानते हुए भी दोष ही करते हैं।

कदलीसन्निभो लोकः सारस्तस्य न विद्यते ।[९]

लोग केले के समान होते हैं। उनमें कोई सार नहीं होता।

१
२ पञ्च० १।३७
३
४
५
६
७
८ चा० सू०
९ स्त्री० ३।४

पात्रेसमितो हि सुलभो लोकः ।[१]

भोजन के समय उपस्थित होनेवाले लोग बहुत होते हैं ।

कुहकचकितो लोकः सत्येऽप्यपायमवेक्षते ।[२]

जालसाजी से चकित हुए लोग सत्य में भी झुठाई और हानि की आशंका करते हैं ।

कुकृत्ये को न पण्डितः ।[३]

बुरा काम करने में कौन आदमी पण्डित नहीं होता ।

सर्वो विमृशते जन्तुः कृच्छ्रस्थो धर्मदर्शनम् ।[४]

कठिनाई में पड़ने पर ही सब लोग धर्म का विचार करते हैं ।

विषमां हि गतिं प्राप्य दैवं गर्हयते नरः ।[५]

विषम जति को प्राप्त होने पर मनुष्य दैव की निन्दा करता है ।

यथा स्त्रीणां तथा वाचां साधुत्वे दुर्जनो जनः ।[६]

स्त्रियों को तथा किसी की बातों को अच्छा मानने में लोग दुर्जन हुआ करते हैं । अर्थात् उनपर कोई न कोई दोष लगा दिया करते हैं ।

जनानने कः करमर्पयिष्यति ।[७]

लोगों के मुख पर कौन हाथ रख सकता है ?

ये निघ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे ।[८]

कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो निरर्थक ही दूसरों के हित का हनन किया करते हैं, वे लोग क्या हैं, और किस श्रेणी में रखने लायक है यह हम नहीं जानते ।

---

१ सो० नी० १०।११
२ हि० ४।१०४
३
४
५
६ उत्तर० १।५
७ नै० ९।१२५
८ भ० सु० सं० २२१

गर्जन्ति केचिद् वृथा ।[1]

कुछ लोग बेकार ही गर्जा करते हैं बड़-बड़ किया करते हैं।

कार्यकाले दुर्लभः पुरुषसमुदायः ।[2]

काम के समय लोगों का मिलना बहुत कठिन होता है।

लोकतन्त्र—

युधिष्ठिर धृतिर्दाक्ष्यं देशकालपराक्रमाः ।
लोकतन्त्रविधानामेष पञ्चविधो विधिः ॥[3]

युधिष्ठिर! धैर्य, दक्षता, देश, काल और पराक्रम ये पाँच तत्त्व लोकतन्त्र चलाने के उपाय हैं।

अविश्रमो लोकतन्त्राधिकारः ।[4]

यह लोकतन्त्र का काम विश्रामहीन होता है। इसमें विश्राम के लिये अवसर नहीं होता।

लोकयात्रा—

लोकयात्रा च द्रष्टव्या धर्मश्चात्महितानि च ।[5]

लोकयात्रा भी देखनी चाहिये, धर्म भी देखना चाहिये तथा अपना हित भी देखना चाहिये।

लोकयात्रामिहैके तु धर्मं प्राहुर्मनीषिणः ।[6]

कुछ विचारशील व्यक्ति जीवननिर्वाह के साधन को ही धर्म कहते हैं।

---

१ ४ अ० शा० ५।३
२ सो० नी० १०।८१ ५ अनु० ३७।१६
३ वन०.१६२।१ ६ शांति० १४२।१९

लोकाचार—

अपि शास्त्रेषु कुशला लोकाचारविवर्जिताः ।
सर्वे ते हास्यतां यान्ति ॥[1]

जो लोग शास्त्रों में कुशल होते हुए भी लोकाचार के ज्ञान से रहित होतें हैं वे सभी उपहास के पात्र होते हैं।

यथा ह वा इदमनो वा रथो वाक्तो वर्तेत एवं हैवाक्तो वर्तते ।[2]

जिस प्रकार कोई गाड़ी या रथ उसके चक्के आदि को चिकना कर देने से अच्छी तरह चलता है उसी प्रकार जब मनुष्य स्निग्ध भोजन से सरस एवं सन्तुष्ट रहता है तो अच्छी तरह काम करता है।

लोकविरुद्ध—

यद्यपि शुद्धं लोकविरुद्धं नाचरणीयं नाचरणीयम् ।[3]

यद्यपि कोई काम शास्त्रानुसार शुद्ध हो पर लोकविरुद्ध हो तो उसे नहीं करना चाहिये, नहीं करना चाहिये।

लोकव्यवहार—

धर्मादपि व्यवहारो गरीयान् ।[4]

धर्म की अपेक्षा भी लोकव्यवहार महत्त्वपूर्ण होता है।

वनौकसोऽपि सन्तो लौकिकज्ञा वयम् ।[5]

वनवासी होने पर भी हमलोग लोकव्यवहार को भी जानते हैं।
(महर्षि कण्व की उक्ति)

लोकापवाद—

अतथ्यस्तथ्यो वा हरति महिमानं जनरवः ।[6]

लोकापवाद झूठा हो या सच्चा महत्त्व को नष्ट कर देता है।

---

१ पञ्च० ४।३९
२ ऐ० ब्रा० ४।७
३
४ चा० सू० ८।३०
५ अ० शा० ४।१७
६

लोकापवादो बलवान् मतो मे ।[1]

लोकापवाद को मैं बहुत बलवान् समझता हूँ।

जनानने कः करमर्पयिष्यति ।[2]

लोभ—

अन्तो नास्ति पिपासायाः ।[3]

पिपासा (तृष्णा, लोभ) का अन्त नहीं है।

लोभाद्धि जायते तृष्णा ततश्चिन्ता प्रवर्तते ।[4]

लोभ के कारण तृष्णा उत्पन्न होती है और उससे चिन्ता बढ़ती है।

लोभमोहसमापन्नं न दैवं त्रायते नरम् ।[5]

लोभ-मोह से घिरे हुए व्यक्ति को दैव नहीं बचा सकता है।

लोभं हित्वा सुखी भवेत् ।[6]

लोभ को छोड कर मनुष्य सुखी हो जाता है।

प्रवृद्धतर्षो न सुखाय कल्पते ।[7]

तृष्णा के बढ़ जाने पर मनुष्य सुखी नहीं रहता।

लोभात् प्रमादाद् विश्रम्भात् त्रिभिर्नाशो भवेन्नृणाम् ।[8]

लोभ, प्रमाद एवं विश्वास इन तीनों के कारण मनुष्य का नाश हो जाता है।

---

१ र० वं० १४।४०
२
३ वन० २।४६
४ आश्व० ३१।१०
५ अनु० ६।४२
६ वन० ३१३।७८
७ भाग० १०।५१।५३
८ पद्म० भू० १८।३६३

लोभः पापस्य कारणम् ।[१]

लोभ पाप का कारण है।

लोभावधिं को गतः ?[२]

लोभ के अन्त तक कौन पहुँचा है ?

लोभमूलानि पापानि ।[३]

पापों का मूल लोभ है।

लोभः प्रज्ञानमाहन्ति ।[४]

लोभ प्रज्ञान (विवेक, बुद्धि) को नष्ट कर देता है।

क्लिश्यन्ते लोभमोहिताः ।[५]

लोभ के कारण जिनकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती हैं वे दुःख पाते हैं।

लोभी—

लुब्धे दोषाः संभवन्तीह सर्वे ।[६]

लोभी व्यक्ति में सब दोषों का होना संभव है।

लुब्धानां शुचयो द्वेष्याः ।[७]

लोभी लोग ईमानदारों से द्वेष रखते हैं।

लोभाविष्टो नरो वित्तं वीक्षते न स चापदम् ।[८]

लोभाविष्ट व्यक्ति धन देखता है पर आपत्ति नहीं देखता।

---

१ हि० १।२७
२
३ सु० र० भा० पृ० १५८
४
५ हि० १।२६
६ शांति० १२०।४८
७ शांति० १११।६१
८ पंच० ३।१४२

समुद्रकल्पः पुरुषो न कदाचन पूर्यते ।[१]

मनुष्य समुद्र के समान होता है वह कभी पूरा नहीं होता।

लुब्धानां याचको रिपुः ।[२]

लोभी व्यक्ति से कुछ माँगनेवाला व्यक्ति उनका शत्रु होता है।

वक्ता—

वक्तारः सानुकम्पा हि दुःप्रश्नेऽपि न खेदिनः ।[३]

कृपालु वक्ता बुरे या कठिन प्रश्न के भी उपस्थित हो जाने पर खेद का अनुभव नहीं करते।

अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः ।[४]

अप्रिय पथ्य (हितकर वचन) के वक्ता और श्रोता दोनों ही दुर्लभ होते हैं।

किं करिष्यन्ति वक्तारो श्रोता यत्र न बुद्ध्यते ।

जहाँ श्रोता समझदार नहीं है वहाँ वक्ता (भाषण देकर ही) क्या करेगा ?

वक्तुरेव हि तज्जाड्यं श्रोता यत्र न बुद्ध्यते ।[५]

यदि श्रोता नहीं समझता है तो वह वक्ता की ही मूर्खता समझी जायगी।

स्पष्टवक्ता न वञ्चकः ।[६]

स्पष्ट बोलनेवाला व्यक्ति वञ्चक नहीं होता।

यथा वक्ता तथा श्रोता तत्र सौख्यं विवर्धते ।[७]

जहाँ वक्ता और श्रोता एक समान हों वहाँ सुख की वृद्धि होती है।

१
२ चा० नी० १०।४
३ योवा० नि० पू० ८१।५७
४ पं० त० २।१६४
५ चा० नी० शा० सं० २६४
६
७ चा० नी० ५।५
८ भाग० मा० ४।३९

हितप्रियोक्तिभिर्वक्ता दाता सम्मानदानतः ।[1]

मनुष्य हितकर एवं प्रिय उक्तियों से वक्ता तथा सम्मानपूर्वक दान देने से दाना कहा जाता है ।

वक्तव्य—

विवक्षित हि अनुक्तमनुतापं जनयति ।[2]

जहाँ जो कुछ कहना आवश्यक हो वहाँ वह यदि न कह दिया जाय तो पीछे पश्चात्ताप होता है ।

प्रस्तावसदृशं वाक्यम् ।[3]

प्रस्ताव (उपस्थित अवसर) के अनुरूप वचन बोलना अच्छा होता है ।

वस्त्र—

वस्त्रेण किं स्यादिति नैव वाच्यं वस्त्रं सभायामुपकारहेतुः ।[4]

अच्छे या बुरे वस्त्र से क्या होगा ऐसा नहीं समझना चाहिये । क्योंकि वस्त्र सभाओं के लिए बड़ा उपकारी होता है ।

जिता सभा वस्त्रवता ।[5]

अच्छे वस्त्र पहना हुआ व्यक्ति सभा को जीत लेता है अर्थात् उसे सभा में आदर के साथ बैठाया जाता है ।

कुवस्त्रता शुभ्रतया विराजते ।[6]

खराब वस्त्र भी यदि साफ-सुथरा होता है तो अच्छा लगता है ।

---

१ व्या० स्मृ० ४।६०
२ अभि० शा० ३।१७
३ चा० नी० १४।१४
४
५ उद्योग० ३४।४८
६ चा० नी० ९।१४

वाक्—

वागेवेदं सर्वम् ।[१]

यह सारा जगत वाणी का ही स्वरूप है।

वाचा मित्राणि सन्दधाति, वाचा सर्वाणि भूतानि ।[२]

वाणी से मनुष्य मित्रता का सम्बन्ध जोड़ता है तथा वाणी से सब प्राणियों के साथ सम्बन्ध जोड़ता है।

वाग्वै समुद्रः न वाक् क्षीयते न समुद्रः क्षीयते ।[३]

वाणी समुद्र है, क्योंकि न वाणी क्षीण होती है न समुद्र क्षीण होता है।

वाग् वै सर्वान् कामान् दुहे, वाचा हि सर्वान् कामान् वदति ।[४]

वाणी ही समस्त कामनाओं को पूरा करती है और वाणी से ही मनुष्य सभी कामनाओं को व्यक्त करता है।

यां वै दप्तो वदति यामुन्मत्तः सा वै राक्षसी वाक् ।[५]

मनुष्य दृप्त और उन्मत्त होकर जो वाणी बोलता है वह राक्षसी होती है।

यद् वै वाङ् नाभविष्यन्न धर्मो नाऽधर्मो व्यज्ञपयिष्यत्, न सत्यं नाऽनृतं, न साधु नाऽसाधु, न हृदयज्ञो नाऽहृदयज्ञो वागेवैतत् सर्वं विज्ञापयति वाचमुपास्वेति ।[६]

यदि वाणी न होती तो न धर्म मालूम होता न अधर्म, न सत्य मालूम होता न असत्य, न अच्छा मालूम होता न बुरा और न कोई किसी के हृदय को समझता या नहीं समझता। वाणी ही यह सब कुछ बतलाती है। वाणी की उपासना करो।

---

१ ऐ० आ० ३।१।६
२ ,, ,,
३ ऐ० ब्रा० २३।१
४
५ ऐ० आ० ६।७
६ छा० उ० ७।२।१

वाक्प्रबद्धो हि संसारः ।[१]

संसार वाणी से ही बँधा हुआ है।

वाक्संयमो हि नृपते सुदुष्करतमो मतः ।[२]

राजन्, वाणी पर संयम रखना बड़ा कठिन होता है।

वाग्भूषणं भूषणम् ।[३]

वाणीरूपी भूषण ही (सर्वोत्तम) भूषण है।

वाण्येका समलंकरोति पुरुषं या संस्कृता धार्यते ।[४]

एकमात्र वाणी ही मनुष्य को सुशोभित करती है जो संस्कृत अर्थात् संस्कारयुक्त होती है।

वाचामेव प्रसादेन लोकयात्रा प्रवर्तते ।[५]

वाणी की ही कृपा से संसार का सारा व्यवहार चलता है।

वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता ।[६]

ये समस्त भुवन वाणी के ऊपर ही अवलंबित हैं, निर्भर हैं।

खट्, फट्, जहि, छिन्धि भिन्धि हट् इति वाचः क्रूराणि ।[७]

खट्, फट्, मारो, काटो, फोडो, हट् ये सब वचन वाणी के क्रूर रूप हैं। आसुरी रूप हैं।

स्वर्गं नयति सूनृतम् ।[८]

मधुर वचन मनुष्य को स्वर्ग पहुँचाता है।

---

१ उद्योग० ३४।७७
२
३ भ० नी० १८
४ भ० नी० १८
५
६
७ तै० आ० ४।२।१
८ शि० व० २।२७

अनिर्लोडितकार्यस्य वाग्जालं वाग्मिनो वृथा ।[1]

उस वक्ता का वाग्जाल बेकार है जिससे किसी कार्य का निश्चय नहीं होता।

वाचा दुरुक्तं वीभत्सं न संरोहति वाक्क्षतम् ।[2]

वाणी के दुष्प्रयोग से जो घाव हो जाता है वह बहुत ही भयंकर होता है और भरता नहीं है।

वाक्शल्यस्तु न निर्हर्तुं शक्यो हृदिशयो हि सः ।[3]

दुर्वचन का तीर जो हृदय में लग जाता है वह निकाला नहीं जा सकता है क्योंकि वह हृदय के भीतर धँस जाता है।

अभ्यावहति कल्याणं विविधं वाक् सुभाषिता ।[4]

अच्छी तरह कही हुई वाणी विविध प्रकार से मनुष्य का कल्याण-साधन करती है।

फलैर्विसंवादमुपागता गिरः प्रयान्ति लोके परिहासवस्तुताम् ।[5]

जो वचन फल से भिन्न हो जाते हैं वे लोक में उपहास के विषय बन जाते हैं।

वाग्मिता—

अल्पाक्षररमणीयं यः कथयति निश्चितं स खलु वाग्मी ।[6]

थोड़े अक्षरों में जो सारभूत बातें कह देता है वही निश्चित रूप से वाग्मी कहलाता है।

मितं च सारं च वचो हि वाग्मिता ।[7]

मित (नपा-तुला) और सारवान् वचन बोलना ही वाग्मिता है—अर्थात् अच्छे वक्ता का लक्षण है।

---

१ शांनि० २१६।१२
२ उद्योग० ३४।७९
३ उद्योग० ३४।८०
४ उद्योग० ३४।७८
५ पञ्च० ३।२२५
६ सु० र० भा० पृ० ८५
७ नै० ९।८

वाणिज्य–

वाणिज्ये वसते लक्ष्मीः ।[१]

वाणिज्य में लक्ष्मी निवास करती है।

न मन्ये वाणिज्यात् किमपि परमं वर्तनमिह ।[२]

वाणिज्य से बढ़कर मैं किसी जीविका को उत्तम नहीं मानता।

सत्यानृतं तु वाणिज्यम् ।[३]

वाणिज्य सच्चा और झूठा दोनों प्रकार का होता है।

वाद–

वादे वादे जायते तत्त्वबोधः ।[४]

प्रत्येक वाद में किसी तत्त्व का बोध होता है।

वार्ता–(कृषि, गोरक्षा एवं वाणिज्य)–

कृषिपाशुपाल्ये वाणिज्या च वार्ता ।[५]

कृषि, पशुपालन एवं वाणिज्य इन तीनों का नाम वार्ता है।

वार्तायां संश्रितस्तात लोकोऽयं सुखमेधते ।[६]

तात, यह संसार वार्ता के सहारे ही सुख पाता है।

कर्मभूमिरियं राजन्निह वार्ता प्रशस्यते ।[७]

राजन्, यह कर्मभूमि है। इसमें वार्ता ही जीवन का उत्तम साधन है।

वार्तामूलो ह्ययं लोकः ।[८]

इस समस्त संसार के जीवन का मूल कारण वार्ता ही है।

---

१ चा० नी० शा० सं० १९३९
२ पंच० १।११
३ मनु० ४।६
४
५ कौ० अ० १।४।१
६ शां ति० १६७।११
७ वा० रा० २।१००।४७
८

सम्पन्नो वार्तया साधुर्न वृत्तेर्भयमृच्छति ।[1]

जो सद्गृहस्थ वार्ता से सम्पन्न होते हैं उन्हें वृत्ति का भय नहीं रहता।

कृषि-गोरक्ष-वाणिज्यं लोकानामिह जीवनम् ।[2]

संसार में लोगों के जीवन का साधन कृषि, पशुपालन एवं वाणिज्य है।

वासना—

स्ववासनानुसारेण सर्वः सर्वं हि पश्यति ।[3]

सब लोग अपनी-अपनी वासना (भावना) के अनुसार ही सब कुछ देखते हैं।

विकार—

विकारोऽपि श्लाघ्यो भुवनभयभङ्गव्यसनिनः ।[4]

जो समस्त भुवनों के भय को दूर करने का व्यसनी है उसमें कुछ विकार भी हो तो वह श्लाघ्य ही है।

विकारं खलु परमार्थतोऽज्ञात्वाऽनारम्भः प्रतीकारस्य ।[5]

विकार का यदि ठीक-ठीक ज्ञान न हो तो उसके प्रतीकार का आरंभ व्यर्थ है।

विचार—

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः ।[6]

उत्तम विचार चारो ओर से हमें प्राप्त हों।

---

१ शुक्र० १।१५५
२ शांति० ८९।४
३ योवा० उ० ५८।१२
४ शि० म० १४
५ अ० शा० ३।९
६ ऋग्० १।८९।१

अथ खलु क्रतुमयः पुरुषः। यथा क्रतुरस्मिन् लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति।[1]

मनुष्य विचारों का पुतला है। इस लोक में मनुष्य का जैसा विचार होता है वैसा ही वह यहाँ से जाने के बाद बनता है।

विजय—

प्रकर्षतन्त्रा हि रणे जयश्रीः।[2]

रण में जयश्री प्राप्त करना अपनी उत्कृष्ट तैयारी के अधीन होता है।

विज्ञान—

न चैकसाध्यं पश्यामि विज्ञानं भुवि कस्यचित्।[3]

संसार में किसी भी विषय का सम्पूर्ण ज्ञान किसी एक व्यक्ति से साध्य नहीं है।

तद् विज्ञानं यत्र धर्मः।[4]

वही (यथार्थ) विज्ञान है जहाँ धर्म हो।

विदेश—

को विदेशः सविद्यानाम्।[5]

विद्वान् लोगों के लिए क्या विदेश है?

विद्या बन्धुजनो विदेशगमने।[6]

विदेशयात्रा में विद्या ही बन्धु होती है।

विदेशे बन्धुलाभो हि मरावमृतनिर्झरः।[7]

विदेश में बन्धु का मिल जाना एक मरुभूमि में अमृत के निर्झर के समान होता है।

---

१ छा० उ० ३।१४।१
२ किराता० ३।१७
३ अनु० १४६।२५
४
५
६ भ० नी० ७०
७ क० स० ५।२।७०.

विद्या–

द्वे विद्ये वेदितव्ये, इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति, परा चैवापरा च।[1]

दो विद्यायें जाननी चाहिये जैसा कि ब्रह्मज्ञानी लोग कहा करते हैं, परा और अपरा। [अध्यात्मशास्त्र को पर विद्या कहते हैं और अन्य सभी शास्त्रों को अपरा विद्या कहते हैं]।

क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या।[2]

जो विनाशशील है वह अविद्या है और जो अविनाशी है वह विद्या है।

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते।[3]

अविद्या अर्थात् लौकिक शास्त्रों से मृत्यु (संकटों) को पार कर मनुष्य विद्या अर्थात् अध्यात्मशास्त्र से अमरता प्राप्त करता है।

यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति।[4]

जो भी काम मनुष्य विद्या, श्रद्धा तथा तात्त्विक ढंग से करता है, वही सुदृढ होता है, पक्का होता है।

श्रद्धधानः शुभां विद्यामाददीतावरादपि।[5]

किसी निम्न पुरुष से भी अच्छी विद्या को श्रद्धापूर्वक ग्रहण करना चाहिये।

विद्या हि सा ब्रह्मचर्येण लभ्या।[6]

वह अध्यात्मविद्या ब्रह्मचर्य से प्राप्त होती है।

---

१ मु० उ० १।४
२ श्वे० उ० ५।१
३ ई० उ० ११
४ छा० उ० १।१।१०
५ मनु० २।२३८
६ उद्योग० ४४।२

या वै विद्याः साधयन्तीह कर्म तासां फलं विद्यते नेतरेषाम् ।[१]

जिन विद्याओं के अध्ययन से मनुष्य की कार्यसिद्धि होती है उन्हीं विद्याओं का अध्ययन सफल है अन्य विद्याओं का नहीं।

अशुश्रूषा त्वरा श्लाघा विद्यायाः शत्रवस्त्रयः ।[२]

गुरुशुश्रूषा न करना, पढ़ने में त्वरा करना तथा अपनी प्रशंसा करना ये तीन विद्या के शत्रु हैं।

विद्या योगेन रक्ष्यते ।[३]

अभ्यास से विद्या की रक्षा होती है।

किमसाध्यं वरारोहे यस्मै विद्या प्रसीदति ।[४]

पार्वती, जिस मनुष्य पर विद्या प्रसन्न हो जाती है उसके लिये क्या असाध्य है और कौन काम असंभव है?

यो यया विद्यया युक्तः तस्य सा दैवतं महत् ।[५]

जो जिस विद्या से युक्त है वही उसके लिए बड़ी देवता है।

सा विद्या या विमुक्तये ।[६]

वही विद्या है जो मनुष्य को मुक्ति प्रदान करे।

प्रायः समानविद्याः परस्परयशःपुरोभागाः ।[७]

जो समान विद्यावाले होते हैं वे प्रायः एक-दूसरे का यश नहीं सह पाते हैं।

किं किं न साधयति कल्पलतेव विद्या ।[८]

कल्पलता के समान विद्या कौन-कौन काम सिद्ध नहीं कर देती।

---

१ उद्योग० २९।४
२ उद्योग० ४०।४
३ उद्योग० ३४।४०
४ का० त० १७।३२
५ भाग०
६ वि० पु० १।१९।४१
७ मा० अ० १।२०
८ भोज० ५

विद्याहीना न शोभन्ते निर्गन्धा इव किंशुकाः ।[१]

विद्याहीन मनुष्य गन्धहीन विशुक के फूल के समान शोभित नहीं होते।

गृहासक्तस्य नो विद्या ।[२]

जो विद्यार्थी घर के प्रपंच में फँसा रहता है उसे विद्या नहीं आती।

विद्या मित्रं प्रवासेषु ।[३]

प्रवास (यात्रा) में विद्या मित्र होती है।

आलस्योपहता विद्या ।[४]

आलस्य करने से विद्या नहीं आती।

विद्या रूपं कुरूपाणाम् ।[५]

कुरूप लोगों के लिए विद्या ही रूप है।

अभ्यासाद् धार्यते विद्या ।[६]

अभ्यास करते रहने से विद्या स्थिर रहती है।

क्षणनाशे कुतो विद्या ।[७]

एक क्षण भी बेकार गया तो विद्या कहाँ ?

भूषणानां भूषणं सविनया विद्या ।[८]

विनययुक्त विद्या भूषणों का भी भूषण है।

विषं कुशिक्षिता विद्या ।[९]

विधिपूर्वक न पढ़ी हुई विद्या विषतुल्य (हानिकारक) होती है।

---

१ हि० प्र० ४०
२ चा० नी० ११५
३ चा० नी० ५।१५
४ चा० नी० ५।७
५ चा० नी० ३।९
६ चा० नी० ५।८
७ चा० नी०
८ चा० लू० ५।७४
९ वृ० नी० ७।२६

गतेऽपि वयसि ग्राह्या विद्या सर्वात्मना बुधैः ।[1]

बुद्धिमान् व्यक्ति को अवस्था बीत जाने पर भी सब प्रकार से लगकर विद्या का अध्ययन करना चाहिये ।

सद्विद्या यदि का चिन्ता वराकोदरपूरणे ।[2]

यदि उत्तम विद्या है तो बेचारे पेट के भरने की क्या चिन्ता है ?

विद्या धर्मेण शोभते ।[3]

विद्या धर्म से—अच्छे आचरण से—शोभित होती है ।

विद्याविहीनः पशुः ।[4]

विद्या से विहीन मनुष्य पशु है ।

विद्या ददाति विनयम् ।[5]

विद्या विनय देती है, मनुष्य को विनम्र बनाती है ।

कामं खलु सर्वस्यापि कुलविद्या बहुमता ।[6]

अपनी अपनी कुलविद्या सबको बहुत मान्य एवं प्रिय होती है ।

विद्या एवं विनय—

विद्या विनयोपेता हरति न चेतांसि कस्य मनुजस्य ।[7]

विद्या यदि विनम्रता से युक्त है तो वह किसके हृदय को नहीं हर लेती।

विद्या हृद्यापि सावद्या विना विनयसम्पदम् ।[8]

उत्तम विद्या भी यदि विनय से रहित हो तो वह निन्दनीय होती है।

विद्यारत्नं महाधनम् ।[9]

विद्यारूपी रत्न सबसे बड़ा धन है ।

---

१ सुभा० २६४५
२ सु० र० भा० पृ० ३०
३
४ भ० नी० ७०
५ हि० प्र० ६
६ मा० अ० १।३
७
८
९ चा० नी० शा० सं० ३९९

दुरधीता विषं विद्या ।[1]

अनुचित रूप से पढ़ी हुई विद्या विषतुल्य होती है।

विद्यार्थी—

कुतो विद्यार्थिनः सुखम् ।[2]

विद्यार्थी को सुख कहाँ ?

विद्वान्—देखिये "पण्डित"

विधि-विधाता—

सर्वाणि भूतानि विधिर्नियुंक्ते ।[3]

समस्त प्राणियों को विधि ही विविध कार्यों में लगाता है।

विधेर्विचित्राणि विचेष्टितानि ।[4]

विधि के विधान विचित्र होते हैं।

विधेर्विधानं विधिरेव वेत्ति ।[5]

विधि के विधान को विधि ही जानता है।

प्रतिकूलतामुपगते हि विधौ विफलत्वमेति बहुसाधनता ।[6]

विधि के प्रतिकूल हो जाने पर बहुत साधनों का रहना भी निरर्थक हो जाता है।

विधिः किल नरं लोके विधानेनाऽनुवर्तते ।[7]

विधि अपने विधान के अनुसार मनुष्य को चलाता है।

न विधिं ग्रसते प्रज्ञा प्रज्ञा तु ग्रसते विधिम् ।[8]

विधि को प्रज्ञा नहीं ग्रसती प्रत्युत विधि ही प्रज्ञा को ग्रस लेता है।

---

१ चा० नी० शा० सं० ४६३
२ चा० नी० १०।३
३ शांति० १६७।४०
४
५
६ शि० व० ९।६
७ वा० रा० ४।५६।४
८ आदि० ११८।१०

उत्क्रम्य गच्छति विधिः सुपरीक्षितानि ।[1]

विधि अच्छी जाँच-पड़ताल के बाद किये हुए कामों को भी विगाड़ कर चला जाता है।

विधिरुच्छृंखलो नृणाम् ।[2]

त्रयोऽपि लोका विहितं विधानं नातिक्रमन्ते वशगा हि तस्य ।[3]

विधि ने जो विधान बना दिया है उसका उल्लंघन तीनों लोक भी नहीं कर सकते हैं। क्योंकि वे सब उस विधि के अधीन हैं।

यद् धात्रा लिखितं ललाटफलके तन्माजितुं कः क्षमः ।[4]

जो कुछ विधाता ने ललाट की पटरी पर लिख दिया है उसे कौन मिटा सकता है ?

को जानाति क्षणाद्ध्वं विधाता किं करिष्यति ।[5]

कौन जानता है कि विधाता एक क्षण के बाद क्या कर डालेगा ?

विनय—

विनयः खलु भूषणं विद्यायाः ।[6]

विनय विद्या का भूषण है।

विनयाद् याति पात्रताम् ।[7]

विनय होने से मनुष्य समाज में पात्रता को प्राप्त करता है।

अनुत्सेकः खलु विक्रमालंकारः ।[8]

अनुत्सेक (गर्व का न होना, विनय) पराक्रम का अलंकार है।

---

१ स्वप्न० १।११
२ भा० वि० १२७
३ वा० रा० कि० २४।४३
४ जा० नी० १२।६
५ पु० प० ७।११
६
७ हितो० प्र० ६
८ सो० नी० ५।२२

विनयस्य मूलं वृद्धोपसेवा ।[1]

वृद्धों की सेवा-शुश्रूषा विनय का मूल है।

विनाश—

विनाशकाले विपरीतबुद्धिः ।[2]

विनाश का समय उपस्थित होने पर बुद्धि विपरीत हो जाती है, उलटी हो जाती है।

उपस्थितविनाशो वाक्यं न शृणोति ।[3]

विनाश का समय उपस्थित हो जाने पर मनुष्य किसी की बात नहीं सुनता।

विपद्—

प्रत्यासन्नविपत्तिमूढमनसां प्रायो मतिः क्षीयते ।[4]

जिनका मन आसन्न विपत्ति के कारण मूढ़ हो जाता है उनकी बुद्धि क्षीण हो जाती है।

विपद् विस्मरणं विष्णोः सम्पन्नारायणस्मृतिः ।[5]

भगवान् को भूल जाना ही विपत्ति है और भगवान को स्मरण रखना ही सम्पत्ति है।

यद्ध किञ्च विचिकित्सति श्रेयसि हैव ध्रियते ।[6]

मनुष्य जब किसी बात पर शंका करता है और वास्तविकता का पता लगाने के लिए सोचता-विचारता है तो वह अच्छा ही करता है।

संपदां हेतुमूला च विपत्तिः सर्वदेहिनाम् ।[7]

विपत्ति सभी मनुष्यों की संपदाओं का मूल कारण होती है।

---

१ चा० सू० १।६
२ चा० नी० १६।५
३ चा० सू० ६।२६
४ पञ्च० २।४
५
६
७ दे० भा० ९।७।२२

विना विपत्तेर्महिमा केषां पद्मभवे भवेत् ।[१]

हे कमले ! बिना विपत्ति के किस की महिमा उजागर हो सकती है ?

विपदि हन्त सुधाऽपि विषायते ।[२]

विपत्ति में अमृत भी विष हो जाता है।

अपरिच्छेदकर्तृणां विपदः स्युः पदे पदे ।[३]

जो लोग उचित-अनुचित का विवेक नहीं करते उनके पग-पग पर विपत्तियाँ आती रहती हैं।

प्रायः समापन्नविपत्तिकाले धियोऽपि पुंसां मलिनीभवन्ति ।[४]

विपत्ति के समीप आ जाने पर प्रायः मनुष्यों की बुद्धि मलिन हो जाती है-बिगड़ जाती है।

विरक्त—

विरक्तस्य तृणं जगत् ।[५]

विरक्त पुरुष के लिए जगत् तृण है अर्थात् तृण के समान तुच्छ है।

निवृत्तरागस्य गृहं तपोवनम् ।[६]

जिसका राग-द्वेष निवृत्त हो गया उसके लिए घर ही तपोवन है।

विवेक—

विवेकः पोतको महान् ।[७]

विवेक बड़ा भारी जहाज है।

विवेकस्त्रिषु लोकेषु सम्पदां परमं पदम् ।[८]

तीनों लोकों में सबसे बड़ी सम्पत्ति विवेक है।

१
२
३ हि० १।१४८
४ हि० १।२८
५ चा० नी० ५।१४
६ हितो० ४।८५
७ योवा० नि० उ० ४८।३९
८

विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः ।[1]

जिन लोगों का विवेक नष्ट हो जाता है उनका सौ-सौ प्रकार से पतन हो जाता है।

अविवेकः परमापदां पदम् ।[2]

विवेक का अभाव आपत्तियों का सबसे बड़ा कारण है।

विषाद्—देखिये—निर्वेद

विषादो विषमुत्तम ।[3]

विषाद सबसे बड़ा विष है।

न विषादे मनः कार्यं विषादो दोषवत्तरः ।[4]

मन में विषाद नहीं आना चाहिए। विषाद बहुत बड़ा दोष है।

विषादो हन्ति पुरुषम् ।[5]

विषाद मनुष्य को खतम कर डालता है।

विषय—

आपातरम्या विषयाः पर्यन्तपरितापिनः ।[6]

विषय थोड़ी देर के लिए रमणीय प्रतीत होते हैं पर अन्त में कष्टदायी होते हैं।

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।[7]

विषयों का ध्यान करनेवाले मनुष्य की उनमें आसक्ति हो जाती है।

विषयेभ्यो नमस्कुर्याद् विषयान्न च मानयेत् ।[8]

विषयों को नमस्कार कर देना चाहिये, उनको महत्त्व नहीं देना चाहिये।

---

१ भ० नी० १०
२ कि० २।३०
३ वन० २१६।२४
४ वा० रा० ४।६४।९
५ वा० रा० ४।६४।९
६ कि० ११।१२
७ भ० गी० ६।२६
८ शान्ति० १९६।१५

विषयेच्छानुवर्त्तिन्यो निसर्गात् प्राणिनां धियः ।[1]

स्वभाव से ही प्राणियों की बुद्धि विषयगत इच्छाओं का अनुसरण करती है।

अवश्यं यातारश्चिरतरमुषित्वाऽपि विषयाः ।[2]

विषय बहुत दिनो तक साथ में रहकर भी निश्चितरूप से चले ही जायगें।

विवेकी—

शीतलानि पवित्राणि चरित्राणि विवेकिनः ।[3]

विवेकी पुरुषों के चरित्र शीतल और पवित्र होते हैं।

विश्वास -

विश्वासः सम्पदां मूलम्।[4]

विश्वास सम्पत्तियों का मूल कारण होता है।

आत्मप्रत्ययकोषस्य वसुदैव वसुन्धरा ।[5]

जिसके पास आत्मविश्वासरूपी कोश है उसके लिए सारी पृथ्वी ही धन देनेवाली है।

प्राणादपि प्रत्ययो रक्षितव्यः ।[6]

प्राण देकर भी विश्वास बनाये रखना चाहिये।

न विश्वासघातात् परं पातकमस्ति ।[7]

विश्वासघात से बढ़कर कोई पातक नहीं होता।

---

१ का० क० ४ ५ उद्योग० ३८।२५
२ वे० श० १२ ६ सो० नी० १०।१४४
३ योवा० नि० उ० ४७।८ ७ सो० नी० ३०।९६
४ पञ्च० २।२३

विश्वासघातिनां पापं न नश्येत् जन्मकोटिभिः ।[1]

विश्वासघाती लोगों का पाप करोड़ों जन्म लेने पर भी नष्ट नहीं हो सकता।

विश्वासघातिनो न निष्कृतिः ।[2]

विश्वासघाती मनुष्य के लिए कोई प्रायश्चित्त नहीं होता।

विस्तार—

विस्तराः क्लेशसंयुक्ताः संक्षेपास्तु सुखावहाः ।[3]

विस्तार क्लेशप्रद होता है और संक्षेप सुखप्रद होता है।

पराथँ विस्तराः सर्वे त्यागमात्महितं विदुः ।[4]

सभी विस्तार दूसरों के लिए होने चाहिये। अपने हित के लिए तो त्याग ही उत्तम है।

विस्मय—

विस्मयः सर्वथा हेयः प्रत्यूहः सर्वकर्मणाम् ।[5]

विधि के विधान की चिन्ता बिलकुल छोड़ देनी चाहिये? क्योंकि वह सब काम में बाधक होती है।

वीर—

वीरभोग्या वसुन्धरा ।[6]

वसुन्धरा वीरों के लिए ही भोगयोग्य होती है।

वीराः संभावितात्मानो न दैवं पर्युपासते ।[7]

आत्मबली वीर पुरुष दैव की अपेक्षा नहीं करते।

---

१ स्क० वै० वे० १३।२२
२ चा० सू० ८।६
३ शान्ति० २९८।२०
४ शान्ति २९८।२०
५ हि० २।१५
६
७ वा० रा० २।२३।९६

को वीरस्य मनस्विनः स्वविषयः को वा विदेशस्तथा
यं देशं श्रयते तमेव कुरुते बाहुप्रतापोर्जितम् ।[१]

वीर मनस्वी पुरुष के लिए क्या स्वदेश है और क्या विदेश ? वह जिस देश में भी जाता है उसी को अपने बाहुओं के बल से अपने अधीन बना लेता है ।

वृत्त (अच्छा आचरण)—

पुरुषं वृत्तसम्पन्नमात्मापि बहु मन्यते ।[२]

वृत्त से सम्पन्न पुरुष को स्वयं अपनी आत्मा भी बहुत मानती है ।

अन्त्येष्वपि हि जातानां वृत्तमेव विशिष्यते ।[३]

अन्त्य जातियों में उत्पन्न लोगों का भी वृत्त ही उनकी प्रतिष्ठा का कारण होता है ।

न कुलं वृत्तहीनस्य प्रमाणमिति मे मतिः ।[४]

जो व्यक्ति वृत्तहीन है उसका केवल कुल प्रतिष्ठा में प्रमाण नहीं होता ऐसी मेरी मान्यता है । (विदुर की शक्ति)

अक्षीणो वित्ततः क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः ।[५]

जो धन से क्षीण है वह क्षीण नहीं है पर जिसका वृत्त नष्ट हो गया वह तो नष्ट ही हो गया ।

वृत्तं यत्नेन संरक्ष्यं वित्तमेति च याति च ।[६]

वृत्त की यत्न से रक्षा करनी चाहिये । वित्त तो आता-जाता रहता है ।

कुलानि न प्ररोहन्ति यानि हीनानि वृत्ततः ।[७]

जो कुल आचरण से हीन होते हैं उनकी उन्नति नहीं होती ।

---

१ हि० १।१७१
२
३ उद्योग० ३४।४३
४ उद्योग० ३४।४२
५ उद्योग० ३६।६०
६ उद्योग० ३६।३०
७ उद्योग० ३६।३१

वृत्ति—

वृत्तिर्धर्माद् गरीयसी ।[१]

वृत्ति (जीविका) धर्म से भी बढ़कर होती है।

न तद्दानं प्रशंसन्ति येन वृत्तिर्विपद्यते ।[२]

वह दान प्रशंसनीय नहीं होता जिसके कारण जीवननिर्वाह खतरे में पड़ जाय।

वृत्युपायान् निषेवेत ये स्युर्धर्माविरोधिनः ।[३]

जीविका के जो साधन धर्मविरोधी न हों उन्हीं का आश्रय लेना चाहिये।

अंजसा येन वर्तेत तदेवास्य हि दैवतम् ।[४]

जिस जीविका से मनुष्य सुखपूर्वक जी सके वही उसके लिए देवता है।

वृद्ध—

न तेन वृद्धो भवति येनाऽस्य पलितं शिरः ।[५]

कोई मनुष्य इस कारण वृद्ध नहीं होता कि उसके बाल पक गये हैं।

वृद्धा न ते ये न वदन्ति धर्मम् ।[६]

वे वृद्ध नहीं जो धर्म की बात नहीं करते।

श्रोतव्यं खलु वृद्धानामिति शास्त्रनिदर्शनम् ।[७]

वृद्धों की, बड़े बूढ़ों की बात सुननी चाहिये ऐसा शास्त्रों का कथन है।

---

१ शान्ति० १३०।९४
२ भाग० ८।२०।३६
३ च० सं० ११।४०
४ भाग० १०।२४।१८
५ मनु० २।१५६
६ उद्योग० १६८।२६
७ उद्योग० १६८।२६

वृद्धो जनः कष्टशतानि भुंक्ते ।[१]

वृद्ध मनुष्य सैकड़ों कष्ट भोगता है।

वृद्धो याति गृहीत्वा दण्डं तदपि न मुञ्चत्याशापिण्डम् ।[२]

वृद्ध दण्ड लेकर चलने लगता है फिर भी उसके पिण्ड को आशा नहीं छोड़ती।

नोपभोक्तुं न च त्यक्तुं शक्नोति विषयान् जरी ।[३]

वृद्ध व्यक्ति न विषयों को भोग ही सकता है और न छोड़ ही सकता है।

वृद्धानां वचनं ग्राह्यमापत्काले ह्युपस्थिते ।[४]

आपत्ति के समय वृद्धों को बात माननी चाहिये।

हा कष्टं जरयाऽभिभूतपुरुषः पुत्रैरवज्ञायते ।[५]

हा, यह कष्ट की बात है कि जरा से ग्रस्त पुरुष पुत्रों द्वारा अपमानित होता है।

वार्द्धके वर्द्धते स्पृहा ।[६]

वृद्धावस्था में लालच बढ़ जाती है।

मरणान्तानि वैराणि ।[७]

मरण के बाद वैर का अन्त हो जाता है।

वैर—

नहि वैरेण वैराणि शाम्यन्तीह कदाचन ।[८]

वैर से कभी वैर नहीं शान्त होता।

१
२ भ० गो० १५
३ हितो० १।११३
४ हितो० १।२३
५ पञ्च० ४।७५
६ योवा० वै० २२।८
७ वा० रा० ६।१०९।२५
८ सभा० ५६।११

वैरं विकारं सृजति तद्धे शस्त्रमनायसम् ।[1]

वैर आपस में विकार को पैदा करता है और वह बिना लोहे का (घातक) हथियार है।

वैतृष्ण्य—

अविदित्वा सुखं ग्राम्यं वैतृष्ण्यं नैति पूरुषः ।[2]

बिना ग्राम्य सुख का अनुभव किये मनुष्य को तृष्णा समाप्त नहीं होती।

व्यवसाय —

विद्या तपो वा विपुलं यशो वा सर्वं ह्येतद् व्यवसायेन साध्यम् ।[3]

विद्या, तप अथवा विपुल यश यह सब व्यवसाय से ही साध्य होता है, प्राप्त होता है।

अव्यवसायः कालातिपत्तिकराणाम् ।[4]

किसी भी व्यवसाय में स्थिर न रहना बेकार समय बिताने के कारणों में प्रधान होता है।

ज्ञानिभ्यो व्यवसायिनः ।[5]

ज्ञानियों से भी कर्म करने वाले पुरुष श्रेष्ठ होते हैं।

यस्तु क्रियावान् पुरुषः स विद्वान् ।[6]

जो मनुष्य क्रियावान है वही विद्वान् है।

किं दूरं व्यवसायिनाम् ।[7]

व्यवसायी लोगों के लिए क्या दूर है ?

---

१ भाग० ९।१०।४०
२ शान्ति १२०।४५
३ शान्ति० १२०।४५
४ च० सं० १।२५
५
६ हित० १।१६७
७ योवा० उ० २९।३८

देखिए—"उद्योग, प्रयत्न"।—

व्यवस्था—

नहि व्यवस्था भवति यदि पापो न वार्यते।[1]

यदि पाप को न रोका जाय तो कोई व्यवस्था नहीं चल सकती।

व्यवहार—

व्यवहारेण जायन्ते मित्राणि रिपवस्तथा।[2]

मित्र तथा शत्रु व्यवहार से ही हुआ करते हैं।

व्यवहारं परिज्ञाय वध्यः पूज्योऽथवा भवेत्।[3]

व्यवहार को जानने के बाद ही कोई पूज्य अथवा बध्य होता है।

लोके गुरुत्वं विपरीततां वा
स्वचेष्टितान्येव नरं नयन्ति।[4]

संसार में अपने कर्तव्य ही मनुष्य के गौरव अथवा लाघव के कारण होते हैं।

धर्मादपि व्यवहारो गरीयान्।[5]

व्यवहार धर्म से भी बढकर महत्त्वशाली होता है।

व्यसन—

अविद्याविनयः पुरुषव्यसनहेतुः।[6]

विद्या और विनय का न होना मनुष्यों के दुःख का कारण होता है।

नहि व्यसनमासाद्य सीदन्ति कृतबुद्धयः।[7]

बुद्धिमान पुरुष व्यसन में भी कष्ट का अनुभव नहीं करते।

---

१ शान्ति० ९०।१
२ हि० १।७१
३ हि० १।५८
४ हितो० २।४८
५ चा० सू० ८।३०
६ कौ० अ० ८।२९।३
७ आश्व० ६१।२२

व्यसनस्य च मृत्योश्च व्यसनं कष्टमुच्यते ।[१]

व्यसन एवं मृत्यु इन दोनों में व्यसन ही कष्टकारक माना जाता है, मृत्यु नहीं।

व्यसनं मनागपि बाधते ।[२]

व्यसन थोड़ा भी हो तो भी कष्ट पहुँचाता है।

कालोऽयं व्यसनप्रसारितकरो गृह्णाति दूरादपि ।[३]

यह काल (मृत्यु) व्यसनरूपी हाथ बढ़ाकर दूर से भी लोगों को पकड़ लेता है।

व्यसनी परिभूयते ।[४]

व्यसनी मनुष्य परिभव का पात्र होता है।

व्याकरण –

मुखं व्याकरणं स्मृतम् ।[५]

शास्त्रों में व्याकरणशास्त्र मुख कहा गया है।

वाणी व्याकरणं विना ।[६]

व्याकरण के बिना वाणी शुद्ध नहीं होती।

शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ।[७]

जो शब्दब्रह्म के ज्ञान में निष्णात है वही परब्रह्म को जान पाता है।

वाङ्मलानां चिकित्सितम् ।[८]

व्याकरणशास्त्र वाणी के दोषों की चिकित्सा है, औषध है।

---

१ मनु० ७।५३१
२ चा० सू० ४।२०
३ हितो० १।५२
४ वन० १५०।३८
५ पा० शि० ४२
६
७ ब्र० वि० १७
८ वा० प० १।१४

व्यायाम—

व्यायामदृढगात्रस्य व्याधिर्नास्ति कदाचन ।[१]

व्यायाम करने के कारण जिसका शरीर हृष्ट-पुष्ट हो जाता है उसे कभी व्याधि नहीं होती।

व्रत—

व्रतेन दीक्षामाप्नोति ।[२]

व्रतों के पालन से मनुष्य दीक्षा-योग्यता प्राप्त करता है।

व्रताभिरक्षा हि सतामलंक्रिया ।[३]

व्रतों को रक्षा करना सज्जन पुरुषों का अलंकार है।

शंका—देखिए "संशय"।

सशङ्कः सर्वदा दुःखी निःशङ्कः सर्वदा सुखी ।[४]

शङ्कित आदमी सदा दुःखी रहता है और निःशङ्क आदमी सदा सुखी रहता है।

शक्ति—

परस्परसाधका हि शक्तिदेशकालाः ।[५]

शक्ति, देश और काल ये तीनों परस्पर मिलकर किसी कार्य के साधक होते हैं।

शक्तिरेव हि सर्वत्र कारणं विजयश्रियः ।[६]

शक्ति ही विजयश्री का सर्वत्र कारण होती है।

शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुम् ।[७]

जब शिव शक्ति से युक्त होते हैं तभी वह कुछ करने में समर्थ होते हैं।

१
२ यजु० १९।३०
३ किराता० १४।१४
४ वृ० ना० ४।७४
५ कौ० अ० ९।१३५।१
६
७ सौ० ल० १

अप्रकटीकृतशक्तिः शक्तोऽपि जनस्तिरस्क्रियां लभते ।[१]

यदि (शक्त) समर्थ व्यक्ति भी अपनी शक्ति को समय पर प्रगट न करे तो वह तिरस्कृत होता है, अपमानित होता है।

शक्तिहीनं तु निन्द्यं स्यात् वस्तुमात्रं चराचरम् ।[२]

चर एवं अचर वस्तुमात्र यदि शक्तिहीन हो तो वह निन्दनीय होता है।

शब्द—

एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः सुष्ठु प्रयुक्तः शास्त्रान्वितः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति ।[३]

एक ही शब्द यदि अच्छी तरह ज्ञात हो, अच्छी तरह प्रयोग किया गया हो तथा शास्त्रानुकूल हो तो वह स्वर्ग तथा लोक दोनों में बोलनेवाले की इच्छायें पूरी करता है, फलप्रद होता है।

दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा,
मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह ।[४]

जो शब्द स्वर अथवा वर्ण के दोष से युक्त होता है तथा उसका प्रयोग सही ढंग से नहीं किया जाता है तो वह शब्द कारगर नहीं होता है।

अन्तर्गतं तमश्छेत्तुं शाब्दबोधो न हि क्षमः ।[५]

केवल शब्दों का ज्ञान हृदय के अन्तर्गत अन्धकार को दूर करने में समर्थ नहीं होता।

असदुच्चैरपि प्रोक्तः शब्दः समुपशाम्यति ।[६]

बुरा शब्द बहुत जोर-शोर से कहा जाय तब भी वह बेकार हो जाता है।

---

१ पञ्च० १।३१
२ दे० भा० ११८।३३
३ म० भा० पस्पशा०
४ म० भा० पस्पशा०
५ दे० भा० ६।१५।५४
६ शान्ति० २८७।३२

शरण—

शरण्यः सर्वभूतानां गतिमाप्नोत्यनुत्तमाम् ।[1]

जो मनुष्य सब प्राणियों को शरण प्रदान करता है वह उत्तम गति प्राप्त करता है ।

शरीर—

न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति ।[2]

जो मनुष्य शरीरधारी है वह प्रिय और अप्रिय भाव से कभी मुक्त नहीं हो सकता ।

सर्वान् संसाधयेदर्थान् अक्षिण्वन् योगतस्तनुम् ।[3]

शरीर को हानि न पहुँचाते हुए उपाय से सभी विषयों को सम्पन्न करना चाहिए ।

सर्वार्थसम्भवो देहः ।[4]

देह समस्त अर्थों की प्राप्ति का साधन है ।

तस्य आत्मदेह एव वैरी यो यस्य यथालाभमशनं शयनं च न सहेत ।[5]

उस मनुष्य के लिए अपना शरीर ही बैरी हो जाता है, जो जब जैसा भोजन और शयन मिले उससे सन्तुष्ट नहीं रह पाता ।

त्रय उपस्तम्भाः । आहारः स्वप्नो ब्रह्मचर्यञ्चेति ।[6]

शरीररूपी मकान को धारण करने वाले तीन उपस्तम्भ (खंभे) होते हैं—आहार, निद्रा एवं ब्रह्मचर्य (गृहस्थाश्रम में नियमित कामभोग) ।

---

१ शान्ति० २४२।२०
२ छा० उ० ८।१२।१
३ मनु० २।१००
४ भाग० १०।६५।१५
५ सो० नी० ३२।५४
६ च० सं० ११।२।३३

शरीररक्षा हि सतामलंक्रिया ।[१]

शरीर की रक्षा करना सज्जन पुरुषों का अलंकार है।

शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम् ।[२]

शरीर धर्म करने का सबसे पहला साधन है।

कायः कस्य न वल्लभः ।[३]

अपना शरीर किसको नहीं प्रिय होता ?

शान्त—

नवे वयसि यः शान्तः स शान्त इति कथ्यते ।[४]

जो नई अवस्था में शान्त रहता है वही शान्त कहलाता है।

वनं वा गेहं वा सदृशमुपशान्तैकमनसाम् ।[५]

जिन लोगों का मन विषयों से बिल्कुल शान्त हो गया है उनके लिए वन अथवा घर बराबर ही है।

अशान्तस्य कुतः सुखम् ।[६]

जो शान्त नहीं उसे सुख कहाँ ?

शान्ति—

शान्तिं योगेन विन्दति ।[७]

योग से शान्ति प्राप्त होती है।

न शान्तेः परमं सुखम् ।[८]

शान्ति से बढ़कर कोई सुख नहीं।

१

२ कु० सं० ५।३३

३ पञ्च० १।२४५

४ सु० र० भा० पृ० १५६

५ म० सु० सं० ३४४

६ गीता २।६६

७ उद्योग० ३६।५५

८

ज्ञानेन यच्छेदात्मानं य इच्छेच्छान्तिमात्मनः ।[1]

जो शान्ति चाहे उसे ज्ञान के द्वारा अपने को संयत रखना चाहिये।

तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ।[2]

जो धीरपुरुष उस आत्मतत्त्व को अपने में विराजमान देखते हैं उन्हीं को शाश्वत शान्ति प्राप्त होती है दूसरों को नहीं।

भूतेषु बद्धवैरस्य न मनः शान्तिमृच्छति ।[3]

जो व्यक्ति प्राणियों के साथ वैरभाव रखता है उसके मन में कभी शान्ति नहीं होती।

शास्त्र—

नित्यं शास्त्राण्यवेक्षेत ।[4]

नित्य शास्त्रों का अवलोकन करना चाहिए।

धर्मार्थावध्रुवौ तस्य यो न शास्त्रपरो भवेत् ।[5]

जो शास्त्रानुसार नहीं चलता उसके धर्म और अर्थ दोनों ही अनिश्चित होते हैं।

येषां शास्त्रानुगा बुद्धिस्ते न मुह्यन्ति भारत ।[6]

जिनकी बुद्धि शास्त्रानुसारिणी होती है उनसे कभी भूल नहीं होती।

अनभ्यासे विषं शास्त्रम् ।[7]

अभ्यास न करने पर शास्त्र विष अर्थात् विष के समान अनिष्टकारी होता है।

---

१ शान्ति० २६६।५
२ कठ० २।५।१३
३ भाग० ३।२९।२३
४ मनु० ४।१९
५ शान्ति० ७१।१३
६ आदि १।४४
७ चा० नी० ४।१५

तस्मात् शास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।[१]

क्या कार्य है और क्या अकार्य है इसका निर्णय करने में शास्त्र ही प्रमाण है।

शास्त्रं सुचिन्तितमपि प्रविचिन्तनीयम् ।[२]

अच्छी तरह चिन्तित शास्त्र का भी पुनः चिन्तन करते रहना चाहिये।

शास्त्रज्ञोऽपि अलोकज्ञो मूर्खतुल्यः ।[३]

शास्त्रज्ञ पुरुष भी लोकज्ञान से रहित हो तो वह मूर्ख के समान होता है।

भारोऽविवेकिनः शास्त्रम् ।[४]

विवेकहीन पुरुष के लिए शास्त्र भारस्वरूप होता है।

कार्येष्वदृष्टकर्मा यः शास्त्रज्ञोऽपि विमुह्यति ।[५]

जिसने अपने ज्ञान का कार्यों में प्रयोग नहीं किया वह शास्त्रज्ञ होने पर भी गलती करता है।

अनभ्यासे विषं शास्त्रं, अभ्यासे त्वमृतं भवेत् ।[६]

अभ्यास न होने पर शास्त्र विष के समान होता है पर अभ्यास होने पर तो अमृत के समान हो जाता है।

शास्त्रं हि निश्चितधियां क्व न सिद्धिमेति ।[७]

जिनकी बुद्धि निश्चयात्मक होती है उनके लिये शास्त्र कहाँ नहीं साधक होता है ?

---

१ भ० गी० १६।२४

२ हितो ४।९

३ चा० सू० ८।२६

४ योवा० वे० १४।१३

५ हितो० ३।६१

६ विश्वा० स्मृ० ३।१३

७ शि० व० ५।४७

शस्त्रेण रक्षिते राष्ट्रे शास्त्रचिन्ता प्रवर्तते ।[१]

जब शस्त्रबल द्वारा राष्ट्र सुरक्षित रहता है तभी शास्त्रों का चिन्तन-मनन चलता है।

यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किम् ।[२]

जिसको स्वयं बुद्धि नहीं उसके लिए शास्त्र क्या करेगा ?

अनेकसंशयोच्छेदि परोक्षार्थस्य दर्शकम् ।[३]

अनेक संशयों को दूर करनेवाला तथा परोक्षविषयों का ज्ञान करानेवाला शास्त्र कहलाता है।

सुकृतः परिशुद्ध आगमः कुरुते दीप इवार्थदर्शनम् ।[४]

अच्छी तरह पढ़ा हुआ तथा परिष्कृत किया हुआ जो आगम (शास्त्र) होता है वह दीपक के समान अर्थों का स्पष्ट ज्ञान करा देता है।

शास्त्रं न शास्ति दुर्बुद्धिं श्रेयसे चेतराय च ।[५]

शास्त्र कल्याण अथवा अकल्याण के लिए दुर्बुद्धि व्यक्ति को उपदेश नहीं देता।

यः कश्चिन् न्याय्य आचारः सर्वं शास्त्रमिति श्रुतिः ।[६]

जो कोई भी न्यायोचित काम हो वह सब शास्त्र है, शास्त्रसंगत है, ऐसा वेदवचन कहता है।

शास्त्रं यदि भवेदेकं श्रेयो व्यक्तं भवेत्तदा ।[७]

शास्त्र यदि एक हो तो श्रेय अर्थात् परम कल्याण का ठीक-ठाक ज्ञान हो।

१
२ हितो० ३।११९
३ हितो० प्र० ११
४ किराता० २।३३
५ सभा० ७५।७
६ शान्ति० २७५।५८
७ शान्ति० २८७।१०

शास्त्रैश्च बहुभिर्मूयः श्रेयो गुह्यं प्रवेशितुम् ।[1]

शास्त्रों के अनेक होने के कारण श्रेय का समझ पाना बहुत कठिन है।

शिल्प—

आत्मसंस्कृतिर्वै शिल्पानि । आत्मानमेवास्य तत्संस्कुर्वन्ति ।[2]

शिल्प (कला) आत्मा के संस्कार हैं। अतः शिल्प मनुष्य के आत्मा को संस्कारित करते हैं।

शिष्य—

पुत्रादनन्तरं शिष्य इति धर्मविदो विदुः ।[3]

पुत्र के बाद शिष्य का स्थान होता है ऐसा धर्मज्ञ लोग कहते हैं।

शिक्षक—

विनेतुरद्रव्यपरिग्रहोऽपि बुद्धिलाघवं प्रकाशयति ।[4]

शिक्षक का अपनी विद्या देने के लिए अपात्र शिष्य को चुनना भी उसकी बद्धि की कमी को प्रकाशित करता है।

यस्यागमः केवलजीविकायै तं ज्ञानपण्यं वणिजं वदन्ति ।[5]

जिस विद्वान् का अध्ययन एवं ज्ञान केवल कमाने-खाने के लिये होता है वह ज्ञान बेचनेवाला बनिया कहा जाता है।

शिक्षित—

बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः ।[6]

अच्छी तरह सिखाये हुये लोगों का भी हृदय अपनी शिक्षा के विषय में विश्वस्त नहीं होता।

---

१ शान्ति० २८७।१०
२ गो० ब्रा० २।६।७
३ विराट्० ५०।२१
४ मा० अ० १
५ मा० अ० १।१७
६ अ० शा० १।२

सुशिक्षितोऽपि सर्व उपदेशदर्शनेन निष्णातो भवति ।[१]

सुशिक्षित व्यक्ति भी, प्रयोग के देखने से ही अपने शास्त्र में निष्णात होता है।

शिक्षा, दीक्षा—

शिक्षा क्षयं गच्छति कालपर्ययात् ।[२]

शिक्षा—सब कुछ पढ़ी-लिखी विद्या काल के परिवर्तन से खतम हो जाती है—भूल जाती है।

शील—

शीलेन हि त्रयो लोकाः शक्ता जेतुं न संशयः ।[३]

शील के द्वारा तीनों लोक जीते जा सकते हैं, इसमें सन्देह नहीं।

अप्रमाणा प्रसूतिर्मे शीलतः क्रियते कुलम् ।[४]

केवल जन्म को मैं प्रमाण नहीं मानता। शील से ही कुल का निर्माण होता है।

सर्वं शीलवता जितम् ।[५]

शीलवान् पुरुष सब कुछ जीत लेता है।

दुश्शीलस्य कदर्यस्य द्रुह्यन्ते पुत्रबान्धवाः ।[६]

दुष्ट शीलस्वभाववाले एवं कृपण व्यक्ति से उसके पुत्र एवं बन्धुजन भी विद्रोह करते हैं।

शीलं भूषयते कुलम् ।[७]

शील कुल को विभूषित करता है।

---

१ मा० अ० १
२ कर्ण० १।२२
३ शांति० १२४।१५
४ शांति० १११।१२
५ उद्योग० ३४।४७
६ भाग० ११।२३।८
७ चा० नी० ८।११

शीलं परं भूषणम् ।[1]

शील सर्वश्रेष्ठ भूषण है।

कुलं शीलेन रक्ष्यते ।[2]

शील से कुल की रक्षा होती है।

कुरूपता शीलतया विराजते ।[3]

कुरूप व्यक्ति भी शीलवान् होने से सुन्दर लगता है।

किं कुलेनोपदिष्टेन शीलमेवात्र कारणम् ।[4]

कुल बतलाने से क्या ? मनुष्य के श्रेष्ठ होने में शील ही कारण है।

शुचि (शुद्ध, पवित्र)–

योऽर्थे शुचिः स हि शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः ।[5]

जो अर्थ के विषय में शुचि है वही शुचि है। मिट्टी और पानी से शुचि शुचि नहीं होता।

दुर्लभो हि शुचिर्नरः ।[6]

शुचि (ईमानदार) मनुष्य दुर्लभ होते हैं।

शुचिः सिद्धिमवाप्नोति ।[7]

शुचि मनुष्य ही सिद्धि प्राप्त करता है।

कर्मसंघर्षजैर्दोषैर्दूष्यतेऽशुचिभिः शुचिः ।[8]

कर्मसम्बन्धी आपसी संघर्ष से उत्पन्न दोषों के कारण बेईमान लोग भी इमानदार लोगों पर दोष लगा देते हैं।

---

१ भ० नी० २३
२ उद्योग० ३४।३९
३ चा० नी० ९।१४
४
५ मनु० ५।१०६
६ मनु० ७।७२
७ अनु० १०८।२१
८ शान्ति० १११।५९

शुचेरपि हि युक्तस्य दोष एव निपात्यते ।[१]

जो व्यक्ति ईमानदार है और अपना काम ठीक-ठीक करता रहता है फिर भी उस पर लोग दोष लगाया करते हैं।

लुब्धानां शुचयो द्वेष्याः ।[२]

लोभी लोग ईमानदार व्यक्तियों से शत्रुभाव रखते हैं।

शृङ्गार—

नाऽकामी मण्डनप्रियः ।[३]

विना कामवासना के कोई शृङ्गारप्रेमी नहीं होता।

शैशव—

शैशवानि कुतूहलवैभवानि ।[४]

शैशव (बचपन) कुतूहलों से भरा रहता है।

शूर—

शूरे सर्वं प्रतिष्ठितम् ।[५]

शूर पुरुष पर ही सब कुछ आधारित रहता है।

शूरबाहुषु लोकोऽयं लम्बते पुत्रवत् सदा ।[६]

यह लोक पुत्र के समान शूर के बाहुओं पर सदा अवलम्बित रहता है।

जितेन्द्रियो भवेत् शूरः ।[७]

जितेन्द्रिय व्यक्ति शूर-वीर होता है।

वृथा शूरा न गर्जन्ति शारदा इव तोयदाः ।[८]

शूर जन शरत् काल के बादलों के समान वृथा नहीं गरजते हैं।

---

१ शान्ति० १११।६०
२ शान्ति० १११।६१
३ चा० नी० ४।५
४
५ शान्ति० ९९।१८
६ शान्ति० ९९।१७
७ ज्ञा० सं० ८७
८ द्रोण० १५८।३०

सर्वत्र लाल्यते शूरः ।[1]

शूर मनुष्य सर्वत्र सम्मानित होता है।

शोक—

शोकः शौर्यापकर्षणः ।[2]

शोक शौर्य को घटा देता है।

शोको नाशयते सर्वं नास्ति शोकसमो रिपुः ।[3]

शोक सब कुछ नष्ट कर देता है। शोक के समान कोई शत्रु नहीं।

ये शोकमनुवर्तन्ते न तेषां वर्तते सुखम् ।[4]

जो शोक किया करते हैं उन्हें सुख प्राप्त नहीं होता।

शोकश्च किल कालेन गच्छता सह गच्छति ।[5]

समय बीतने के साथ शोक भी चला जाता है।

अज्ञानी कातरः शोके विपत्तौ न च पण्डितः ।[6]

शोक और विपत्ति में अज्ञानी पुरुष कायर हो जाता है, साहस खो बैठता है, पण्डित नहीं।

शोकेनाभिप्रपन्नस्य जीविते चापि संशयः ।[7]

शोक के कारण जो व्यक्ति अत्यधिक आकुल हो जाता है उसके जीने का भी कुछ ठिकाना नहीं रहता।

शोको द्विगुणतां याति दृष्ट्वा स्मृत्वा च चेष्टितम् ।[8]

करुणापूर्ण चेष्टाओं को देख और स्मरण कर शोक दुगुना हो जाता है।

---

१ स० र० श० ४८
२ वा० रा० ६।२।१५
३ वा० रा० २।६२।१५
४ वा० रा० ४।७।१२
५ वा० रा० ६।५।४
६ दे० भा० ९।२०।६६
७ वा० रा० ४।७।१३
८ शान्ति० १५३।६४

शोचतो न भवेत् किञ्चित् केवलं परितप्यते ।[१]

शोक करनेवाले को कुछ लाभ नहीं होता। केवल परिताप ही होता है।

उदयास्तमयज्ञं हि न शोकः स्प्रष्टुमर्हति ।[२]

जो व्यक्ति जन्म एवं मरण के रहस्य को समझता है उसे शोक स्पर्श नहीं कर सकता।

न शोचन् श्रियमाप्नोति न शोचन् विन्दते परम् ।[३]

शोक करने से न कोई श्री प्राप्त कर सकता है और न परमपद ही प्राप्त कर सकता है।

विशोकता सुखं धत्ते धत्ते चारोग्यमुत्तमम् ।[४]

शोकहीनता मनुष्य को सुख और उत्तम आरोग्य प्रदान करती है।

नार्थो न धर्मो न यशो योऽतीतमनुशोचति ।[५]

जो व्यक्ति अतीत के लिए शोक करता है उसे अर्थ, धर्म या यश कुछ भी प्राप्त नहीं होता।

नास्ति शोके सहायता ।[६]

शोक सहायक नहीं बन सकता।

भैषज्यमेतद् दुःखस्य यदेतन्नानुचिन्तयेत् ।[७]

दुःख मिटाने की यही दवा है कि उसके विषय में शोक न किया जाय।

यस्मिन्न शक्यते कर्तुं यत्नस्तन्नानुचिन्तयेत् ।[८]

जिस विषय में प्रयत्न करना संभव न हो उसकी चिन्ता नहीं करनी चाहिये।

---

१ वन० २१६।२१
२ शान्ति० १७४।४२
३ स्त्री० १।३८
४ शान्ति० २२७।४
५ शान्ति० ३३०।७
६ स्त्री० १।६
७ शान्ति० ३३०।१२
८ शान्ति ३३०।११

अनवाप्यं च शोकेन शरीरं चोपतप्यते ।[1]

शोक करने से कुछ मिलनेवाला नहीं। उलटे शरीर का ही ह्रास होता है।

शौच (स्वच्छता, शुद्धि)—

सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम् ।[2]

समस्त शौचों में अर्थ का शौच ही सबसे श्रेष्ठ शौच कहलाता है।

मनो ह्यदुष्टं शौचाय पर्याप्तं वै नराधिप ।[3]

राजन्! यदि मन निर्दोष रहे तो शौच के लिए वही पर्याप्त है।
(युधिष्ठिर आदि के प्रति ऋषियों का उपदेश)

मनः शुद्धिविहीनस्य सर्वे शौचा निरर्थकाः ।[4]

जिसका मन शुद्ध नहीं उसके सब शौच (शुद्धि, सफाई) निरर्थक हैं।

न वारिणा शुद्ध्यति चान्तरात्मा ।[5]

पानी से अन्तरात्मा की शुद्धि नहीं होती है।

शौर्य—

नहि शौर्यात् परं किञ्चित् त्रिषु लोकेषु विद्यते ।[6]

शौर्य (शूरता, वीरता) से बढ़कर तीनों लोकों में कोई वस्तु नहीं।

श्रद्धा—

श्रद्धया सत्यमाप्यते ।[7]

श्रद्धा से सत्य की प्राप्ति होती है।

---

१ उद्योग० ३३।४५
२ मनु० ५।१०६
३ वन० ९३।२२
४
५ हितो० ५।८८
६ शान्ति० ९९।१८
७ यजु० ११।३०

श्रद्धया सत्येन मिथुनेन स्वर्गाँल्लोकान् जयति ।[१]

श्रद्धा और सत्य के जोड़े से मनुष्य स्वर्ग लोक को जीत लेता है।

श्रद्धया प्राप्यते सर्वं श्रद्धया तुष्यते हरिः ।[२]

श्रद्धा से सब कुछ प्राप्त होता है और श्रद्धा से भगवान् भी सन्तुष्ट होते हैं।

श्रद्धा सर्वमिदं जगत् ।[३]

यह समस्त जगत श्रद्धामय है।

श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ।[४]

यह मनुष्य श्रद्धामय है। जिसकी जैसी श्रद्धा है वह वैसा ही होता है।

श्रद्धया साध्यते धर्मो महद्भिर्नार्थराशिभिः ।[५]

श्रद्धा से धर्म का साधन होता है महती अर्थराशि से नहीं।

श्रद्धावान् लभते ज्ञानम् ।[६]

जो मनुष्य श्रद्धावान् होता है वही ज्ञान प्राप्त करता है।

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।[७]

जो मनुष्य ज्ञानहीन, श्रद्धाहीन तथा संशयात्मा होता है वह विनष्ट हो जात है।

प्रोक्तं श्रद्धाविहीनस्य अरण्यरुदितोपमम् ।[८]

जो व्यक्ति श्रद्धाहीन होता है उससे कुछ कहना जंगल में रोने के समान बेकार होता है।

---

१ ऐ० ब्रा० ७।१०
२ बृ० ना० ४।१
३ स्कन्द० मा० कौ० ४।४३
४ भ० गी० १७।३
५ स्क० मा० कौ० ४।४५
६ भ० गी० ४।३९
७ भ० गी० ४।४०
८ पद्म० १।३९७

श्रम—

सोऽश्राम्यत् स तपोऽतप्यत। तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य यशो वीर्यमुदक्रामत्।[1]

उस ब्रह्म ने श्रम किया और उसने तप किया। उसके श्रम और तप करने के बाद यश और वीर्य प्रकट हुआ—उत्पन्न हुआ, अर्थात् वह यशस्वी एवं बलवान् हुआ।

न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः।[2]

जो मनुष्य श्रम नहीं करता उसके देवता सहायक नहीं होते।

नानाश्रान्तस्य श्रीरस्ति।[3]

श्रम न करनेवाले व्यक्ति को सम्पत्ति नहीं होती।

इन्द्र इच्चरतः।[4]

जो परिश्रमशील होता है इन्द्र उसके सखा हो जाते हैं।

श्री (धन, सम्पत्ति)—

श्रीर्वै राष्ट्रम्।[5]

श्री ही निश्चित रूप से राष्ट्र है।

नाऽनाश्राताय श्रीरस्ति।[6]

जो परिश्रमी नहीं होता उसे श्री (सम्पत्ति) नहीं प्राप्त होती।

कर्माण्यारभमाणं हि पुरुषं श्रीर्निषेवते।[7]

जो व्यक्ति निरन्तर कोई न कोई कर्म करता रहता है उसके पास श्री आती है।

---

१ वृ० उ० १।२।६
२ ऋ० ४।३३।११
३ ऐ० ब्रा० ७।१५।१
४ ऐ० ब्रा० ७।१५।१
५ शत० ६।७।३।७
६ ऐ० ब्रा० ७।१५
७ मनु० ९।३००

आमृत्योः श्रियमन्विच्छेन्नैनां मन्येत दुर्लभाम् ।[१]

मृत्युकाल तक श्री की इच्छा करनी चाहिये। उसे कभी दुर्लभ नहीं मानना चाहिये।

अनुद्वेगः श्रियो मूलमनुद्वेगात् प्रवर्तते ।[२]

उद्वेग न होना श्री का मूल है। वह उद्वेग न होने से ही बढ़ती है।

श्रीर्मङ्गलात् प्रभवति प्रागल्भ्यात् संप्रवर्धते ।[३]

शुभ आचरण से श्री आती है और प्रगल्भता (निर्भयता, वीरता) से बढ़ती है।

श्रीर्हता हन्ति पुरुषं पुरुषस्याधनं वधः ।[४]

श्री का नाश हो जाने पर पुरुष का नाश हो जाता है। धनहीन होना ही पुरुष का वध है।

धर्ममूलां श्रियं प्राप्य न जहाति न हीयते ।[५]

धर्म से श्री के मिलने पर न मनुष्य श्री को छोड़ता है और न मनुष्य को श्री छोड़ती है।

अनिर्वेदः श्रियो मूलं लाभस्य च शुभस्य च ।[६]

निर्वेद (विषाद) न होना श्री और शुभाकाक्षाओं का मूल है।

असन्तोषः श्रियो मूलम् ।[७]

सन्तोष न होना श्री का मूल है।

परीक्ष्यकारिणि श्रीश्चिरं तिष्ठति ।[८]

जो व्यक्ति परीक्षण करके काम करते हैं उनकी श्री चिरकाल तक उनके पास रहती है।

---

१ मनु० ४।११
२ योवा० उ० १११।१२
३ उद्योग० ३५।५१
४ उद्योग० ७२।१९
५ उद्योग० ३४।३२
६ उद्योग० ३९।५७
७ सभा० ५५।११
८ चा० सू० १।३५

नादत्त्वा द्विषतां पादं पुरुषः श्रियमश्नुते ।[1]

शत्रुओं के शिर पर विना पैर रखे मनुष्य श्री का भोग नहीं करता।

अकृत्वा पौरुषं या श्रीर्विकासिन्यापि किं तया ।[2]

विना पुरुषार्थ किये यदि बड़ी भी सम्पत्ति मिल जाय तो उसका क्या महत्त्व है ?

यत्र नीतिर्बले चोभे तत्र श्रीः सर्वतोमुखी ।[3]

जहाँ नीति और बल दोनों होते हैं वहाँ श्री चारों तरफ से बढ़ती है।

महान् भवत्यनिर्विण्णः सुखं चानन्तमश्नुते ।[4]

जो विरक्त और निष्क्रिय नहीं होता वही महान होता है तथा अनन्त सुख प्राप्त करता है।

अपरीक्ष्यकारिणं श्रीः परित्यजति ।[5]

जो व्यक्ति बिना शोचे-विचारे काम करता है उसे श्री छोड़ देती है, उसका परित्याग कर देती है।

उन्मत्ता गौरिवान्धा श्रीः क्वचिदेवावतिष्ठते ।[6]

उन्मत्त और अन्धी गाय की तरह लक्ष्मी कहीं भी बैठ जाती है।

न श्रीर्वसत्यदान्तेषु ये चोत्साहविवर्जिताः ।[7]

जो लोग जितेन्द्रिय नहीं हैं और उत्साह से रहित होते हैं उनके पास श्री नहीं रहती।

---

१ पञ्च० ३।१५१
२ पञ्च० ३।१४८
३ नी० मं०
४ उद्योग० ३९।५७
५ च० नी० २।४१
६ उद्योग० ३९।६५
७ उद्योग० ३९।६१

श्रीमान्—

श्रीमान् स यावद् भवति तावद् भवति पूरुषः ।[१]

जब तक पुरुष श्रीमान् रहता है तभी तक वह पुरुष कहलाने योग्य रहता है।

श्रीमतामरण्यानी अपि राजधानी ।[२]

श्रीमान् लोगों के लिए अरण्यानी भी राजधानी होती है।

श्रीमदान्ध—

असतां श्रीमदान्धानां दारिद्र्यं परमौषधम् ।[३]

जो लोग श्रीमद से अन्धे हो जाते हैं ऐसे दुर्जनों के लिए दरिद्रता सबसे बड़ी दवा है।

श्रुत—

शीलवृत्तफलं श्रुतम् ।[४]

अध्ययन का फल शील एवं वृत्त (सदाचार) है।

यथा श्रुतं तथा बुद्धिः ।[५]

जैसा ज्ञान होता है वैसी बुद्धि होती है।

श्रेय (श्रेष्ठतम)—

फलशाकमपि श्रेयो भोक्तुं ह्यकृपणं गृहे ।[६]

विना दूसरों की याचना किये अपने घर में फल एवं साग भी खाकर रहना श्रेयस्कर है।

---

१ उद्योग० ७२।३६
२ सो० नी० ३२।३८
३ भाग० १०।१०।१३
४ उद्योग० ३९।६६
५ चा० सु० ६।८९
६ वन० १९३।३०

अद्यैव कुरु यच्छ्रेयो मा त्वां कालोऽत्यगादयम् ।[१]

जो भी अच्छा काम करना हो उसे आज ही कर लो। कहीं यह आज का समय (बेकार ही) बीत न जाय।

श्रेयांसि लब्धुमसुखानि विनान्तरायैः ।[२]

विना विघ्न-बाधा के श्रेय प्राप्त करना कठिन होता है।

श्रेयसि केन तृप्यते ।[३]

श्रेय से कौन तृप्त होता है।

श्रेयांसि बहुविघ्नानि ।[४]

श्रेय में बहुत विघ्न हुआ करते हैं।

प्रतिबध्नाति हि श्रेयः पूज्यपूजाव्यतिक्रमः ।[५]

पूज्य लोगों की पूजा न करना श्रेय का प्रतिबन्धक होता है।

श्रेय-प्रेय (श्रेष्ठतम, प्रियतम)—

अन्यत् श्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः ।[६]

श्रेय और ही है और प्रेय कुछ और ही है। ये दोनों मनुष्य को नाना प्रकार के विषयों में बाँधते हैं।

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ संपरीत्य विविनक्ति धीरः ।[७]

श्रेय और प्रेय दोनों ही मनुष्य के पास आते हैं और धीर पुरुष अच्छी तरह विचारकर इन दोनों में से एक का वरण करता है।

---

१ शान्ति० १५९।१
२ किराता० ५।४९
३ शि० व० १।२९
४ चा० नी० शा० सं० २०००
५ रघु० १।७१
६ क० उ० २।१०१
७ क० उ० २।२

श्रेष्ठ—

यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद ज्येष्ठश्च ह वै श्रेष्ठश्च भवति ।[1]

जो ज्येष्ठ (महान) तथा श्रेष्ठ (उत्तम) की उपासना करता है वह स्वयं भी ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हो जाता है।

यद् यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।[2]

श्रेष्ठ पुरुष जैसा-जैसा आचरण करते हैं वैसा-वैसा ही अन्य लोग भी किया करते हैं।

सदैव हि गुरोर्वृत्तिमनुवर्तन्ति मानवाः ।[3]

मनुष्य सदा ही अपने से श्रेष्ठ पुरुषों का अनुवर्तन करते हैं।

प्रारब्धमुत्तमगुणा न परित्यजन्ति ।[4]

श्रेष्ठ पुरुष आरंभ किये हुए काम को, विना पूरा किये, नहीं छोड़ते हैं।

श्रोता—

श्रोता यदैकप्रवणः शृणोति वक्ता तदा प्रीतमना ब्रवीति ।[5]

श्रोता जब एकचित्त होकर सुनता है तो वक्ता प्रसन्नचित्त होकर बोलता है।

श्वः—

न श्वः श्वउपासीत । को हि मनुष्यस्य श्वो वेद ।[6]

कल करेंगे-कल करेंगे ऐसा सोचते हुए कल के भरोसे नहीं बैठे रहना चाहिये। क्योंकि मनुष्यों के कल को कौन जानता है ?

अद्धा हि तद् यदद्य । अनद्धा हि तद् यत् श्वः ।[7]

जो वर्तमान है वही सत्य है। जो कल होनेवाला है वह सत्य नहीं है।

---

१ छा० उ० ५।५।१
२ भ० गी० ३।२१
३ शन्ति० २६७।२६
४ भ० नी० २७
५ दे० भा० ६।१।२०
६ शत० २।१।३।९
७ शत० २।३।१।२८

श्वः कार्यमद्य कुर्वीत।
आपराह्णिकं पूर्वाह्ण एव कर्तव्यम्।[1]

कल का काम आज और अपराह्ण का काम पूर्वाह्ण में ही कर लेना अच्छा है।

संकल्प—

संकल्पमात्रं हि जगत् जलमात्रं यथार्णवः।[2]

जैसे समुद्र केवल जल है वैसे ही यह जगत् केवल संकल्प है।

सर्वः स्वसंकल्पवशात् लघुर्भवति वा गुरुः।[3]

सब आदमी अपने संकल्प के अनुसार ही छोटा या बड़ा बनता है।

यथाक्रतुरस्मिन् लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति।[4]

जिस मनुष्य का इस लोक में जैसा विचार (संकल्प) होता है वह मृत्यु के बाद वैसा ही होता है।

यं यं कामं कामयते सोऽस्य संकल्पादेव समुत्तिष्ठति।[5]

मनुष्य जैसी कामनायें करता है वह संकल्प करने से ही पूरी हो जाती हैं।

सङ्ग, सङ्गति—

यादृशं लभते सङ्गं तादृशं परिवर्तते।[6]

मनुष्य जैसी सङ्गति पाता है वैसा ही बन जाता है।

चकास्ति योग्येन हि योग्यसङ्गमः।[7]

योग्य व्यक्ति के साथ ही योग्य व्यक्ति की सङ्गति की शोभा होती है।

---

१ चा० सू० ८।२२-२३
२ योवा० स्थि० ५४।६
३ योवा० उत्पत्ति० ७०।३०
४ छा० उ० ३।१४।१
५ छा० उ० ८।२।१०
६
७ नै० च० ९।५६

संग्रह–

पुमान् संग्रहशीलो हि कदाचिन्नावसीदति ।[1]

संग्रहशील मनुष्य कभी दुखी नहीं होता ।

संग्रही नावसीदति ।[2]

संग्रही मनुष्य दुःख में नहीं पड़ता ।

नहि संचयवान् कश्चिद् दृश्यते निरुपद्रवः ।[3]

कोई भी धनसंग्रही मनुष्य उपद्रवों से रहित नहीं दीखता ।

कर्तव्यः संचयो नित्यं कर्तव्यो नाऽतिसंचयः ।[4]

संचय सदा ही करना चाहिये परन्तु अत्यधिक संचय नहीं करना चाहिये ।

दातव्यं भोक्तव्यं सति विभवे संचयो न कर्तव्यः ।[5]

यदि धन हो तो उसका दान करना चाहिये और भोग करना चाहिये पर केवल सचय नहीं करना चाहिये ।

संघ–

पञ्चभिर्मिलितैः किं यज्जगतीह न साध्यते ।[6]

संसार में ऐसा कौन काम है जो पाँच लोगों के मिल जाने पर सिद्ध न हो जाय ।

संघे शक्तिः कलौ युगे ।[7]

कलियुग में संघटन में शक्ति होती है ।

बहूनामप्यसाराणां समवायो हि दुर्जयः ।[8]

बहुत सी तुच्छ वस्तुओं का भी समवाय (संघ) दुर्जय होता है ।

---

१ पद्म० क्रि० ४।३८
२
३ वन० २।४८
४ हितो० १।१६०
५ भ० सु० सं० ५२५
६ क० स० १।५।११
७
८ पञ्च० १।३६१

संपुटिका—

यस्य संपुटिका नास्ति कुतस्तस्य सुभाषितम् ।[१]

जिसके पास नोटबुक, डायरी या कॉपी नहीं है उसके पास सुभाषित कैसे रह सकते हैं ?

सम्बन्ध—

सम्बन्धमाभाषणपूर्वमाहुः ।[२]

पहले बातचीत होती है तब किसी के साथ सम्बन्ध स्थापित होता है।

संयोग—

संयोगो विप्रयोगश्च पर्यायेणोपलभ्यते ।[३]

संयोग और वियोग बारी-बारी से होते रहते हैं।

संरम्भ—

न संरम्भेण सिद्धयन्ति सर्वेऽर्थाः सान्त्वया यथा ।[४]

जैसे सब काम शान्ति से सिद्ध होते हैं वैसे संरम्भ से-क्रोध से नहीं।

संशय—

संशयात्मा विनश्यति ।[५]

संशयात्मा व्यक्ति नष्ट हो जाता है।

नाऽयं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ।[६]

संशयात्मा व्यक्ति का न लोक सिद्ध होता है न परलोक सिद्ध होता है और न उसे सुख प्राप्त होता है।

---

१ पञ्च० २।१७०
२ रघु० ११।५८
३ शान्ति० १५१।९
४ भाग० ८।६।२४
५ म० गी० ४।४०
६ म० गी० ४।४०

न संशयमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति ।[१]

विना संशय (संकट, खतरा) में पड़े मनुष्य अपना उत्थान नहीं करता ।

अनर्थाः संशयावस्थाः सिध्यन्ते मुक्तसंशयाः ।[२]

संशय में पड़े रहना सब अनर्थों का कारण है । जो संशय से मुक्त हैं उनके सब काम सिद्ध होते हैं ।

सर्वत्र संशयानेषु नास्ति कार्यसिद्धिः ।[३]

सब बातों में संशय करनेवालों के काम सिद्ध नहीं होते ।

संसर्ग—

संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति ।[४]

दोष और गुण संसर्ग के कारण होते हैं ।

प्रायेणाधमध्यमोत्तमगुणः संसर्गतो जायते ।[५]

अधम, मध्यम तथा उत्तम गुण प्रायः संसर्ग के कारण ही उत्पन्न होते हैं ।

संसार—

न तदस्ति हि संसारे पर्यन्तविरसं न यत् ।[६]

संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं जो अन्त में विरस न हो जाती हो ।

किञ्चिदस्ति न सुस्थिरम् ।[७]

संसार में कोई वस्तु सुस्थिर नहीं है ।

सर्वमावर्त्यते जगत् ।[८]

सारा जगत उलटता-पलटता रहता है । बनता-बिगड़ता रहता है ।

---

१ शांति० १४०।३४
२ वन० ३२।४३
३ सो० नी० २६।५३
४ चा० नी० शा० सं० ३३८
५ भ० नी० ६७
६
७ योवा० वै० २८।३२
८ योवा० वै० २८।३५

न जाने संसारः किममृतमयः किं विषमयः ।[१]

यह समझ में नहीं आता कि यह संसार अमृतमय है या विषमय है।

परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते ।[२]

इस परिवर्तनशील संसार में कौन नहीं मरता है और कौन नहीं जन्म लेता है ?

संस्कार—

स्वभावसुन्दरं वस्तु न संस्कारमपेक्षते ।[३]

जो वस्तु स्वभावतः सुन्दर होती है उसके लिए संस्कार की आवश्यकता नहीं होती।

यन्नवे भाजने लग्नः संस्कारो नाऽन्यथा भवेत् ।[४]

नवीन (कच्चे) पात्र में जो संस्कार लगता है वह बदलता नहीं, स्थायी होता है।

संस्कारो ह्यात्मनि समवैति न स्त्रैण पुरुषं वा विभागमपेक्षते ।[५]

संस्कार का सम्बन्ध आत्मा से होता है। वह स्त्री अथवा पुरुष का भेद नहीं करता।

संस्कृत—

संस्कृतं नाम दैवी वाक् अन्वाख्याता महर्षिभिः ।[६]

संस्कृत दैवी वाणी है जिसका अन्वाख्यान महर्षियों ने किया है।

सख्य—देखिये मित्रता—

सज्जन—

सन्तश्चारित्रभूषणाः ।[७]

सज्जनों का चरित्र ही भूषण है।

---

१ वे० श० ५
२ पञ्च० १।२७
३
४ हितो० प्र० ९
५ कु० मी० १०
६ काव्या० १
७ वा० रा० ६।११३।४२

आज्ञाचरणमेवाहुर्मुख्यमाराधनं सताम् ।[१]

सज्जनों की आज्ञा का पालन ही उनकी आराधना और सेवा है।

दोषलेशमनादृत्य नित्यं सेवेत सज्जनम् ।[२]

कुछ दोष भी हो तो उस पर ध्यान न देकर नित्य सज्जनों की सेवा करनी चाहिए।

सर्वत्रालोककर्तृत्वमेव सत्पुरुषव्रतम् ।[३]

सर्वत्र आलोक (प्रकाश) करना ही सत्पुरुषों का व्रत है।

सन्तः परार्थं कुर्वाणा नापेक्षन्ते प्रतिक्रियाम् ।[४]

सज्जन पुरुष दूसरों का उपकार करते हुए प्रतिक्रिया (प्रत्युपकार) की अपेक्षा नहीं करते।

सत्यं हि सन्तः प्रतिपूजयन्ति ।[५]

सज्जन पुरुष सत्य की पूजा करते हैं।

सन्तो दिशन्ति चक्षूंषि ।[६]

सन्त पुरुष लोगों को दृष्टि प्रदान करते हैं।

तिष्ठन्ति विगतोद्वेगं सन्तः प्रकृतकर्मसु ।[७]

सज्जन पुरुष विना घबराहट के अपने चालू कामों में लगे रहते हैं।

क्षणमपि सज्जनसङ्गतिरेका भवति भवार्णवतरणे नौका ।[८]

सज्जनों की क्षणमात्र की भी संगति भवसागर को पार करने में नौका का काम करती है।

---

१ योवा० नि० पू० २३।४
२ योवा० नि० उ० ९८।२०
३ योवा० उ० ४।२०
४ सभा० ७३।७
५ आदि० १३।२५
६ भाग० ११।२६।३४
७ योवा० उ० ८१।१८
८ भ० गो० १३

अर्धं सज्जनसम्पर्कादविद्याया विनश्यति ।[१]

अविद्या का आधा हिस्सा केवल सज्जनों के सम्पर्क से ही विनष्ट हो जाता है।

अलं प्रसन्ना हि सुखाय सन्तः ।[२]

सत्पुरुषों का प्रसन्न रहना ही सुख का पर्याप्त साधन है।

विवर्जनं ह्यकार्याणामेतत् सत्पुरुषव्रतम् ।[३]

अनुचित कार्यों का परित्याग कर देना सत्पुरुषों का व्रत है।

स्वयं हि तीर्थानि पुनन्ति सन्तः ।[४]

सन्त पुरुष स्वयं ही तीर्थों को पवित्र करते हैं।

सतां साप्तपदी मैत्री ।[५]

सज्जनों की मैत्री साप्तपदीन होती है अर्थात् एक साथ सात पग चलने अथवा सात पद बोलने से ही हो जाती है।

यत्र सन्तः प्रवर्तन्ते तत्र दुःखं न बाधते ।[६]

जहाँ सज्जन पुरुष रहते हैं वहाँ दुःख की बाधा नहीं होती।

अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः ।[७]

सज्जन पुरुष समृद्धियों के कारण उद्धत नहीं होते।

सन्तः स्वयं परहितेषु कृताभियोगाः ।[८]

सज्जन पुरुष दूसरों के हितसाधन में स्वयं ही लगे रहते हैं।

---

१ यो.वा० नि० उ० १३।३७
२ उद्योग० ४०।१
३ विराट्० १४।३६
४ भाग० ११।१९।८
५ स्क० काशी० ९।३५
६ वृ० ना० ७।८५
७ भ० नी० ७१
८ भ० नी० ७४

परगुणपरमाणून् पर्वतीकृत्य नित्यं,
निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः ।[१]

ऐसे कितने सज्जन पुरुष हैं जो दूसरों के अत्यल्प गुणों को भी पर्वत के समान बड़ा बनाकर अपने हृदय में प्रसन्नता का अनुभव करते हैं।

सतां सद्भिः सङ्गः कथमपि हि पुण्येन भवति ।[२]

सज्जनों का सज्जनों के साथ समागम किसी प्रकार पुण्य से ही होता है।

निर्वाहः प्रतिपन्नवस्तुषु सतामेतत् हि गोत्रव्रतम् ।[३]

स्वीकार की हुई बातों का निर्वाह करना यह सत्पुरुषों के कुल का व्रत होता है।

सङ्गः सतां किमु न मङ्गलमातनोति ।[४]

सज्जनों का सङ्ग मनुष्य का क्या-क्या मङ्गल साधन नहीं करता।

आदानं हि विसर्गाय सतां वारिमुचामिव ।[५]

सज्जन पुरुष बादलों की तरह देने के लिये ही दूसरों से कुछ लिया करते हैं।

सैषा सज्जनाचरिता सरणिर्यदणीयसि कारणेऽनणीयानादरः ।[६]

थोड़े कारण से भी अधिक आदर देना यह सज्जनों की रीति है।

कोपं विषादकलनां विततं च हर्षं,
नाल्पेन कारणवशेन वहन्ति सन्तः ।[७]

सज्जन पुरुष क्रोध, विषाद अथवा विशेष हर्ष थोड़े से कारणों से नहीं किया करते हैं।

---

१ भ० नी० ७९
२ उ० रा० २।५
३ मुद्रा० २।१८
४ भा० वि० प्रा० १२२
५ रघु० ४।८६
६ द० कु० २।७
७ योवा० वे० ५।१५

उपकारपरः स्वभावतः सततं सर्वजनस्य सज्जनः ।[1]

सज्जन पुरुष स्वभाव से ही निरन्तर दूसरों के उपकार में लगे रहते हैं।

महतीमपि श्रियमवाप्य विस्मयः
सुजनो न विस्मरति जातु किञ्चन ।[2]

सज्जन पुरुष बहुत बड़ी सम्पत्ति पाकर भी न तो अभिमान करते हैं और न किसी को भूलते हैं।

स्त्री पुमानित्यनास्थैषा वृत्तं हि महतां सताम् ।[3]

स्त्री और पुरुष का भेद नहीं अपितु सज्जनों की दृष्टि में सदाचरण ही मान्य है।

परोपकाराय सतां विभूतयः ।[4]

सज्जनों की विभूतियाँ (ऐश्वर्य, धन-दौलत) परोपकार के लिए होती हैं।

प्रणामान्तः सतां कोपः ।[5]

सज्जनों का कोप प्रणाम कर देने के बाद (झुक जाने के बाद) समाप्त हो जाता है।

दिशत्यपायं हि सतामतिक्रमः ।[6]

सज्जन पुरुषों का अपमान विनाशकारी होता है।

कोपः सत्पुरुषाणां तुल्यः स्नेहेन नीचानाम् ।[7]

सत्पुरुषों का कोप भी नीच पुरुषों के स्नेह के तुल्य होता है।

सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः ।[8]

सन्दिग्ध वस्तुओं के विषय में सज्जन पुरुषों के अन्तःकरण की प्रवृत्तियाँ ही प्रमाण होती हैं।

---

१ शि० व० १६।२२
२ शि० व० १३।६८
३ कु० सं० ६।१२
४ नी० प्र० १
५
६ किराता० १४।९
७
८ अ० शा० १।२१

न कत्थनात् सत्पुरुषा भवन्ति ।

डींग हाँकने से कोई श्रेष्ठ पुरुष नहीं होता ।

एतद् विधिना सुकृतं यत् सुजना निर्मिता भुवने ।[२]

विधाता ने यही एक अच्छा काम किया है कि संसार में कुछ लोगों को सज्जन बना दिया है ।

सत्य—

सत्यं वाचः प्रतिष्ठा । सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितम् ।[३]

सत्य वाणी की प्रतिष्ठा है । सत्य के ऊपर ही सब कुछ प्रतिष्ठित है ।

तदेतत् पुष्पं फलं वाचो यत् सत्यम् ।[४]

जो यह सत्य है वह वाणी का फूल और फल है ।

यो वै स धर्मः सत्यं वै तत् । तस्मात् सत्यं वदन्तमाहुर्धर्मं वदतीति । धर्मं वा वदन्तं सत्यं वदतीति ।[५]

जो वह धर्म है वह सत्य ही है । इसलिए सत्य बोलनेवाले को लोग कहते हैं कि यह धर्म बोलता है और धर्म बोलनेवालों को कहते हैं कि यह सत्य बोलता है ।

सत्यमेव जयते नानृतम् । सत्येन पन्था विततो देवयानः ।[६]

सत्य की ही विजय होती है अनृत की नहीं । देवत्व की ओर ले जानेवाला मार्ग सत्य से ही बना है ।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।[७]

सत्य का मुँह हिरण्मय (सुवर्ण के) पात्र से ढका रहता है ।

---

१ ५ बृ० उ० १।४।१४

२ ब० ल० ५।५ ६ मु० उ० ३।६

३ तै० आ० १०।६३ ७ ई० उ० १५

४ ऐ० आ० २।३।६

कोऽर्हति मनुष्यः सर्वं सत्यं वदितुम् ।[१]

कौन मनुष्य सब कुछ सत्य-सत्य बोल सकता है ?

सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यादपि हितं वदेत् ।[२]

सत्य बोलना उत्तम है परन्तु सत्य बोलने से भी हित बोलना उत्तम है ।

यद् भूतहितमत्यन्तम् एतत्सत्यं मतं मम ।[३]

जो समस्त प्राणियों का सर्वोच्च हित हो वही सत्य है ऐसा मेरा मत है । (नारद)

सत्येन रक्ष्यते धर्मः ।[४]

सत्य से धर्म की रक्षा होती है ।

सत्यमेकपदं ब्रह्म सत्ये धर्मः प्रतिष्ठितः ।[५]

सत्य ही एकमात्र ब्रह्म है तथा सत्य में ही धर्म प्रतिष्ठित है ।

ऋषयश्चापि देवाश्च सत्यमेव हि मेनिरे ।[६]

ऋषियों तथा देवताओं ने भी सत्य को ही (महान्) माना है ।

अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते ।[७]

सत्य हजारों अश्वमेध यज्ञ से विशिष्ट होता है । श्रेष्ठ होता है ।

सत्यं वद धर्मं चर ।[८]

सत्य बोलो और धर्म के पथ पर चलो ।

सुगा ऋतस्य पन्थाः ।[९]

सत्य का मार्ग सुगम होता है ।

---

१ ऐ० ब्रा० १।६
२ शान्ति० ३२९।१३
३ शान्ति० ३२९ १३
४ उद्योग० ३४।३९
५ वा० रा० २।१४।७
६ वा० रा० २।१०९।११
७ शान्ति० १६२।२६
८ तै० उ० १।११।१
९ ऋ० ८।३१।१३

सत्यार्जवे धर्ममाहुः परे धर्मविदो जनाः ।[१]

धर्म के जानकार सत्य एवं आर्जव को ही परम धर्म मानते हैं।

न तत् सत्यं यच्छलेनानुविद्धम् ।

वह सत्य नहीं है जो छल से युक्त हो।

सत्यश्रमाभ्यां सकलार्थसिद्धिः ।[२]

सत्य एवं श्रम इन दोनों से सब काम सिद्ध हो जाते हैं।

सत्यं कण्ठस्य भूषणम् ।[४]

सत्य वचन कण्ठ का भूषण है।

सत्येन पूयते साक्षी धर्मः सत्येन वर्धते ।[५]

साक्षी (गवाह) सत्य बोलने से पवित्र होता है और सत्य बोलने से धर्म की वृद्धि होती है।

नहि सत्यवतां किञ्चिदशुभं विद्यते क्वचित् ।[६]

सत्य पर रहनेवालों का कहीं भी कुछ अशुभ नहीं होता।

सत्त्व–(शक्ति, सात्त्विकता, आत्मबल)–

अल्पसत्त्वो जनः शोचत्यल्पेऽपि हि परिक्षते ।[७]

अल्पसत्त्व व्यक्ति थोड़ी सी हानि होने पर भी शोक करने लगता है।

---

१ वन० २०६।४०
२ उद्योग० ३५।७१
३
४ सु० र० भा० पृ० १५९
५ मनु०, ८।८३
६ स्क० ना० ५१।५८
७ योवा० नि० पू० १२७।४२

नास्ति सत्त्ववतां भयम् ।[१]

सत्वशाली लोगों को भय नहीं होता।

सत्त्वस्थः सम्प्रसीदति ।[२]

सत्वगुणी व्यक्ति प्रसन्न रहता है।

सत्त्वाधीना हि सिद्धयः ।[३]

सिद्धियाँ सत्त्व के अधीन होती है।

क्रियासिद्धिः सत्त्वे भवति महतां नोपकरणे ।[४]

महान् पुरुषों की क्रियासिद्धि सत्त्व से होती है उपकरणों से नहीं।

सत्संगति—

न सज्जनाद् दूरतरः क्वचिद् भवेत्
भजेत साधून् विनयक्रियान्वितः ।[५]

सज्जनों से कभी दूर नहीं रहना चाहिये और विनम्रभाव से साधु पुरुषों की सेवा-सुश्रूषा में रहना चाहिये।

सकृत् सतां सङ्गतं लिप्सितव्यं ततः परं भविता भव्यमेव ।[६]

एकबार भी सत्पुरुषों की सङ्गति करनी चाहिये। उसके बाद तो फिर कल्याण होने ही वाला है।

सत्सङ्गतिः कथय किं न करोति पुंसाम् ।[७]

सज्जनों की सङ्गति मनुष्यों का क्या-क्या हित नहीं करती।

सुलभो दुर्जनाश्लेषो दुर्लभः सत्समागमः ।[८]

दुर्जनों का मिलना बहुत सुलभ है पर सज्जनों का मिलना बहुत दुर्लभ होता है।

---

१ उद्योग० ३९।३८
२
३ क० स० ५।३।११२
४ भो० प्र० १०।६
५ योवा० नि० उ० १८।३४
६ उद्योग० १०।२३
७ भर्तृ० २३
८ योवा० वै० २६।२२

न चाऽफलं सत्पुरुषेण सङ्गतम् ।[1]

सत्पुरुषों की सङ्गति निष्फल नहीं होती ।

संसारेऽस्मिन् क्षणार्धोऽपि सत्सङ्गः शेवधिर्नृणाम् ।[2]

इस संसार में आधे क्षण का भी सत्सङ्ग मनुष्यों के लिए महान निधि होता है ।

सदाचार—

सदाचारविहीनानां धर्मार्थौ न सुखप्रदौ ।[3]

जो लोग सदाचारविहीन होते हैं उनके लिए धर्म और अर्थ सुखप्रद नहीं होते ।

अमित्रादपि सद्वृत्तम् ।[4]

शत्रु से भी अच्छा आचरण सीखना चाहिये ।

सद्विचार—

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः ।[5]

सब ओर से अच्छे विचार हमलोगों को प्राप्त हों ।

सन्तति—सन्तान—

प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः ।[6]

सन्तानपरम्परा को बिच्छिन्न नहीं करना चाहिये ।

---

१ वन० २९७।३०
२ भाग० ११।२।३०
३
४ मनु० २।२३०
५ ऋ० १।८९।१
६ तै०उ० १५।१

प्रजया हि मनुष्यः पूर्णः ।[१]

गृहस्थ मनुष्य प्रजा (सन्तान) से ही पूर्ण होता है।

सन्ततिः शुद्धवंश्या हि परत्रेह च शर्मणे ।[२]

शुद्ध वंश में उत्पन्न सन्तति इस लोक और परलोक में भी कल्याण-कारिणी होती है।

सन्ताप---

सन्तापाद् भ्रश्यते रूपम् ।[३]

सन्ताप करने से रूप विगड जाता है।

सन्तापाद् भ्रश्यते बलम् ।[४]

सन्ताप करने से बल विनष्ट हो जाता है।

सन्तापाद् भ्रश्यते ज्ञानम् ।[५]

सन्ताप करने से ज्ञान विनष्ट हो जाता है।

सन्तापाद् व्याधिमृच्छति ।[६]

सन्ताप करने से मनुष्य बीमार पड़ जाता है।

सन्तुष्ट--

मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्रः ।[७]

मन के सन्तुष्ट हो जाने पर कौन धनी है और कौन दरिद्र है ?

असन्तुष्टा द्विजा नष्टाः सन्तुष्टश्च महीपतिः ।[८]

सन्तोष न होने से ब्राह्मण तथा असन्तोष होने से राजा विनष्ट हो जाते हैं।

---

१ तै० उ० १५।१
२ रघु० १।६९
३ उद्योग० ३६।४४
४ ,, ,,
५ उद्योग० ३६।४४
६ ,, ,,
७ वे० श०४७
८

अकिञ्चनोऽपि सन्तुष्टः शेते सर्वाङ्गविज्वरः ।[1]

गरीब आदमी भी यदि सन्तोषी हो तो वह सुख की नींद सोता है।

सन्तोष—

सन्तोषो वै स्वर्गतमः सन्तोषः परमं सुखम् ।[2]

सन्तोष सर्वश्रेष्ठ स्वर्ग है तथा परम सुख है।

सन्तोष एव पुरुषस्य परं निधानम् ।[3]

सन्तोष ही मनुष्य के लिए सबसे बड़ी निधि है।

सन्तोषो वै श्रियं हन्ति तथाऽनुक्रोश एव च ।[4]

सन्तोष और अनुक्रोश (दया) श्री को विनष्ट कर देते हैं।

सन्निकर्ष—

सन्निकर्षो हि मर्त्यानामनादरणकारणम् ।[5]

अत्यन्त समीप में रहना मनुष्यों के अनादर का कारण होता है।

सन्मार्ग—

सन्मार्ग एव सर्वत्र पूज्यते नाऽपथः क्वचित् ।[6]

सर्वत्र सन्मार्ग का ही आदर होता है, कुमार्ग का नहीं।

सभा—

सभां वा न प्रवेष्टव्यं वक्तव्यं वा समञ्जसम् ।[7]

या तो सभा में जाना ही नहीं चाहिये और यदि जाना चाहिये तो सही बात बोलनी चाहिये।

---

१ भाग० ३।३१।३२
२ शान्ति० २१।२
३ म० सु० सं० ७८६
४
५ भाग० १०।८४।३१
६
७ म० स्मृ० ८।१३

न तत्सदः सत्परिषत् सभा च सा
प्राप्य यां न कुरुते सदाऽभयम् ।[1]

न वह अच्छी सदस है, न वह अच्छी परिअद् है और न वह अच्छी सभा है जिसमें पहुँचकर मनुष्य भय से मुक्त न हो जाय।

न सा सभां यत्र न सन्ति वृद्धाः ।[2]

वह सभा नहीं जिसमें वृद्ध लोग न हों।

जिता सभा वस्त्रवता ।[3]

उत्तम वस्त्रवाला व्यक्ति सभा को जीत लेता है अर्थात सभा में उत्तम स्थान प्राप्त करता है।

समता—

येषामात्मसमो लोको दुर्गाण्यतितरन्ति ते ।[4]

जो व्यक्ति सब लोगों को अपने समान समझते हैं वे कठिनाइयों को पार कर जाते हैं।

समत्वमाराधनमच्युतस्य ।[5]

सर्वत्र समता रखना ईश्वर की आराधना है।

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।[6]

जिन लोगों का मन साम्यभाव में स्थित रहता है वे इस लोक में ही संसार को जीत लेते हैं।

दुर्लभो जगतां मध्ये साम्यामृतमयो जनः ।[7]

संसार में समतारूपी ममृत से परिपूर्ण व्यक्ति दुर्लभ है।

---

१ शान्ति० २२६।१८
२ उद्योग० ३५।५८
३ उद्योग० ३४।३८
४ शान्ति० ११०।१६
५ वि० पु० ३।७।२०
६ भ० गी० ५।१९
७ योवा० नि० उ० १९८।१२
८

साम्यमभ्यस्यतो जन्तोः स्वदोषोऽपि गुणायते ।[१]

जो व्यक्ति समभाव का अध्यास करता है उसके अपने दोष भी गुण हो जाते हैं।

विवाहश्च विवादश्च समयोरेव रोचते ।[२]

विवाह और विवाद समान लोगों का ही अच्छा होता है।

समत्वं योग उच्यते ।[३]

समत्व ही योग कहलाता है। अर्थात् हानि, लाभ एवं सुख-दुःख आदि में समभाव रखना, विचलित न होना ही वास्तविक योग है।

समता ममता मानवीयता ।[४]

सबके साथ समता और ममता रखना, यही मानवीयता है।

येषामात्मसमो लोको दुर्गाण्यतितरन्ति ते ।[५]

जो लोग सबको अपने समान समझते हैं वे कठिनाइयों को पार कर जाते हैं।

समदर्शी—

कः परः समदर्शिनाम् ।[६]

समदर्शी पुरुषों से बढ़कर श्रेष्ठ कौन हो सकता है।

समबुद्धिर्विशिष्यते ।[७]

समबुद्धि पुरुष सभी पुरुषों से श्रेष्ठ होते हैं।

मनागपि न वैरस्यं प्रयान्ति समदृष्टयः ।[८]

समदृष्टि पुरुष थोड़ी भी विरक्ति किसी के साथ प्रगट नहीं करते।

१
२
३ भ० गी० ५।१९
४ दी० मा० ३।५९
५ शान्ति० ११०।८६
६ भा० पु० १०।७२।१९
७ गीता० ६।९
८ योवा० नि० उ० १९८।२३

को नु भारः समर्थानाम् ।[1]

समर्थ लोगों के लिए क्या भार है ?

पूज्यन्ते विबुधैः सर्वैः समतामुदिताशयाः ।[2]

जिन लोगों का हृदय समभाव से मुदित रहता है वे सभी देवों द्वारा पूजे जाते हैं।

समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ।[3]

जो समस्त प्राणियों में समदृष्टि रखता है वही मेरी परम भक्ति को प्राप्त करता है।

समय—देखिये—"काल"—

समाधि—

मनस एकाग्रता समाधिः । समाहितं चित्तमर्थान् पश्यति ।[4]

मन की एकाग्रता ही समाधि है और समाहित अर्थात् एकाग्र चित्त ही विषयों को ठीक-ठीक देखता और समझता है।

समृद्ध—

समृद्धा गुणतः केचिद् भवन्ति धनतोऽपरे ।[5]

कुछ लोग गुण से समृद्ध होते हैं और कुछ लोग धन से समृद्ध होते हैं।

सम्पद्—

नये च शौर्ये च वसन्ति सम्पदः ।[6]

नीति और सूरता इन दो गुणों में सम्पत्तियाँ निवास करती हैं।

---

१ चा० नी० ३।१३
२ योवा० नि० उ० १९८।२३
३ भ० गी० १८।५४
४ का० मी० अ० ४
५ उद्योग० ३९।८
६ तो० ३।१२४

वृणते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः ।[१]

गुणलोभी सम्पत्तियाँ स्वयं ही विचारकर काम करनेवाले पुरुष का वरण करती है।

सम्पत् सम्पदमनुबध्नाति विपच्च विपदम् ।[२]

सम्पत्ति सम्पत्ति को साथ में लाती है और विपत्ति विपत्ति को साथ में लाती है।

सम्पदः पदमापदाम् ।[३]

सम्पत्तियाँ ही आपत्तियों का घर हैं।

विपदन्ता ह्यविनीतसम्पदः ।[४]

दुर्जनों की सम्पत्ति का अन्त विपत्तियों में ही हो जाता है।

जनस्य स्थिरतां यान्ति नापदो न च सम्पदः ।[५]

मनुष्य के लिए न तो आपत्तियाँ ही स्थायी होती हैं और न तो सम्पत्तियाँ ही।

निवसन्ति पराक्रमाश्रया न विषादेन समं समृद्धयः ।[६]

पराक्रम के सहारे रहनेवाली समृद्धियाँ विषाद के साथ नहीं रहती।

तद्धि समृद्धं यत्रात्ता कनीयान् आद्यो भूयान् ।[७]

वह समृद्धि है जहाँ खानेवाले कम हों तथा खाद्यवस्तुएँ अधिक हों।

सम्बन्ध—

विक्रियायै न कल्पन्ते सम्बन्धाः सदनुष्ठिताः ।[८]

जो सम्बन्ध उचित एवं उत्तमरूप से स्थापित किये जाते हैं उनसे कोई बात नहीं बिगड़ती।

---

१ किराता० २।३०
२ सो० नी० ३२।६५
३ हितो० ४।६६
४ किराता० २।५२
५ थोवा० वै० २८।४८
६ किराता० २।१५
७ शत० ब्रा० १।३।२।१२
८ कु० सं० ७।२१

सम्यग् दृष्टि—

सम्यक् प्रपश्यतः सर्वं नाश्रुकर्मोपपद्यते ।[1]

जो लोग सम्यग् दृष्टि से सब कुछ देखते हैं उन्हें आँसू बहाने का अवसर नहीं मिलता।

सम्यग्दर्शनसम्पन्नः कर्मभिर्न निबद्ध्यते ।[2]

सम्यग्दृष्टि से सम्पन्न व्यक्ति कर्मों के बन्धन में नहीं पड़ता।

सरल —

विरलः सरलो जनः ।[3]

विरले ही लोग सरल स्वभाव के होते हैं।

सर्व— (सब लोग, सब बातें)—

सर्वे सर्वं न जानन्ति ।[4]

सब लोग सब बातें नहीं जानते।

सर्वं काले हि शोभते ।[5]

समय पर ही सब कुछ अच्छा लगता है।

नहि सर्वः सर्वं जानाति ।[6]

सब लोग सब बातें नहीं जानते।

आर्तः सर्वोऽपि भवति धर्मबुद्धिः ।[7]

दुखी होने पर सब लोगों को धर्म की बात सूझती है।

पुराणमित्येव न साधु सर्वम् ।[8]

पुरानी होने से ही सब चीजें अच्छी नहीं होतीं।

---

१ शांति० ३३०।१०
२ मनु० ६।७४
३
४ वृ० नी० ३।२९
५ योवा० उ० ६७।६१
६ मुद्रा० १।१८
७ सो० नी० २६।६
८ मा० अ० १।२

सर्वमुत्पादि भङ्गुरम् ।[१]

उत्पन्न होनेवाली समस्त वस्तुएँ विनाशशील होती हैं।

सर्वः स्वार्थं समीहते ।[२]

सब लोग अपना-अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहते हैं।

सर्वः स्वार्थवशाज्जनोऽभिरमते तत् कस्य को वल्लभः ।[३]

कौन किसका प्रिय है ? सबलोग स्वार्थ के कारण ही प्रेम करते हैं।

वर्तमानः सुखे सर्वो मुह्यतीति मतिर्मम ।[४]

सुख में रहने पर सब लोग मोह में पड़ जाते हैं ऐसा मैं मानता हूँ।

सर्वः कान्तमात्मीयं पश्यति ।[५]

सब लोग अपनी बस्तु को सुन्दर समझते हैं।

सर्वस्य हि कृतार्थस्य मतिरन्या प्रजायते ।[६]

काम सिद्ध हो जाने के बाद सबकी बुद्धि बदल जाती है।

सर्वस्यात्मा बहुमतः सर्वात्मानं प्रशंसति ।[७]

अपनी आत्मा सब लोगों को अधिक प्रिय होती है और सब लोग अपनी प्रशंसा करते हैं।

सर्वः कृच्छ्रगतोऽपि वाञ्छति जनः सत्त्वानुरूपं फलम् ।[८]

कष्ट में पड़ने पर भी सब लोग अपने अनुरूप ही लाभ चाहते हैं।

प्रायः सर्वो भवति करुणावृत्तिरार्द्रान्तरात्मा ।[९]

करुणावृत्तिवाले प्रायः सब लोग सरस हृदय के होते हैं।

---

१ हि० १।२०८
२ शि० व० २।६५
३
४ वन० १८१ । ३०
५ अ० शा० २।७
६ पद्म० पु० सृ०१।१८।३३६
७ सौ० ३।४
८ अ० नी० ३०
९ मेघ० ९५

सर्वः सगन्धेषु विश्वसिति ।[१]

सब लोग सजातीयों में विश्वास करते हैं।

सर्वस्य द्वे सुमतिकुमती ।[२]

सुमति और कुमति ये दोनों सब को होती हैं।

वस्तुमिच्छति निरापदि सर्वः ।[३]

सब लोग सुख की ही स्थिति में रहना चाहते हैं।

परवाच्येषु निपुणः सर्वो भवति सर्वदा ।[४]

दूसरों की निन्दा करने में सब लोग सदा निपुण होते हैं।

सर्वस्य दयिताः प्राणाः सर्वस्य दयिताः सुताः ।[५]

सबको प्राण प्रिय होते हैं और सबको पुत्र प्रिय होते हैं।

दुःखादुद्विजते सर्वः सर्वस्य सुखमीप्सितम् ।[६]

सब लोग दुःख से घबड़ाते हैं और सब को सुख ही प्रिय होता है।

सर्वश्चित्तप्रमाणेन सदसद्वाऽभिकांक्षति ।[७]

सब लोग अपने मन के अनुसार ही अच्छे या बुरे की कल्पना या करते हैं।

स्ववासनानुसारेण सर्वः सर्वं हि पश्यति ।[८]

सब लोग अपनी वासना के अनुसार ही सब कुछ देखते हैं।

सर्वः स्वसंकल्पवशात् लघुर्भवति वा गुरुः ।[९]

सब लोग अपने संकल्प के अनुसार ही छोटे या बड़े बनते हैं।

---

१ अ० शा० ५।२१
२ भो० प्र० ७७।१
३ किराता० ।१६
४ कर्ण० ४५।४४
५ शांति० १३९।६२
६ शांति० १३९।६२
७ क०स० १०।५।३२
८ योवा० उ० ५८।१२
९ योवा० उ० ७०।३०

न सर्ववित् कश्चिदिहास्ति लोके
नाऽत्यन्तमूर्खो भुवि वापि कश्चित् ।[1]

इस संसार ये न तो कोई ऐसा व्यक्ति है जो सर्वज्ञ हो और न कोई ऐसा ही है जो अत्यन्त मूर्ख हो ।

सर्वः प्रियः खलु भवत्यनुरूपचेष्टः ।

उचित एवं अनुकूल चेष्टा (काम) करने वाले सब लोग सब के प्रिय होते हैं ।

सर्वः स्वस्वगृहे राजा सर्वः स्वे स्वे गृहे गृही ।[2]

सब कोई अपने अपने घर में राजा होता है और अपने-अपने घर का गृहपति होता है ।

देखिये—लोक, लोकस्वभाव—

सहवास—

संवासाज्जायते स्नेहः जीवितान्तकरेष्वपि ।[3]

एक साथ रहने से जान लेने वालों के साथ भी स्नेह हो जाता है ।

अर्थसम्बन्धः सहवासश्च न अकलहः संभवति ।[4]

आर्थिक सम्बन्ध और सहवास में कलह न हो, यह संभव नहीं ।

नायमत्यन्तसंवासः कदाचित् केनचित् सह ।[5]

सहवास सदा के लिए किसी के साथ कभी भी संभव नहीं होता ।

प्रायेणोत्तममध्यमाधमगुणः संवासतो जायते ।[6]

उत्तम मध्यम एवं अधम गुण प्रायः सहवास से ही हुआ करते हैं ।

---

१ वृ० नी० ३।३०
२
३ शान्ति० ३२०।४७
४ शांति० ३२०।४७
५ सो० नी० २८।४०
६ शान्ति० १३९।४०
७ पञ्च० १।२५३

सहवासी—

सहवासी विजानाति चरित्रं सहवासिनः ।[1]

सहवासी ही सहवासी के चरित्र को ठीक तरह जानता है।

सहायक—

सहायसाध्यानि हि दुष्कराणि ।[2]

दुष्कर भी कार्य सहायकों के द्वारा साध्य हो जाता है।

बृहत्सहायः कार्यान्तं क्षोदीयानपि गच्छति ।[3]

बहुत छोटा आदमी भी बड़ों की सहायता से काम को पूरा कर लेता है।

सहायास्तादृशा ज्ञेया यादृशी भवितव्यता ।[4]

जैसी भवितव्यता होती है वैसे ही सहायक भी मिल जाते हैं।

अन्तःसारविहीनानां सहायः किं करिष्यति ।[5]

जिन लोगों में अपने भीतर आत्मबल नहीं होता उनके लिये सहायक क्या कर सकता है?

सगुणो निर्गुणो वापि सहायो बलवत्तरः ।[6]

सहायक गुणवान् हो या निर्गुण वह भी मनुष्य का भारी बल होता है।

सहन-सहनशील—

सदा सुचेताः सहते नरस्येहाल्पमेधसः ।[7]

सहृदय पुरुष सदा ही अल्पबुद्धि लोगों की गल्तियों को सह लिया करते हैं।

---

१ ५

३ उद्योग० ३६।२२ ६ चा० नी० शा० सं० २०१३

३ शि० व० २।१०० ७ शांति० ११४।२

४ पञ्च० ३।१६३

यद् यद् ब्रूयादल्पमतिस्तत्तदस्य सहेद् बुधः ।[1]

अल्पबुद्धि व्यक्ति जो कुछ भी कहे उसे विद्वानो को सह लेना चाहिये ।

नोच्छ्रितं सहते कश्चित् प्रक्रिया वैरकारिणी ।[2]

कोई किसी का आगे बढ़ना सहन नहीं करता है और यही बात वैर-विरोध करानेवाली होती है ।

साक्षर—

साक्षरा विपरीताश्चेद् राक्षसा एव केवलम् ।[3]

साक्षर यदि विपरीत हो जाँय तो वे निरे राक्षस ही हैं ।
("साक्षरा" शब्द को उलट देने पर "राक्षसा" हों जाता है)

साधु—

साधवो यदि विद्यन्ते किं तपस्तीर्थसंग्रहैः ।[4]

यदि साधुजन सुलभ हैं तो तपस्या और तीर्थों से क्या लाभ ?

बोधयन्ति बलादेव सानुकम्पा हि साधवः ।[5]

कृपालु साधुपुरुष बलपूर्वक भी ज्ञान दान करते हैं ।

साधुता समदृष्टिता ।[6]

समदर्शिता ही साधुता है ।

सुखयन्ति हि चेतांसि जीविताद्पि साधवः ।[7]

साधु पुरुष अपते जीवन को भी देकर दूसरों के चित्त को सुखी बनाते हैं ।

---

१ शांति० ११४।७
२ शांति० ११५।५९
३ सु० र० भा० पृ० १५८
४ योवा० मु० १६।१
५ योवा० नि० पू० ६६।३
६ योवा० नि० उ० ६५।२५
७ योवा० उ० ३।७७।२७

सर्वभूतहितः साधुः ।[1]

साधु पुरुष सब प्राणियों के हितकारी होते हैं।

साधवः प्रियदर्शनाः ।[2]

साधु जनो का दर्शन प्रिय होता है।

दर्शनादेव साधवः ।[3]

साधु पुरुष दर्शन मात्र से मनुष्य को पवित्र कर देते हैं।

अयं हि लाभः परमो नृणां साधुसमागमः ।[4]

साधु पुरुषों का समागम, यह मनुष्यों के लिए सबसे बड़ा लाभ है।

श्रेयः कुर्वन्ति भूतानां साधवो दुस्त्यजासुभिः ।[5]

साधु पुरुष अपने अत्यन्त प्रिय प्राणों से भी प्राणियों का कल्याण करते हैं।

ध्रुवा साधुषु सन्नतिः ।[6]

साधु पुरुषों में विनम्रता सुनिश्चित है।

तप्यन्ते लोकतापेन साधवः प्रायशो जनाः ।[7]

प्रायः साधु पुरुष दूसरों के ही दुःख से दुःखी रहा करते हैं।

साधवो दीनवत्सलाः ।[8]

साधु पुरुष दीन-दुःखियों के लिए दयालु होते हैं।

---

१ वन० ३१३।९१
२ सभा० ७३।११
३ भाग० १०।८४।११
४ भाग० १२।१०।७
५ भाग० ८।२०।८
६ द्रोण० ७६।२५
७ भाग० ८।७।४४
८ भाग० ११।२।६

सर्वलोकहिते सक्ताः साधवः परिकीर्तिताः ।[1]

जो लोग सब लोगों के हित साधन में लगे रहते हैं वे ही साधु कहलाते हैं।

ते साधवो भुवनमण्डलमौलिभूता
ये साधुतामनुपकारिषु दर्शयन्ति ।[2]

वे साधु समस्त भुवनों के मौलिस्वरूप हैं, मूर्धन्य हैं, जो अपकार करनेवालों के साथ भी साधुता दिखलाते हैं।

साधूनां दर्शनं पुण्यम् ।[3]

साधुओं का दर्शन पुण्यकारी होता है।

साधवो नहि सर्वत्र ।[4]

सब जगह साधु पुरुष नहीं मिलते।

कालेन फलते तीर्थं सद्यः साधुसमागमः ।[5]

तीर्थ कुछ समय के बाद फल देते हैं पर साधुओं का समागम-तत्काल फल देता है।

ब्रुवते हि फलेन साधवो न तु कण्ठेन निजोपयोगिताम् ।[6]

साधुजन फल से अपनी उपयोगिता बतलाते हैं कण्ठ से नहीं।

साधोः प्रकोपितस्यापि मनो नायाति विक्रियाम् ।[7]

साधु पुरुष को कुपित कर देने के बाद भी उसके मन में विकार नहीं पैदा होता।

---

१ बृ० ना० १५।३०
२ पद्म० उ० ख० ७।२५
३ चा० नी० १२।८
४ चा० नी० २।९
५ चा० नी० १२।८
६ नै० च० २।४८
७ तो० १।८६

आत्मौपम्येन भूतेषु दयां कुर्वन्ति साधवः ।[1]

साधु जन अपने समान ही दूसरे प्राणियों को भी समझकर उन पर दया किया करते हैं।

चित्ते वाचि क्रियायां च साधूनामेकरूपता ।[2]

मन, वचन एवं कर्म में साधुओं में एकरूपता होती है।

स्नेहच्छेदेऽपि साधूनां गुणा नायान्ति विक्रियाम् ।[3]

स्नेह के टूट जाने पर भी साधुओं में सहज गुणों में विकार नहीं आता।

नहि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति ।[4]

किसी के द्वारा किये गये उपकार को साधुजन नहीं भूलते हैं।

शान्तिमिच्छन्ति साधवः ।[5]

साधु लोग शान्ति चाहते हैं।

क्षमाशीला हि साधवः ।[6]

साधु पुरुष क्षमाशील होते हैं।

गुणमेव वक्ति साधुर्दोषमसाधुः प्रकाशयति ।[7]

साधु पुरुष गुण को ही प्रकाशित करते हैं और असाधु पुरुष दोष को ही।

निर्गुणेष्वपि जीवेषु दयां कुर्वन्ति साधवः ।[8]

साधु पुरुष गुणहीन जीवों पर भी दया करते हैं।

---

१ तो० १।१२
२ सु० र० भा० पृ० ४६
३ तो० १।९५
४ सु० र० भा० पृ० ५१
५
६
७ सु० र० भा० पृ० ४८
८ सु० र० भा० पृ० ४६

देखिये—"सज्जन"

साम—

नहि सामोपपन्नानां प्रहर्ता विद्यते भुवि ।[१]

जो लोग शान्ति से काम लेते हैं उनपर दुनियाँ में कोई प्रहार नहीं करता।

न साम रक्षस्सु गुणाय कल्पते ।[२]

राक्षसों पर साम का प्रयोग करना गुणकारी नहीं होता।

सामसिद्धानि कार्याणि विकृतिं यान्ति न क्वचित् ।[३]

साम के द्वारा सिद्ध हुए काम कभी विकृति नहीं होते बिगड़ते नहीं।

सामसाध्यं युद्धसाध्यं न कुर्यात् ।[४]

जो काम साम से सिद्ध होने लायक हो उसके लिए युद्ध करना ठीक नहीं।

सिद्धि—

निरुत्सुकानामभियोगभाजां समुत्सुकेवाङ्कमुपैति सिद्धिः ।[५]

निष्काम होकर नित्य पुरुषार्थ में लगे रहनेवाले लोगों की गोद में स्वयं ही उत्सुक होकर सिद्धि आ बैठती है।

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ।[६]

मनुष्य अपने कर्तव्यों द्वारा परमात्मा के पूजा की सब सिद्धियाँ प्राप्त कर लेता है।

---

१ वा० रा० ४।५९।१७
२ वा० रा० ५।४१।३
३ पञ्च० ३।१३१
४ सो० नी० ३०।२७
५ किराता० ३।४०
६ भ० गी० १८।४६

उद्योगोऽध्यवसायश्च यस्यैते तस्य सिद्धयः ।[1]

जो पुरुष उद्योग और अध्यवसाय में निरत रहता है उसी को सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

सत्यश्रमाभ्यां सकलार्थसिद्धिः ।[2]

सत्य और श्रम इन दो गुणों से सकल कार्य सिद्ध हो जाते हैं।

विनीतक्रोधहर्षस्य सततं सिद्धिरुत्तमा ।[3]

क्रोध और हर्ष पर जिसका नियन्त्रण है उसके कार्यों में सदा ही उत्तम सिद्धि प्राप्त होती है।

यथाशास्त्रमनुद्वेगमाचरन् को न सिद्धिभाक् ।[4]

कौन विना उद्वेग और उत्तेजना के शास्त्रानुसार काम करनेवाला व्यक्ति सिद्धि प्राप्त नहीं करता ?

साहस—

साहसे श्रीः प्रतिवसति ।[5]

साहस में श्री का निवास करती है।

को हि नाम भवेनार्थी साहसेन समाचरेत् ।[6]

कौन कल्याण का इच्छुक व्यक्ति दुःसाहस से काम करेगा ?

नहि साहसकर्तारः सुखमेधन्ति (भारत) ।[7]

दुःसाहस करनेवाले लोग सुखी नहीं रहते।

प्राप्यते किं यशः शुभ्रमनङ्गीकृत्य साहसम् ।[8]

विना साहस किये क्या उज्ज्वल यश प्राप्त होता है ?

---

१ का० नी० सा० १७।३७.
२
३ शान्ति० २६।१२
४ योवा० स्थि० ३२।४९
५ चा० सू० २।५०
६ आदि० २२०।२८
७ वन० २४६।२०
८ क० स० ५।२।२२५

साहित्य—

साहित्यसंगीतकलाविहीनः साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः ।[1]

साहित्य एवं संगीतकला से विहीन व्यक्ति पूँछ और सींघ से विहीन साक्षात् पशु है।

सुकृती—

अङ्गीकृतं सुकृतिनः परिपालयन्ति ।[2]

सुकृती जन जो कुछ स्वीकार करते हैं उसका पालन करते हैं।

सुख—

यो वै भूमा तत् सुखम्, नाल्पे सुखमस्ति, भूमैव सुखम्, भूमात्वेव विजिज्ञासितव्य इति ।[3]

जो भूमा अर्थात् महान है असीम है वही सुख है, और जो अल्प है, ससीम है, क्षुद्र है उसमें सुख नहीं है। भूमा ही सुख है। इसलिए भूमा क्या है इसे जानने का प्रयत्न करना चाहिये।

यदा वै सुखं लभते अथ करोति, नासुखं लब्ध्वा करोति, सुखमेव लब्ध्वा करोति, सुखं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति ।[4]

जब मनुष्य सुख पाता है तभी काम करता है, दुःख पाकर काम नहीं करता, सुख ही पाकर काम करता है। अतः सुख की ही जिज्ञासा करनी चाहिये। सुख क्या है इसे जानने का प्रयत्न करना चाहिये।

सर्वमात्मवशं सुखम् ।[5]

जो कुल स्वाधीन है वह सब सुख है।

यदिष्टं तत् सुखं प्राहुर्द्वेष्यं दुःखमिहोच्यते ।[6]

जो प्रिय हो वही सुख है और जो अप्रिय हो वही दुःख कहलाता है।

---

१ म० नी० १२
२
३ छा० उ० ७।२३।१
४ छा० उ० ७।२३।१
५ मनु० २।१६०
६ शांति० २९५।२७

विधिपूर्वं हि सर्वस्य दुःखं वा यदि वा सुखम् ।[1]

सबका दुःख अथवा सुख विधि के विधान के अनुसार होता है।

सर्वाणि भूतानि सुखे रमन्ते सर्वाणि दुःखस्य भृशं त्रपन्ते ।[2]

सभी प्राणी सुख में आनन्द प्राप्त करते हैं और दुःख-से बहुत डरते है।

तत् सुखं यत्र निर्वृतिः ।[3]

वह सुख है जिसमें शान्ति हो।

नाऽकृत्वा सुखमेधते ।[4]

विना कर्तव्य किये मनुष्य सुख नहीं प्राप्त करता।

धर्मार्थकामान् योऽभ्येति सोऽत्यन्तं सुखमश्नुते ।[5]

धर्म, अर्थ और काम इन सबका जो सेवन करता है वह अत्यन्त सुख प्राप्त करता है।

सुखानि सहभोज्यानि ।[6]

सुखों का सबके साथ उपभोग करना चाहिये।

कर्मणां तु प्रशस्तानामनुष्ठानं सुखावहम् ।[7]

उत्तम कर्मों का अनुष्ठान सुख का साधक होता है।

सुखमर्थाश्रयं येषामनुशोचामि तानहम् ।[8]

जो लोग सुख को अर्थ के अधीन मानते हैं, अर्थसाध्य मानते हैं वे शोचनीय हैं।

---

१ आदि० २०४।१५
२ शांति० २४५।२५
३ शान्ति० १११।३२
४ शान्ति० २९०।१२
५ शान्ति० ६०।२२
६ उद्योग० ३९।२३
७ उद्योग० ३८।२३
८ शान्ति० १०४।८

इह खलु अमुस्मिंश्च लोके वस्तुप्रवृत्तयः सुखार्थमभिधीयन्ते। न ह्यतः परं त्रिवर्गफलं विशिष्टतरमस्ति।[1]

इस लोक तथा परलोक में भी सारी प्रवृत्तियाँ केवल सुख के लिये हैं और धर्म, अर्थ, काम का इसके अतिरिक्त और कोई विशिष्ट फल नहीं है।

सुखं सुखेनेह न जातु लभ्यम्।[2]

सुख से सुख नहीं प्राप्त किया जा सकता है।

सुखं समग्रं विज्ञाने विमले च प्रतिष्ठितम्।[3]

मनुष्य का समग्र शारीरिक, मानसिक एवं सांसारिक सुख विमल विज्ञान के ऊपर प्रतिष्ठित है।

सन्तोषमूलं हि सुखं दुःखमूलं विपर्ययः।[4]

सुख का मूल सन्तोष है तथा दुःख का मूल उसके विपरीत असन्तोष है।

सुखं हि जन्तुर्यदि वाऽपि दुःखं दैवाधीनं विन्दते नाऽत्मशक्त्या।[5]

मनुष्य सुख अथवा दुःख दैव के अनुसार प्राप्त करता है अपनी शक्ति से नहीं।

अनित्यतां सुखदुःखस्य बुद्ध्वा कस्मात् सन्तापमष्टकाहं भजेयम्।[6]

अष्टका, सुख एवं दुःख की अनित्यता को समझते हुए भी मैं क्यों सन्ताप सहूँ।

दुःखे कालः सुदीर्घो हि सुखे लघुतरः सदा।[7]

समय दुःख में बहुत लम्बा होता है और सुख में बहुत छोटा होता है।

---

१ शान्ति० १९०।९
२ वन० २३३।४
३ च० सं० १।१११।८२
४ मनु० ४।१२
५ आदि० ८९।८०
६ आदि० ८९।१२
७ योवा० उ० ८०।४३

अविदित्वा सुखं ग्राम्यं वैतृष्ण्यं नैति पूरुषः ।[१]

ग्रामीण सुख का विना अनुभव किये मनुष्य उससे विरक्त नहीं होता।

तृणानामिव हि व्यर्थं नृणां जन्म सुखद्विषाम् ।[२]

सुख से द्वेष करनेवाले लोगों का जन्म तृणों के समान व्यर्थ है।

न सुखात् लभ्यते सुखम् ।[३]

सुख से सुख की प्राप्ति नहीं होती।

न च सुखान्यविघ्नानि ।[४]

सुख विघ्नरहित नहीं होते।

सुखं हि दुःखान्यनुभूय शोभते ।[५]

दुःखों का अनुभव करने के बाद सुख विशेष आनन्दायी होता है।

यदेवोपनतं दुःखात् सुखं तद् रसवत्तरम् ।[६]

जो भी सुख दुःख उठाने के बाद प्राप्त होता है वह अधिक स्वादिष्ट होता है।

प्रतीकारो व्याधेः सुखमिति विपर्यस्यति जनः ।[७]

किसी व्याधि अथवा दुःख के होने पर उसका जो प्रतीकार अथवा निवारण किया जाता है उसी को लोग भ्रमवश सुख कहा करते हैं।

सुख-दुःख—

तृष्णार्तिप्रभवं दुःखं दुःखार्तिप्रभवं सुखम् ।[८]

पहले जब कोई तृष्णा उत्पन्न होती है तब उसकी पीड़ा से दुःख होता है और उस दुःख की पीड़ा से फिर सुख होता है।

---

१ भाग० ११८ ४०
२
३
४ हितो० २।१७३
५ मृ०-१।१०
६ विक्र० ३।२१
७ वे० श० ८८
८ शान्ति० २५।२२

कस्यात्यन्तं सुखमुपगतं दुःखमेकान्ततो वा
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण ।[1]

एकमात्र सुख या एकमात्र दुःख किसको प्राप्त होता है ? चक्रनेमि के अनुसार सबकी दशा ऊपर-नीचे चढ़ती-उतरती रहती है ।

आगामि सुखं वा दुःखं वा हृदयं समर्थीकरोति ।[2]

आगामी सुख या दुःख को हृदय ही समझता है ।

सुख-दुःखे हि पुरुषः पर्यायेणोपसेवते ।[3]

मनुष्य सुख और दुःख को पारी-पारी से प्राप्त करता है ।

सुखमापतितं सेवेत् दुःखमापतितं सहेत् ।[4]

यदि सुख प्राप्त हो जाय तो उसका उपभोग करना चाहिये और यदि दुःख आ पड़े तो उसे झेलना चाहिये ।

अनुकूलवेदनीयं सुखम् । प्रतिकूलवेदनीयं दुःखम् ।[5]

जो विषय अनुकूल प्रतीत हो वह सुख है और जो विषय प्रतिकूल प्रतीत हो वह दुःख है ।

आत्मानमेव मन्येत कर्तारं सुखदुःखयोः ।[6]

मनुष्य को चाहिये कि वह अपने को ही सुख-दुःख का कर्ता समझे ।

मनसः परिणामोऽयं सुखदुःखादिलक्षण : ।[7]

यह जो सुख या दुःख है वह मन का परिणाम है ।

सुखमध्ये स्थितं दुःखं दुःखमध्ये स्थितं सुखम् ।[8]

सुख में भी दुःख रहता है और दुःख में भी सुख रहता है ।

---

१ मे० उ० ४६
२ मा० अ० ५।९
३ वन० २५९।१३
४ वन० २५९।१५
५ त० सं०
३
७ वि० पु० २।६।४७
८ अ० रा० २।६।१३

सुजन—देखिये "सज्जन"

सुन्दर—

यदेव रोचते यस्मै तत्तदेवास्य सुन्दरम् ।[१]

जो ही वस्तु जिसे अच्छी लगती है वही उसके लिये सुन्दर है।

किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाऽकृतीनाम् ।[२]

सुन्दर आकृतियों के लिए कौन वस्तु अलंकार नहीं बन जाती है?

न रम्यमाहार्यमपेक्षते गुणम् ।[३]

रमणीय वस्तु ऊपरी अलंकरण की अपेक्षा नहीं करती।

रम्याणां विकृतिरपि श्रियं तनोति ।[४]

रमणीय वस्तुओं को विकृति भी शोभावर्धक होती है।

सुन्दरता—

अहो सर्वास्ववस्थासु चारुता शोभान्तरं पुष्णाति ।[५]

अहो, सुन्तरता सभी अवस्थाओं में शोभा की बृद्धि करती है।

सुलभा रम्यता लोके दुर्लभं हि गुणार्जनम् ।[६]

लोक में सुन्दरता सुलभ है पर गुणार्जन दुर्लभ है।

क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः ।[७]

जो प्रत्येक क्षण में नवीन प्रतीत होता है वही रमणीयता का स्वरूप है।

---

१ हितो० २।५५
२ अ० शा० १।१८
३ किराता० ४।३३
४ किरात० ७।५
५ मा० अ० २।५
६ किराता० ११।११
७ शि० व० ४।१७

सुभाषित—

नूनं सुभाषितरसोऽन्यरसातिशायी ।[1]

निश्चय ही सुभाषितों का रस अन्य रसों से बढकर होता है।

बालादपि सुभाषितम् ।[2]

बालक से भी सुभाषित (अच्छी बात) ग्रहण करना चाहिये।

युक्तियुक्तमुपादेयं वचनं बालकादपि ।[3]

युक्तियुक्त वचन बालक से भी ग्रहण करना चाहिये।

अथवाऽभिनिविष्टबुद्धिषु व्रजति व्यर्थकतां सुभाषितम् ।[4]

जो लोग आग्रही होते हैं उनसे कही हुई अच्छी बात भी व्यर्थ हो जाती है।

सेवा—

सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः ।[5]

सेवाधर्म बहुत कठिन है। वह योगियों के लिए भी अगम्य है।

मनुष्यजातौ तुल्यायां भृत्यत्वमतिगर्हितम् ।[6]

सब मनुष्यों के समान होने पर किसी मनुष्य का भृत्य बनना या बनाना अत्यन्त अनुचित है।

राज्ञि सेवा च शोभते ।[7]

सेवा (नौकरी) राज-दरबार की अच्छी होती है।

---

१ सु० र० भा० पृ० २९
२ मनु० २।२३९
३ योवा० मु० १।१८।१३
४ शि० व० १६।४३
५ भ० नी० ५८
६ हितो० २।४२
७ चा० नी० २।२०

स्वाधीना वचनीयतापि हि वरं बद्धो न सेवाञ्जलिः ।[1]

स्वाधीनता में निन्दा होनी अच्छी परन्तु सेवा में बद्धाञ्जलि होकर रहना अच्छा नहीं।

सेवक—

नवः सेवकः को नाम न भवति भीतो विनीतो वा ?[2]

कौन नया सेवक (आरम्भ में) भयभीत या विनीत नहीं रहता ?

सौजन्य—

तत् किं सौजन्यं यत्र परोक्षे पिशुनभावः ।[3]

वह कैसा सौजन्य जिसमें परोक्ष में पिशुनभाव रहता हो।

सौहार्द—

सन्निकर्षाच्च सौहार्दं जायते स्थावरेष्वपि ।[4]

अत्यन्त समीप रहने से स्थावरों में भी सौहार्द हो जाता है।

असतामपि संरूढं सौहार्दं न निवर्तते ।[5]

दुर्जनों का भी प्रगाढ़ सौहार्द नष्ट नहीं होता।

तत् किं सौहृदं यत्र न समानसुखदुःखता ।[6]

वह कैसा सौहार्द है जिसमें सुख और दुःख में समानता न हो।

कुवाक्यान्तं च सौहृदम् ।[7]

कुवाक्य बोलने से सौहार्द नष्ट हो जाता है।

---

१ मृच्छ० ३।११
२ सो० नी० ३२।७१
३ सो० नी० २७।२०
४ वा० रा० २।८।२८
५ योवा० उप० ८२।४७
६ शु० प० ३५वीं कथा
७ पञ्च० ५।७२

स्त्री—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ।[१]

जहाँ नारियों की पूजा होती है वहाँ देवता निवास करते हैं।

स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन ।[२]

घर के लिए स्त्रियाँ श्री के समान हैं। स्त्री और श्री में कोई भेद नहीं होता।

शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु कुलम् ।[३]

जिस कुल में स्त्रियाँ शोक करती हैं उस कुल का शीघ्र ही विनाश हो जाता है।

स्त्रियां तु रोचमानायां सर्वं तद् रोचते कुलम् ।[४]

स्त्री के प्रसन्न एवं प्रफुल्लित होने पर सारा कुल ही प्रसन्न एवं प्रफुल्लित रहता है।

न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ।[५]

स्त्रियों के लिए स्वतंत्र होना उचित नहीं।

वृत्तमाभरणं स्त्रियः ।[६]

शील एवं सदाचार ही स्त्रियों का आभरण है।

न सा स्त्री स्वभिमन्तव्या यस्यां भर्ता न तुष्यति ।[७]

वह स्त्री सम्मान योग्य नहीं जिस पर पति प्रसन्न न रहता हो।

यः सदारः स विश्वास्यः तस्माद् दाराः परा गतिः ।[८]

जिस पुरुष को स्त्री होती है वह विश्वसनीय होता है। इसलिए पुरुषों के लिए स्त्रियाँ परम गति हैं।

---

१ मनु० ३।५६
२ मनु० ९।२६
३ मनु० ३।५७
४ मनु० ३।६२
५ मनु० ९।३
६ वा० रा० ६।१११।२६
७ शान्ति० १४५।३
८ आश्व० ७४।४४

कुसुमधर्माणो हि योषितः सुकुमारोपक्रमाः ।[1]

स्त्रियों के सभी काम एवं व्यवहार फूल के समान सुकुमार होते हैं।

नहि स्त्रीषु महात्मानः क्वचिद् कुर्वन्ति दारुणम् ।[2]

महात्मा पुरुष स्त्रियों के साथ कभी भी कठोर व्यवहार नहीं रखते।

स्त्रियं त्यक्त्वा जगत् त्यक्तं जगत् त्यक्त्वा सुखी भवेत् ।[3]

स्त्री के त्याग से जगत् का त्याग हो जाता है ओर जगत् के त्याग से मनुष्य सुखी हो जाता है।

भर्तुर्विघटयन्तीच्छां न स्वप्नेऽपि कुलस्त्रियः ।[4]

कुलीन स्त्रियाँ स्वप्न में भी पति की इच्छा के विरुद्ध नहीं जातीं।

कान्ताविरहिणामेकं वासरं वत्सरायते ।[5]

स्त्री से वियुक्त लोगों के लिए एकदिन भी एक वर्ष के समान हो जाता है।

रतिशीला हि योषितः ।[6]

स्त्रियाँ संभोगशील होती हैं।

सर्वेषामेव रत्नानां स्त्रियो रत्नमनुत्तमम् ।[7]

स्त्रियाँ सभी रत्नों में सर्वोत्तम रत्न हैं।

स्त्रीणां कौतूहलं मलम् ।[8]

स्त्रियों के लिए कुतूहलप्रिय होना दोष है।

---

१ का० सू० ३।२।६

२ वा० रा० ४।३३।३५

३ योवा०

४ योवा० नि० पू० ८४।२१

५ योवा० उ० २०।५१

६ अनु० ११।१२

७ चा० नी० शा० सं० १०५१

८ शान्ति० ३२८।२०

स्त्रियो ह्यवध्याः सर्वेषां ये धर्ममभिविन्दते ।[१]

जो लोग धर्म को मानते हैं उन लोगों के लिए स्त्रियाँ अवध्य है।

समस्तभावैः खलु बन्धनं स्त्रियः ।[२]

स्त्रियाँ सब प्रकार से मनुष्यों के लिए बन्धन हैं।

सुखस्य च स्त्रियो मूलम् ।[३]

स्त्रियाँ सुख का मूल हैं।

सुखस्य मूलं प्रमदाः ।[४]

प्रमदायें सुख का मूल हैं।

स्त्रियः प्रियेषु सज्जन्ते ह्यपि विप्रियकारिषु ।[५]

स्त्रियाँ अप्रिय काम करनेवाले पतियों से भी अनुरक्त एवं आसक्त रहती है।

स्त्रीजातिः स्निग्धमानसा ।[६]

स्त्रियों का मन स्नेहमय होता है।

चिरत्रावरणा. स्त्रियः ।[७]

अच्छा चरित्र ही स्त्रियों के लिये आवरण (पर्दा) है।

तदैव तत् कुलं नास्ति यदा शोचन्ति जामयः ।[८]

वह कुल उसी समय समाप्त हो जाता है, नष्ट हो जाता है जब उसकी स्त्रियाँ दुःखी रहती हैं।

---

१ वन० २०६।४०
२ शृं० श० २
३ ना० शा० २ ।९८
४ ना० शा० २४।१४७
५ ना० शा० २०।१४२
६ दे० भा० ९।१३।४४
७ चा० श० ७६
८ मनु० ४६।६

यथात्मनस्तथाऽन्येषां दारा रक्ष्या विपश्चिता ।[१]

विद्वान् अर्थात् समझदार व्यक्ति के लिए जैसे अपनी स्त्रियाँ वैसे ही दूसरों की भी स्त्रियाँ रक्षणीय होती हैं।

पुत्रार्था यौवनार्था च गृहार्था स्त्री प्रिया नृणाम् ।[२]

पुत्र के लिए, जवानी के समय के लिए तथा गृह व्यवस्था के लिए मनुष्य को स्त्री प्रिय होती है।

हता नीरसनाथा स्त्री ।[३]

जिस स्त्री का पति नीरस हो वह अभागिन है।

जगज्जीर्णारण्यं भवति हि कलत्रव्युपरमे ।[४]

कलत्र (स्त्री) के न रहने पर जगत पुराने जंगल के समान दुःखद हो जाता है।

स्त्रियो हि नाम खल्वेता निसर्गादेव पण्डिताः ।[५]

ये जो स्त्रियाँ हैं वे स्वभाव से ही पण्डित होती हैं। चतुर होती हैं।

स्त्रीणां भूषणं सौभाग्यम् ।[६]

स्त्रियों का भूषण सौभाग्य (पति का होना) है।

दुर्लभः स्त्रीबन्धनान्मोक्षः ।[७]

स्त्री के बन्धन से मोक्ष अत्यन्त कठिन होता है।

न स्वातन्त्र्यं क्वचित् स्त्रियाः ।[८]

स्त्री के सर्वथा स्वतन्त्र होने का कहीं विधान नहीं है।

---

१ वा० रा० ३।५०।८
२ बृ० पु० १०।७
३ योवा० नि० उ० ६५।५
४ उ० रा० ६।३८
५ मृच्छ० ४।१९
६ चा० सू० ६।७९
७ चा० सू० ७।२
८ याज्ञ० स्मृ० १।३।८५

गृहिणी सचिवः सखा मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ ।[१]

स्त्री पति के लिए गृहिणी होती है, मन्त्री होती है, मित्र होती है तथा ललित कलाओं के शिक्षण में प्रिय शिष्य भी होती है।

इह प्रेत्य च नारीणां पतिरेको गतिः सदा ।[२]

इस लोक तथा परलोक में भी नारियों का एकमात्र गति पति ही होता है।

स्त्रीस्वभावस्तु कातरः ।[३]

स्त्रियों का स्वभाव कातर होता है। दुर्बल होता है।

रमणीयः खलु नवाङ्गनानां मदनविषयावतारः ।[४]

नई अङ्गनाओं में काम का संचार बहुत रमणीय होता है।

कुतूहलवानपि निसर्गशालीनः स्त्रीजनः ।[५]

स्त्रियाँ कुतूहलवती होने पर भी निसर्ग से ही शालीन होती हैं।

स्त्रीणामाद्यं प्रणयवचनं विभ्रमो हि प्रियेषु ।[६]

स्त्रियों का हावभाव दिखाना ही प्रेमियों से प्रेम की प्रथम वार्ता है।

कान्तोदन्तः सुहृदुपगतः संगमात् किञ्चिदूनः ।[७]

किसी सुहृद के द्वारा प्राप्त प्रियतम का समाचार स्त्रियों के लिये उसके संगम से थोड़ा ही कम होता है।

रूपयौवनमाधुर्यं स्त्रीणां बलमनुत्तमम् ।[८]

रूप, यौवन एव माधुर्य स्त्रियों का सर्वोत्तम बल है।

---

१ रघु० ८।६०
२ वा० रा० २।२७।६
३ स्वप्न० ४।८
४ मा० अ० ४।१४
५ मा० अ० ४। ४
६ मेघ० पू० ३०
७ मेघ० उ० ४२
८ चा० नी० ७।१९

स्त्री भ्रमन्ती विनश्यति ।[1]

भ्रमणशील स्त्री विनष्ट हो जाती है। बिगड़ जाती है।

जारस्त्रीणां पतिः शत्रुः ।[2]

व्यभिचारिणी स्त्रियों के लिए पति शत्रु होता है।

या सौन्दर्यगुणान्विता पतिरता सा कामिनी कामिनी ।[3]

जो सौन्दर्य से युक्त हो और पतिपरायण हो वही कामिनी कामिनी है।

स्थान—

स्थानं प्रधानं न बलं प्रधानम् ।[4]

स्थान प्रधान होता है, बल प्रधान नहीं होता।

स्थानभ्रष्टा न शोभते दन्ताः केशा नखा नराः ।[5]

दाँत, केश, नख और नर ये सब स्थान से भ्रष्ट हो जाने पर अच्छे नहीं लगते।

स्थानमुत्सृज्य गच्छन्ति सिंहाः सत्पुरुषाः गजाः ।[6]

सिंह, सत्पुरुष और हाथी ये अपने जन्मस्थान को छोडकर दूर देश में चले जाते हैं।

स्नेह—

कार्यापेक्षा हि वर्तन्ते भावस्निग्धाः सुदुर्लभाः ।[7]

सब लोग किसी कार्यवश ही स्नेह करते हैं परन्तु भाव से स्नेह करनेवाले लोग बहुत दुर्लभ होते हैं।

---

१ चा० नी० ६।४
२ चा० नी० १०।६
३ गु० र० १०
४
५ हितो० १।१६९
६ हितो० १।१७०
७ शान्ति० १११।८६

अहो वत दुरुच्छेदाः प्राणिनां स्नेहवागुराः ।[१]

आश्चर्य है कि प्राणियों का स्नेहबन्धन बहुत कठिनाई से दूर किया जा सकता है।

स्नेहमूलानि दुःखानि स्नेहजानि भयानि च ।[२]

स्नेह दुःखों का मूल है तथा भय भी स्नेह के कारण ही उत्पन्न होता है।

स्नेहेन युक्तस्य च नास्ति मुक्तिः ।[३]

स्नेह से युक्त पुरुष की मुक्ति नहीं होती।

पैशुन्याद् भिद्यते स्नेहः ।[४]

चुगली करने से स्नेह टूट जाता है।

स्नेहमूलानि दुःखानि तस्मिन् त्यक्ते महत् सुखम् ।[५]

स्नेह ही दुखों का मूल कारण है। उसको छोड देने पर महान सुख प्राप्त होता है।

स्नेहबद्धमिदं जगत् ।[६]

यह जगत स्नेह से बँधा हुआ है।

दीनतो बालतश्चैव स्नेहं कुर्वन्ति मानवाः ।[७]

मनुष्य दीन-दुःखी तथा बालकों से (स्वभावतः) स्नेह करते हैं।

लोको नोपकरोत्यर्थैः सामान्यः स्निग्धतां विना ।[८]

---

१ योवा० उ० ४३।४८
२ वन० २।२८
३ शान्ति० १६७।४६
४ पंच० १।१०२
५ वृ० नी० ११३।५९
६ भाग० ८।१६।१८
७ आदि० १५६।९
८ योवा० उ० १०६।४९

सम्भ्रमः स्नेहमाख्याति ।[१]

आदर-सत्कार स्नेह को सूचित करता है।

दोषदर्शी भवेत्तत्र यत्र स्नेहः प्रवर्तते ।[२]

जहाँ स्नेह-प्रेम होता है, वहाँ कुछ दोष हो सकता है, यह ध्यान में रखना चाहिये।

अतिस्नेहः पापाशंकी ।[३]

अधिक स्नेह होने पर अनिष्ट की आशंका बनी रहती है।

अतिस्नेहो न कर्तव्यो वियोगो ध्रुवो हि तैः ।[४]

किसी के साथ अत्यधिक स्नेह नहीं करना चाहिये क्योंकि उनके साथ वियोग भी सुनिश्चित है।

यत्र स्नेहो भयं तत्र स्नेहो दुःखस्य भाजनम् ।[५]

जहाँ स्नेह है वहाँ भय है। स्नेह दुःख का कारण है।

स्नेहानाहुः किमपि विरहे ध्वंसिनस्ते त्वभोगाद्,
इष्टे वस्तुन्युपचितरसाः प्रेमराशीभवन्ति ।[६]

लोग यह कहा करते हैं कि विरह में प्रेम कम हो जाता है। सच्ची बात तो यह है कि जब चाही हुई वस्तुएँ नहीं मिलतीं तभी उन्हें पाने के लिए प्यास बढ़ जाती है और ढेरों प्रेम आकर इकठ्ठा हो जाता है।

स्पष्टवक्ता—

स्पष्टवक्ता न वञ्चकः ।[७]

जो आदमी स्पष्टवक्ता है वह वञ्चक (ठग) नहीं होता।

---

१ चा० नी० ३।२
२
३ अ० शा० ४।१९
४
५ चा० नी० १३।६
६ मेघ० उ० ५५
७ पञ्च० १।१५५

स्मृति—

स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ।[१]

स्मृति नष्ट होने से बुद्धि नष्ट हो जाती है और बुद्धि के नष्ट हो जाने से मनुष्य का नाश हो जाता है।

स्वजन—

निर्गुणः स्वजनः श्रेयान् यः परः पर एव सः ।[२]

अपना आदमी निर्गुण भी है तो बहुत अच्छा है। जो पराया है वह तो पराया ही है।

स्वजनस्य हि दुःखमग्रतो विवृतद्वारमिवोपजायते ।[३]

मनुष्य का दुःख अपने बन्धुओं के आगे खुले दरवाजे के समान विशाल हो जाता है।

अर्थैर्विहीनस्य पदच्युतस्य भवत्यकाले स्वजनोऽपि शत्रुः ।[४]

जब व्यक्ति धनहीन तथा पदच्युत हो जाता है तो ऐसे कुसमय में आत्मीय जन भी शत्रु हो जाता है।

सत्कृतं स्वजनेनेह परोऽपि बहु मन्यते ।[५]

अपने भाई-बन्धु जिसका आदर करते हैं उसका दूसरे लोग भी आदर करते हैं।

स्वप्न—

इन्द्रियाणां श्रमात् स्वप्नमाहुः सर्वगतं बुधाः ।[६]

इन्द्रियों के परिश्रम से सबको निद्रा आती है, ऐसा विद्वान् कहते हैं।

---

१ भ० गी० २।६३
२ वा० रा० ६।८७।१
३ कु० सं० ४।२६
४ वृ० नी० २।७
५ शान्ति ६७।३५
६ शान्ति० ३१०।६

स्वधर्म–

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात् ।[1]

दूसरे के उत्तम धर्म की अपेक्षा विगुण भी अपना धर्म अच्छा है।

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ।[2]

अपने धर्म में निधन हो जाना श्रेयस्कर है पर दूसरे का धर्म स्वीकार करना भयावह होता है।

स्वभाव–

स्वभावो दुरतिक्रमः ।[3]

स्वभाव का बदलना बहुत कठिन है।

कामं स्वभावो यो यस्य न शक्यः परिमार्जितुम् ।[4]

चाहे जैसा भी जिसका स्वभाव हो वह मिटाया नहीं जा सकता।

स्वभावतन्त्रो हि जनः स्वभावमनुवर्तते ।[5]

मनुष्य स्वभाव से परतन्त्र है। वह स्वभाव के अनुसार ही चलता है।

अतीत्य हि गुणान् सर्वान् स्वभावो मूर्ध्नि तिष्ठति ।[6]

समस्त गुणों का अतिक्रमण कर स्वभाव ही सबके ऊपर रहता है।

स्वभावं च समासाद्य न कश्चिदतिवर्तते ।[7]

अपने स्वभाव का कोई भी अतिक्रमण नहीं करता।

---

१ भ० गी० ३।३५
२ भ० गी० ३।३५
३ वा० रा० ६।३६।११
४ वा० रा० ३।५०।११
५ भाग० १०।२५।१६
६ हितो० १।२०
७ वा० रा० ० ४।२५।१६

स्वभावविजयः शौर्यम् ।[1]

स्वभाव पर विजय प्राप्त कर लेना ही शूरता है।

स्वभावो नोपदेशेन शक्यते कर्तुमन्यथा ।[2]

उपदेश के द्वारा किसी का स्वभाव नहीं बदला जा सकता।

स्वभावे वर्तते लोकः ।[3]

सब लोग अपने अपने स्वभाव का अनुसरण करते हैं।

चिरनिरूपणीयो हि व्यक्तिस्वभावः ।[4]

व्यक्ति का स्वभाव बहुत दिनों के बाद मालूम होता है।

स्वर्ग–

स्वर्गः सत्त्वगुणोदयः ।[5]

सात्त्विक गुणों का उदय ही स्वर्ग है।

श्रद्धया सत्येन मिथुनेन स्वर्गान् लोकान् जयति ।[6]

श्रद्धा एवं सत्य इन दोनों से मनुष्य स्वर्ग आदि लोकों को जीतता है।

यस्य सत्यं च शौचं च तस्य स्वर्गो न दुर्लभः ।[7]

जिसमें सच्चाई और शुचिता रहती है उसके लिये स्वर्ग दुर्लभ नहीं होता।

असमवायी वै स्वर्गो लोकः । कश्चिद्वै स्वर्गं लोके समेतीति ।[8]

स्वर्ग लोक में सामूहिक रूप से नहीं जाया जाता। वहाँ कोई व्यक्तिगत रूप से ही जाता है।

---

१ भाग० ११।१९।३७
२ पंच० १।२६०
३ वा० रा० कि० २५।५
४ पु० प० ४१वीं कथा
५ भाग० ११।१९।४२
६ ऐ० ब्रा० ३२।१०
७ वृ० नी० ६।३९
८ ऐ० ब्रा० ६।२६

स्वार्थ–

स्वार्थो हि बलवत्तरः ।[1]

स्वार्थ बडा ही बलवान होता है।

स्वार्थभ्रंशो हि मूर्खता ।[2]

स्वार्थ को सिद्ध न कर सकना मूर्खता है।

स्वार्थमुत्सृज्य यो दम्भी सत्यं ब्रूते स मन्दधीः ।[3]

जो व्यक्ति स्वार्थ को छोड़कर सत्य बोलने का दंभ करता है वह मन्दबुद्धि है।

स्वार्थी–

स्वार्थी दोषं न पश्यति ।[4]

स्वार्थी मनुष्य दोष को नही देखता है।

कार्यापेक्षा हि वर्तन्ते भावस्निग्धा. सुदुर्लभाः ।[5]

सब लोग कार्यवश स्नेह करते हैं पर स्वभावतः स्नेह करने वाले बहुत दुर्लभ होते हैं।

स्वाधीनता–

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम् ।[6]

पराधीनता दुःख है तथा स्वाधीनता सुख है।

---

१ शान्ति० १३८।४२
२ पंच० ३।३१२
३ पंच० ४।३८
४ पंचा० नी० ६।८
५ शान्ति०१११।८६
६ मनु०:४।१६०

न स्वातन्त्र्यसमं सौख्यम् ।[१]

स्वतन्त्रता के समान कुछ सुख नहीं है ।

स्वातन्त्र्यात् सुखमाप्नोति ।[२]

स्वतन्त्र होने से मनुष्य सुखी रहता है ।

एतावज्जन्मसाफल्यं यदनायत्तवृत्तिता ।[३]

जन्म की सफलता इतनी ही है कि मनुष्य पराधीन न रहे ।

स्वाध्याय—

अहरहः स्वाध्यायोऽध्येतव्यः ।[४]

प्रतिदिन स्वाध्याय करना चाहिए ।

नित्यं शास्त्राण्यवेक्षेत निगमांश्चैव वैदिकान् ।[५]

सभी जीवनोपयोगी शास्त्रों तथा वैदिक ग्रन्थों का नित्य अवलोकन करना चाहिए ।

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्यात् ।[६]

स्वाध्याय अर्थात् सद्ग्रन्थों के अध्ययन में बराबर लगे रहना चाहिए ।

श्रुतेन किं येन न धर्ममाचरेत् ।[७]

उस अध्ययन और ज्ञान से क्या लाभ यदि मनुष्य धर्म का आचरण न करे ।

---

१ पद्म० ४।८८।५०
२ अ० गी० १८।५०
३ हितो० २।२३
४ मनु० ४।१९
५ मनु० ३।७५
६ हितो० २।१०
७

स्वाध्यायैः शान्तिरुत्तमा ।[1]

स्वाध्याय करने से उत्तम शान्ति मिलती है।

कुलान्यकुलतां यान्ति स्वाध्यायस्य विवर्जनात् ।[2]

स्वाध्याय का परित्याग कर देने से उत्तम कुल भी नीच कुल हो जाते हैं।

अर्थलाभेऽपि महति स्वाध्यायं न परित्यजेत् ।[3]

बहुत बड़े अर्थलाभ के हो जाने पर भी स्वाध्याय नहीं छोड़ना चाहिए।

शुचि शीलनं हि सरस्वत्याः संवननमामनन्ति ।[4]

पवित्रता के साथ अनुशीलन एवं स्वाध्याय करना सरस्वती की उत्तम सेवा है।

स्वास्थ्य—

त्रय उपस्तम्भाः आहारः स्वप्नो ब्रह्मचर्यमिति ।[5]

आहार, निद्रा एवं ब्रह्मचर्य ये तीन मनुष्य के स्वास्थ्य के आधार-स्तम्भ हैं।

मितभोजनं स्वास्थ्यम् ।[6]

परिमित भोजन ही स्वास्थ्य है।

देखिये—आरोग्य

हस्त—

हस्तस्य भूषणं दानम् ।[7]

हाथ का भूषण दान है।

---

१ शान्ति० १९१।२
२ वि० ध० द्वि० ८६।९०
३ वि० ध० द्वि० ८९।९०
४ का० मी० अ० १०
५ च० सं० १।११।३३
६ चा० सू० ३।५१
७

अहो सिद्धार्थता तेषां येषां सन्तीह पाणयः ।[1]

जिन लोगों के हाथ हैं उनके सब काम सिद्ध हैं।

न पाणिलाभादधिको लाभः कश्चन विद्यते ।[2]

हाथ के मिलने से बढ़कर और कोई लाभ नहीं है।

पाणिवन्तो बलवन्तो धनवन्तो न संशयः ।[3]

जिन लोगों के हाथ हैं वे लोग ही बलवान् एवं धनवान् हैं इसमें कोई सन्देह नहीं।

दानेन पाणिर्न तु कङ्कणेन ।[4]

दान से हाथ सुशोभित होता है कंगन से नहीं।

हानि—

का हानिः ? समयच्युतिः ।[5]

हानि क्या है ? समय का चूक जाना ही हानि है।

हिंसा—

हिंसा बलमसाधूनाम् ।[6]

हिंसा दुर्जनों का बल है।

हिंसारतश्च यो नित्यं नेहासौ सुखमेधते ।[7]

जो व्यक्ति नित्य हिंसा में रत है वह सुखी नहीं रह सकता।

नाऽनतः कीर्तिरस्तीह न वित्तं न पुनः प्रजाः ।[8]

जो शत्रुओं की हिंसा नहीं करता वह न यश प्राप्त करता है न सम्पत्ति प्राप्त करता है और न प्रजाओं का पालन कर सकता है।

---

१ शान्ति० १८०।११
२ शान्ति० १८०।११
३ शान्ति० १८०।३४
४ चा० नी० १७।१२
५
६ उद्योग० ३४।७६
७ मनु० ४।१७०
८ शान्ति० १५।१५

हितैषी—

न हि प्रियं प्रवक्तुमिच्छन्ति मृषा हितैषिणः ।[1]

हितैषी व्यक्ति ऐसा प्रिय वचन नहीं बोलना चाहते जो झूठा हो।

हृदय—

न यस्य हृदयं शुद्धं ध्रुवं स नरकं व्रजेत् ।[2]

जिसका हृदय शुद्ध नहीं वह निश्चित ही नरक में जाता है।

तीर्थानां हृदयं तीर्थं शुचीनां हृदयं शुचि ।[3]

तीर्थों में सर्वश्रेष्ठ तीर्थ विशुद्ध हृदय है और पवित्र वस्तुओं में सबसे पवित्र वस्तु विशुद्ध हृदय है।

हेला—

हेला स्यात् कार्यनाशाय बुद्धिनाशाय निर्धनम् ।[4]

अवहेलना (उपेक्षा) काम को विगाड़ देती है और निर्धनता बुद्धि को नष्ट कर देती है।

---

१ किराता० १।२ ३

२ अनु० १२७।१८ ४ चा० श० ९९

सन्दर्भग्रन्थसूची

अ

अ०गी०	अष्टावक्रगीता (अष्टावक्रऋषि)
अ० पु० अग्नि०	अग्निपुराण
अथर्व०	अथर्ववेद
अनु०	अनुशासनपर्व (महाभारत)
अ०रा०	अध्यात्मरामायण
अ० शा०	अभिज्ञानशाकुन्तल (कालिदास)
अ०शा०प्र०	अभिज्ञानशाकुन्तल (प्रस्तावना)
अ० वि०	अविमारक (भास)
अ० र०	अष्टरत्नम्

आ

आदि०	आदिपर्व (महाभारत)
आर्या०	आर्यासप्तशती (गोवर्धनाचार्य)
आश्रम०	आश्रमपर्व (महाभारत)
आश्व०	आश्वमेधिकपर्व (महाभारत)
आ० स्मृ०	आङ्गिरसस्मृति (अङ्गिरा ऋषि)

ई

ई०	ईशोपनिषद्

उ

उद्योग०	उद्योगपर्व (महाभारत)
उ० रा० उत्तर०	उत्तररामचरित (भवभूति)

ऐ

ऐ० आ०	ऐतरेय आरण्यक
ऐ० उ०	ऐतरेय उपनिषद्
ऐ० ब्रा०	ऐतरेय ब्राह्मण
औ० स्मृ०	औशनस स्मृति (उशना ऋषि)

ऋ

ऋ०	ऋग्वेद

क

क०	कपिष्ठल कठसंहिता
कठ०	कठ उपनिषद्
क० र०	कथारत्नाकर (नरचन्द्रसूरि)
कर्ण०	कर्णपर्व (महाभारत)
क० स०	कथासरित्सागर (सोमदेव)
का० क०	कामकला
का० सं० / काठक०	काठकसंहिता
काद०	कादम्बरी (वाणभट्ट)
काद० प्र०	कादम्बरी (प्रस्तावना)
का० प्र०	काव्यप्रकाश (मम्मट)
का० मी०	काव्यमीमांसा (राजशेखर)
का० सं०	काश्यपसंहिता (काश्यप)
का० सू०	कामसूत्र (वात्स्यायन)
कि० / किराता०	किरातार्जुनीय (भारवि)
कुव०	कुवलयानन्द (अप्पय्यदीक्षित)
कु० सं०	कुमारसंभव (कालिदास)
कू०	कूर्मपुराण
के० उ०	केनोपनिषद्
कृ० पा०	कृषिपाराशर (पराशर ऋषि)
कौ० अ०	कौटलीय अर्थशास्त्र (चाणक्य)

ग

गरुड	गरुड पुराण
गु० र०	गुणरत्नम् (भवभूति)
गी० गीता०	भगवद्गीता
गो० उ० प्र०	गोपथ ब्राह्मण, उत्तरार्ध, प्रपाठक
गो० ब्रा०	गोपथ ब्राह्मण

च

च० सं०	चरकसंहिता (अग्निवेश)
च० सं० वि०	चरकसंहिता, विमान स्थान
चा० च०	चारुचर्या (क्षेमेन्द्र)
चा० नी०	चाणक्यनीति
चा०नी०शा०सं०	चाणक्यनीति-शास्त्रसंग्रह (स्टर्नवाख)
चा० श०	चाणक्यशतक (चाणक्य)
चा० सू०	चाणक्यसूत्र (चाणक्य)

छ

छा० उ०	छान्दोग्य उपनिषद्

ज

जै० उ०	जैमिनीय उपनिषद्
जै० उ० ब्रा०	जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण

ज्ञ

ज्ञा० सं० ज्ञा०सं०त०	ज्ञानसंकलिनी तन्त्र

त

त० वा०	तन्त्रवार्तिक (कुमारिलभट्ट)
त० सं०	तर्कसंग्रह (अन्नंभट्ट)
तै० उ०	तैत्तिरीय उपनिषद्
तै० ब्रा०	तैत्तिरीय ब्राह्मण
तै० सं०	तैत्तिरीय संहिता

द

दीप० दी०मा०	दीपमालिका (वासुदेव द्विवेदी शास्त्री)
दे० भा०	देवीभागवत
देव्य०	देव्यपराधक्षमापन स्तोत्र (शङ्कराचार्य)
द्रोण०	द्रोणपर्व (महाभारत)

न

ना० उ०	नारायण उपनिषद्
ना० भ०	नारदभक्तिसूत्र (नारद महर्षि)
नारद०	नारदीय महापुराण
ना० शा०	नाट्यशास्त्र (भरत मुनि)
नि० निरुक्त०	निरुक्त (यास्क)
नी० क०	नीतिकल्पतरु (क्षेमेन्द्र)
नी० शा०	नीतिशास्त्र (सी० शंकर राम शास्त्री)
नी० सा०	नीतिसार
नै० नै० च०	नैषधचरित (श्रीहर्ष)

प

प० क्रि०	पद्मपुराण, क्रियाखण्ड
पं० त० पञ्च०	पञ्चतन्त्र (विष्णुशर्मा)
पद्म० पु० उ०	पद्मपुराण, उत्तरखण्ड
प० पु० सृ०	पद्मपुराण, सृष्टिखण्ड
पा० रा०	पाञ्चरात्र (भास)
पा० यो०	पातञ्जल योगसूत्र (पतञ्जलि)
पा० शि०	पाणिनीयशिक्षा
पु० पु० प०	पुरुषपरीक्षा (विद्यापति)
पु० सु०	पुरुषार्थसुधानिधि (सायण)
प्र० उ०	प्रश्नोपनिषद्
प्र० च०	प्रबोध चन्द्रोदय (कृष्णमिश्र)
प्र० प०	प्रबन्ध पञ्चशती (शुभशीलगणि
प्रि० नृ०	प्रियंकर नृपकथा (जिनसूरि)

ब

बु० च०	बुद्धचरित (अश्वघोष)
ब्रह्म० पु०	ब्रह्मपुराण
ब्रह्म० वै०	ब्रह्मवैवर्तपुराण
	बोधसार (नरहरिपण्डित)

भ

भ० गी०	भगवद्गीता
भ०गो०	भजगोविन्दम् (शङ्कराचार्य)
भ० नी०	भर्तृहरिनीतिशतक (भर्तृहरि)
भ० वै०	भर्तृहरि वैराग्यशतक
भ० सु० सं०	भर्तृहरिसुभाषितसंग्रह (जिन विजय मुनि)
भा०पु० भाग०	भागवत पुराण
भामहा०	भामहालङ्कार सूत्र (भा० ह०
भा० मा०	भागवतपुराण माहात्म्य
भा० वि० प्रा०	भामिनीविलास, प्रास्ताविक (पण्डितराज जगन्नाथ)
भीष्म०	भीष्मपर्व
भो० प्र० भोज०	भोजप्रबन्ध (वल्लालपण्डित)

म

म० स्मृ० मनु०	मनुस्मृति (मनु)
म० पु०	मत्स्य पुराण
महाना० उ०	महानारायण उपनिषद्
महाप्रस्थान	महाप्रस्थानपर्व (म० भा०)
महो०	महोपनिषद्
मा० मा० आ० माल०	मालविकाग्निमित्र (कालिदास)
मा० मा०	मालतीमाधव (भवभूति)
मार्क०	मार्कण्डेय पुराण
मा० श०	माध्यन्दिनीयशतपथब्रा०
मी०श्लो०उपो०	मीमांसा श्लोकवार्तिक उपोद्घात (कुमारिलभट्ट)
मु० उ० मुण्डक	मुण्डक उपनिषद्
मुद्रा०	मुद्राराक्षस (विशाखदत्त)
मृच्छ०	मृच्छकटिक (शूद्रक)

म० भा० प०	महाभाष्य पस्पशाह्निक (पतञ्जलि)
मेघ०	मेघदूत (कालिदास)
मेघ०उ०	मेघदूत, उत्तरार्ध
मै०आ०	मैत्रायणी आरण्यक
मै० सं०	मैत्रायणी संहिता

य

यजु०	यजुर्वेद
याज्ञ०	याज्ञवल्क्य स्मृति
योवा० उ०	योगवाशिष्ठ, उत्पत्ति प्रकरण
योवा० उप०	,, उपशम प्रकरण
योवा० नि० उ०	,, निर्वाण प्रकरण, उत्तरार्ध
योवा० नि० पू०	,, निर्वाण, पूर्वार्ध
योवा० मु०	,, मुमुक्षुप्रकरण
योवा० वै०	,, वैराग्यप्रकरण
योवा० स्थि०	,, स्थितिप्रकरण

र

र० गं०	रसगंगाधर (पण्डितराज जगन्नाथ)
रघु० / र०वं०	रघुवंश (कालिदास)
र० ना०	
रत्ना०	रत्नावली (श्रीहर्ष)
रा० त०	राजतरङ्गिणी (जोनराजकृत)

व

वन०	वनपर्व (महाभारत)
व० ल०	वज्जालग्गम् (जयवल्लभ)
व० स्मृ०	वशिष्ठ स्मृति (वशिष्ठ ऋषि)
वा० नी०	वार्हस्पत्यनीतिशास्त्र (वृहस्पति)
वा० प०	वाक्यपदीय (भर्तृहरि)
वामन०	वामनपुराण
वा० रा०	वाल्मीकि रामायण

वि० वि० नी०	विदुरनीति (महाभारत, उद्योगपर्व)
वि० चू०	विवेकचूडामणि (शङ्कराचार्य)
विक्र०	विक्रमोर्वशीय (कालिदास)
विराट्०	विराट्पर्व (महाभारत)
वि० पु० विष्णु०	विष्णुपुराण
वि० सु०	विशाखा सुत्त (पाली ग्रन्थ)
विश्वा० स्मृ०	विश्वामित्र स्मृति (विश्वामित्र ऋषि)
वि० ध० पु०	विष्णुधर्मोत्तर पुराण
वृ० उ०	वृहदारण्यक उपनिषद्
वृ० ना०	वृहन्नारदीय पुराण
वृ० नी०	वृहस्पतिनीतिसार
वृ० उ० शां०	वृहदारण्यक उपनिषद्, शांकर भाष्य
वै० सु० सा०	वैद्यकीयसुभाषितसाहित्य (भा० गो० घाणेकर)
व्या०सु०सं०	व्याससुभाषितसंग्रह (स्टर्नबाख)
व्या० स्मृ०	व्यासस्मृति (व्यास)

श

शत० श०ब्रा०	शतपथ ब्राह्मण
शल्य०	शल्यपर्व (महाभारत)
शान्ति०	शान्तिपर्व (महाभारत)
शा० प्र० शार्ङ्ग०	शार्ङ्गधरपद्धति (शार्ङ्गधर)
शि० गी०	शिवगीता
शि० व०	शिशुपालवध (माघकवि)
शु० नी०	शुक्रनीति (शुक्राचार्य)
शृ० श०	शृङ्गारशतक (भर्तृहरि)
शौ० नी०	शौनकीय नीतिसार (शौनक ऋषि)
श्वेत०	श्वेताश्वतरोपनिषद्

स

स०प०मा० स०प्र०	समयोचितपद्यमालिका
सभा०	सभापर्व (महाभारत)
स० र० श०	सभारञ्जनशतकम्
सा० द०	साहित्यदर्पण (विश्वनाथ)
सा० सु०	सारस्वती सुषमा (सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालयपत्रिका)
सु० भा०	सुभाषितावलि (वल्लभदेव)
सु० र० भा०	सुभाषितरत्नभाण्डागार (नारायण राम आचार्य)
सु०सुधा० शु० सु०	सुभाषितसुधानिधि (सायण)
सो० नी०	सोमदेवनीतिवाक्यामृतम् (सोमदेव)
सौ० ल०	सौन्दर्यलहरी (शङ्कराचार्य)
सौप्तिक०	सौप्तिकपर्व (महाभारत)
स्कन्द० ना०	स्कन्दपुराण, नागर खण्ड
स्कन्द० महे०	,, महेश्वर खण्ड
स्कन्द का०	,, काशीखण्ड
स्कन्द० वै०	,, वैष्णवखण्ड
स्कन्द० ब्र०	,, ब्रह्मखण्ड
स्कन्द० अ०	,, अवन्तीखण्ड
स्कन्द कौ०	,, कौमारिकाखण्ड
स्त्री०	स्त्रीपर्व (महाभारत)
स्वप्न०	स्वप्नवासवदत्ता (भास)
स्वर्गा०	स्वर्गारोहण पर्व (महाभारत)

ह

हि० हितो०	हितोपदेश (नारायणपण्डित)
हि० प्र०	हितोपदेश, प्रस्तावना

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
६	८	हृयददाही	हृदयदाहौ
१२	१९	कुर्वीत	कुर्वीत
१३	१	बह्वन्नं	बह्वन्नं
४८	३	च हारसमं	चाहारसमं
६६	७	येभ्य	येभ्यः
८६	१	कुतघ्नस्य	कृतघ्नस्य
९३	४	विकृत	विष्कृत
१००	१६	गृहस्थस्त्वेप	गृहस्थस्त्वेष
१०१	७	गृहश्रमः	गृहाश्रमः
१२५	१	प्रत्यक्षयः	प्रत्ययः
१२७	११	नाभीत	नाभीतः
१३०	१४	सर्वं	सर्वं
१३३	१	धनाढ्यसु	धनाढ्येषु
१३५	७	द्वय	द्वयं
१४१	१८	ज्ञयो	ज्ञेयो
१४२	४	प्रतीक्ष्यताम्	प्रतीक्षताम्
१४८	८	विश्वस्थ	विश्वस्य
१५७	१०	धर्मस्तत	धर्मस्ततः
१६१	१२	सम्प्रहार्	सम्प्रहारः
१७६	९	तन्मात्र	धनं तन्मात्र
१८४	१७	वयस्थोऽपि	वयःस्थोऽपि

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
१९१	१६	पश्यतः	पश्यन्तः
१९७	४	जुगुप्स्यन्त्यपि	
२००	९	करः	कः
२०४	१०	योगात्	योगतः
२०७	१	पराभवाणां	पराभवानां
२२५	१	त्वद्यं	त्वधं
२२७	१४	धारयति	धारयामि
,,	,,	भविष्यामि	भविष्यति
२७१	७	विधानामेष	विधानानामेष
२७९	७	निर्हर्तुं	निर्हर्तुं
२९१	७	विषमुत्तम	विषमुत्तमम्
२९४	२	यतायोर्जितम्	प्रतापार्जितम्
३१३	१	चोपतत्येत	चोपतप्येत
,,	७	मनौ	मनो
३१५	११	इन्द्र इच्चरतः	इन्द्र इच्चरतः सखा
,,	१६	नानाश्राताय	नानाश्रान्ताय
३२०	१२	धमध्यमो	धममध्यमो
३२१	१३	स्त्रैण	स्त्रैणं
३६०	७	कुलम्	तत्कुलम्
३६२	१४	चिरत्रा	चरित्रा

टिप्पणी का शुद्धिपत्र

पृष्ठ	टिप्पणी	अशुद्धि	शुद्धि
८	१	उप०	योवा० उप०
१३	८	सु० र० भा०	सु० र० भा०
१४	८	सो० नी०	सो० नी०
१५	५	पु०	पु० प०
२१	५	स्कन्द० मा० कौ०	स्कन्द० कौ०
२५	६	चा० नी०	चा० नी०
४५	३	छूट	शान्ति० २७।३२
६३	१	वा० रा०	वा० रा० ६।१३८।१०४
७०	८	मनु०	मनु० २।२
७४	४	क्रा० स०	का० सू०
८५	३	शान्ति०	शान्ति० १०४।३३
९७	७	सु० र०	
९९	७	स० प०	स० प० मा० ग २३
१०६	४	१।४७।११	४७।११
१२६	६	छूट	शान्ति० २७।३२
१२८	४	उ० २०१।२६	क्रि० ४।२६
१३१	७	छूट	शान्ति० २७।३२
१३५	६	अ० शा०	अ० शा० २
१४८	४	वृ०	वृ० उ०
१५६	२	छूट	शान्ति०
१६०	३	क० स०	कु० सं०

पृष्ठ	टिप्पणी	अशुद्धि	शुद्धि
१६४	४	छूट	शान्ति० २७९।२६
१७९	६	चै० उ०	जै० उ०
२०२	८	पु० प०	पु० प० ३५ वीं कथा
२१७	५	क० र०	
२१८	५	छूट	योवा० उत्पत्ति
२२२	७	श० र० श०	स० र० श०
२२३	१	यो० वा०	
२२४	७	च० सं०	
२३०	१	पद्म०	
,,	,,	दे० भा०	दे० भा० ११।१८।३८
२५५	४	मे० घ०	मेघ०
२५६	६–९	६	८
		७	९
		८	६
		९	७
२८८	५	जा० नी०	चा० नी०

[illegible] विश्वविद्यालय
ग्रन्थालय
वर्गांक ... 227
दिनांक ...